असामान्य मनोविज्ञान

लेखक
श्री जगदानन्द पाण्डेय, एम० ए० (द्वय)
मनोविज्ञान-विभाग,
लंगटसिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर
(बिहार-विश्वविद्यालय)

प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना - ४

मूल्य ८)

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. मनोविज्ञान (द्वितीय संशोधित और परिवर्त्तित संस्करण)
२. मनोविज्ञान-परिचय (" " ")
३. मनोवैज्ञानिक प्रयोग-प्रवेशिका (" " ")
४. बाल-मनोविज्ञान
५. व्यक्तित्व
६. खेल
७. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (छप रहा है)
८. औद्योगिक मनोविज्ञान (छप रहा है)
९. समाज मनोविज्ञान (छप रहा है)

मुद्रक—अयोध्याप्रसाद झा, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना-४

प्राक्कथन

श्री जगदानन्द पाण्डेय-द्वारा लिखित 'असामान्य मनोविज्ञान' की भूमिका लिखते समय मैं खुशी का अनुभव कर रहा हूँ। इसके मुख्य दो कारण हैं जिनमें एक पुस्तक से सम्बन्धित है तथा दूसरा लेखक से। मनोविज्ञान जैसे विशिष्ट विषय पर हिन्दी मे पाठ्यपुस्तकों की अभी काफी कमी है और प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक ठोस कदम है। पाण्डेय जी का उत्साह और लगन प्रशंसनीय है जिन्होंने अपने अनवरत परिश्रम से हिन्दी में मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कलम चलायी है; अनेक पुस्तकें आई० ए० और बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए लिखी हैं जो काफी उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इसके लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

विषय की मौलिकता तथा प्रामाणिकता के दृष्टिकोण से हिन्दी में मनोविज्ञान की पुस्तकों के प्रकाशन में काफी समय लगेगा। इसके अभाव में पाण्डेय जी ने इस पुस्तक के आलोचनात्मक निरूपण में अपनी जिस मौलिकता का परिचय सरल एवं संयित भाषा के सबल आवरण में दिया है वह सर्वथा श्लाघ्य है। इस पुस्तक में तथ्यों के सामञ्जस्य के साथ-साथ विषय की सजीवता का निर्वाह काफी सुन्दर रूप में हुआ है। मेरी समझ से प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी मे अपने विषय की पहली सफल रचना है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की सच्ची साधना झाँकती है। संक्षेप में, विषय और उसके वैज्ञानिक निर्वाह दोनों ही दृष्टिकोणों से पाण्डेय जी की यह नवीनतम रचना मनोविज्ञान-साहित्य की एक बडे अभाव की पूर्ति करती है।

यह पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए काफी उपयोगी होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है, इससे मनोविज्ञान के विद्यार्थी और मनोविज्ञान-प्रेमी लाभान्वित होंगे।

विमलेश्वर दे
एम० ए० (पटना), पी० एच०-डी० (लंदन)
अध्यक्ष, मनोविज्ञान-विभाग,
बिहार-विश्वविद्यालय

लंगटसिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर
ता० २७-६-५६

लेखक की ओर से

आज से सात वर्ष पहले मनोविज्ञान पर मेरी पहली पुस्तक 'मनोविज्ञान' प्रकाशित हुई थी। विद्वानों और विद्यार्थियों दोनों ने उसे अपनाकर मुझे काफी प्रोत्साहित किया। उसी के फलस्वरूप इस बीच मेरी कई किताबें प्रकाश में आयीं और आज 'असामान्य मनोविज्ञान' मनोविज्ञान-प्रेमियों के हाथों मे देकर एक आत्मिक सुख और संतोष का अनुभव कर रहा हूँ, यह भी उनके प्रोत्साहन का ही फल है।

इस पुस्तक के तथ्यों मे मैं अपनी मौलिकता का दावा नहीं करता। हाँ, अपने अध्ययन और अध्यापन के क्रम में मैंने विषय को जिस रूप में समझा है उसे ही अपने शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मैं कितना सफल हो सका हूँ, इसके निर्णय के लिए पुस्तक आपके हाथ में है। भाषा को यथासाध्य सरल और सुगम बनाने की चेष्टा की गयी है। पारिभाषिक शब्दों की अँगरेजी भी साथ-साथ दे दी गयी है; और यह दो कारणों से। पहला तो यह कि हिन्दी-पारिभाषिक शब्दों का प्रामाणीकरण अभी नहीं हो पाया है। अतः किसी भी ऐसे शब्द को निश्चयात्मक रूप से शुद्ध या अशुद्ध कहना वैज्ञानिकता से दूर जाना होगा। दूसरा यह कि इससे विद्यार्थियों अथवा पाठकों को विशेष सुविधा होगी। इसी को ध्यान में रखकर कुछ अँगरेजी शब्दों को मैंने उसी रूप में हिन्दी में अपनाया है। कहीं-कहीं एक अँगरेजी-पद के लिए एक से अधिक हिन्दी शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है। यह सब जान-बूझकर विद्यार्थियों की दुरूहता को कम करने के लिए किया गया है। लिखते समय बी० ए० तथा उच्च वर्गों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखा गया है और इस बात की कोशिश की गयी है कि उनके लिए आवश्यक सामग्रियाँ समुचित रूप मे मिल सकें। अँगरेजी में अनेक पुस्तकें इस विषय पर उपलब्ध हैं; किन्तु एक तो उनकी कीमत भारत के गरीब विद्यार्थियों के लिए बहुत अधिक है और दूसरे उनमें किसी भी पुस्तक का सम्बन्ध हमारे यहाँ के विश्वविद्यालयों के निर्धारित पाठ्यक्रम से नहीं है। इस कमी को देखते हुए ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गयी है। यदि इससे मनोविज्ञान के विज्ञ पाठकों और विशेषकर विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

अँगरेजी के शब्दों के हिन्दी रूपान्तर में मुझे सदा ही अपने कॉलेज के सुयोग्य प्रिन्सिपल रहमान साहब की सहायता मिलती रही है। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक के समर्पण की स्वीकृति प्रदान कर तो उन्होंने सदा के लिए मुझे ऋणी बना लिया है।

मनोविज्ञान के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् तथा बिहार-विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान-विभाग के अध्यक्ष डॉ० विमलेश्वर दे, एम० ए० (पटना), पी-एच० डी० (लंदन) ने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर जो प्रोत्साहन प्रदान किया है उसके लिए मैं उनका अत्यधिक कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के प्रणयन में मुझे जिन मित्रों से सहायता मिली है उनमें प्रो० विश्वनाथ सिंह, एम० ए० (मनोविज्ञान-विभाग, लंगटसिंह कॉलेज) का नाम उल्लेखनीय है। पुस्तक का प्रारम्भ मेरे प्रिय शिष्य प्रो० काशीनाथ झा, एम० ए० (अध्यक्ष, मनोविज्ञान-विभाग, वीरगंज कॉलेज, नेपाल) तथा श्री राम सच्चिदानन्द शरण जैसे कर्मठ युवकों के त्याग और आदर्श पर हुआ है। इस क्रम में श्री कामेश्वर मिश्र की सहायता को भी भूला नहीं जा सकता। अपने सुयोग्य-छात्र श्री लाला इन्दुभूषण, बी० ए० (आनर्स—एम० ए० छात्र) के बारे में क्या लिखूँ। वस्तुतः इस पुस्तक का निर्माण तथा इस रूप में प्रकाशन उन्हीं की एकलव्य-निष्ठा, मौन तपस्या तथा निःस्वार्थ त्याग के फलस्वरूप संभव हो पाया है। भाषा को सरल और वैज्ञानिक बनाकर पुस्तक को समृद्ध बनाने का श्रेय श्री 'भूषण' को ही है।

अपने पितृतुल्य पूज्य बड़े भैया और मातृतुल्य भाभी की जिस स्नेहपूर्ण छत्रच्छाया में पारिवारिक झंझटों से दूर रहकर इस पुस्तक को तैयार करने का अवसर मिला है, उसके लिए मैं श्रद्धा के किन शब्दों को कहाँ से लाऊँ! पारिभाषिक शब्दों के चयन में भी मुझे बड़े भैया से सतत सहायता मिलती रही है।

अन्त में, ग्रन्थमाला-कार्यालय के योग्य एवं उत्साही संचालक, श्री देवकुमार मिश्र तथा व्यवस्थापक श्री अयोध्याप्रसाद झा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने बड़ी मुस्तैदी से इस पुस्तक के प्रकाशन-कार्य को सम्पन्न किया है।

प्रयास करने पर भी हिन्दी-पुस्तकों की सबसे बड़ी बीमारी मुद्रण-दोष को पूर्णतः नहीं हटाया जा सका है। पर अपने प्रिय पाठकों पर मुझे विश्वास है कि वे मेरी ओर से यह कार्य कर लेंगे।

मनोविज्ञान-विभाग
लंगटसिंह (युनिवर्सिटी) कॉलेज,
मुजफ्फरपुर
ता० २८-६-५६

जगदानन्द पाण्डेय

विषय-सूची

अँग्रेजी के असामान्य प्रतिभाशाली आचार्य

प्रिन्सिपल फ़ज़लुर्रहमान साहब,

बी० ए० (लंदन)

को

उनकी अशेष स्नेह-भावना के लिए

असामान्य मनोविज्ञान

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

असामान्य मनोविज्ञान क्या है ?

असामान्य मनोविज्ञान पर विचार करते समय स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठ खड़ा होता है कि असामान्यता (Abnormality) क्या है और मनोविज्ञान क्या है ? दूसरे प्रश्न का उत्तर तो सामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत दिया जा चुका है ; किन्तु असामान्यता के सम्बन्ध में युगों से विवाद चलता आ रहा है। पूर्व इसके कि इस विवाद पर विचार किया जाय एक वाक्य मे यह कह देना अच्छा होगा कि असामान्य मनोविज्ञान भी मनोविज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह एक विधायक या समर्थक विज्ञान (Positive Science) है जो जीव के असामान्य एव विचित्र व्यवहारों और अनुभूतियो का अध्ययन नियत्रित अवस्था मे करता है।

जहाँ तक असामान्य (Abnormal) पद के संक्षिप्त (Precised) और वैज्ञानिक अर्थ का प्रश्न है, विभिन्न विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। इसके लिए मुख्य रूप से दो कारण जिम्मेदार हैं। पहला तो यह कि असामान्य-मनोविज्ञान का क्षेत्र कुछ इतना विस्तृत हो गया है कि इसे इससे मिलते-जुलते कुछ अन्य क्षेत्रो से बिल्कुल अलग करना बहुत मुश्किल है। उदाहरणार्थ, मनोविकृति-विज्ञान (Psychopathology), मनोचिकित्सा-विज्ञान (Psychiatry), औपचारिक मनोविज्ञान (Clinical Psychology) आदि का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है; जिनसे असामान्य मनोविज्ञान की सीमा को पूर्णतः अलग करना अत्यंत ही कठिन है, यद्यपि सभी के अपने अलग-अलग लक्ष्य, आलोच्य-विषय तथा लक्ष्यपूर्ति की विधियाँ हैं। दूसरा कारण है, दृष्टिकोण का अन्तर। यदि एक ही वस्तु को विभिन्न दिशाओ से देखा जाय तो कुछ अन्तर स्वाभाविक है। अतः चन्द मुख्य दृष्टिकोणो पर विचार करना यहाँ आवश्यक सा हो जाता है।

प्राचीन काल के कुछ विद्वानो ने असामान्यता को आत्मगत (Subjective) दृष्टिकोण से निर्धारित किया है। इसके अनुसार यदि निर्णय-कर्त्ता के विचार और व्यवहार के अनुरूप किसी व्यक्ति-विशेष का विचार और व्यवहार हो तो वह सामान्य (Normal) व्यक्ति है ; लेकिन उसके

प्रतिकूल व्यवहार उसकी असामान्यता का परिचायक है। असामान्यता का यह मापदण्ड यद्यपि सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक मान्य रहा और इसके कारण कितने मेधावी विद्वानों को काल के गाल में जाना पड़ा; लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में यह कदापि मान्य नहीं है। सबसे बड़ा दोष इस मापदण्ड मे यह है कि यह पूर्णतः आत्मगत है। इसलिए इसमे पक्षपात, इच्छा आदि अंगो का प्रधान हाथ है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है जिसे निर्णायक नही चाहता तो उसके अनुसार वह व्यवहार असामान्य हो गया। इसलिए विभिन्न निर्णायकों के साथ-साथ उनके मापदण्ड मे भिन्नता का होना स्वाभाविक है। संभव है किसी व्यक्ति-विशेष के एक ही व्यवहार के सम्बन्ध में विभिन्न निर्णायकों के विभिन्न-निर्णय हों; अतः असामान्यता का यह आत्मगत (Subjective) दृष्टिकोण मान्य नहीं है।

असामान्यता का नैतिक (Ethical) दृष्टिकोण भी मान्य नहीं है; क्योंकि इसके अनुसार जो मनुष्य उचित-अनुचित का ध्यान रखकर व्यवहार करता है वह तो सामान्य है; लेकिन जिसे इसका विचार नहीं है वह असामान्य है। अतएव इस विचारधारा के अनुसार अनैतिक (Immoral) व्यवहार ही असामान्य है। लेकिन, जैसा कि विभिन्न विद्वानो के अन्वेषणों से स्पष्ट है, जो व्यवहार एक स्थान और समय के लिए उचित माना जाता है वही दूसरे स्थान और समय मे अनुचित माना जा सकता है। इसलिए नैतिकता के आधार पर असामान्यता को निर्धारित करना दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार असामान्यता का धार्मिक दृष्टिकोण भी दोषपूर्ण है; क्योंकि इसके अनुसार जिस व्यक्ति का व्यवहार किसी धर्मशास्त्र के अनुकूल हो तो वह सामान्य व्यक्ति है; लेकिन उस धर्म के प्रतिकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति असामान्य है। विभिन्न धर्मों मे कितनी विषमता है, यह पाठकों से छिपा हुआ नहीं है। इसलिए धार्मिकता के आधार पर असामान्यता को निर्धारित करना दोषरहित नहीं है।

समाजशास्त्रीय और सामाजिक (Social) आधार पर असामान्यता का निर्धारण भी कुछ विद्वानों ने किया है जिसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी मनुष्य का व्यवहार किसी संस्कृति (Culture) और सामाजिक रहन-सहन के अनुरूप है तो वह सामान्य व्यक्ति है और संस्कृति तथा समाज के प्रतिकूल व्यवहार उसकी असामान्यता का द्योतक है। लेकिन, असामान्यता के ये दोनों मापदण्ड अमान्य हैं; क्योंकि जैसा कि हमलोग जानते हैं, किसी व्यक्ति का व्यवहार-विशेष एक संस्कृति और समाज के अनुरूप होता है

लेकिन उसका वही व्यवहार दूसरी संस्कृति और समाज के प्रतिकूल भी हो सकता है। इसलिए एक ही व्यवहार एक समाज और सस्कृति में सामान्य और दूसरे समाज और संस्कृति में असामान्य घोषित किया जा सकता है। अतएव असामान्यता के ये मापदण्ड भी मान्य नहीं हैं।

दैहिक आधार (Physiological basis) पर असामान्यता को जिन दैहिकविज्ञान-वेत्ताओं (Physiologists) ने निर्धारित किया है उनके विचार से भी हम सहमत नहीं हैं। इसके अनुसार जो सामान्य लम्बाई से अधिक लम्बा या नाटा है वह असामान्य है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शरीर का लम्बा या छोटा होना कई अंगो पर निर्भर करता है और उसकी प्रतिक्रियाएँ उसकी शारीरिक रचना पर ही निर्भर नही करतीं, बल्कि अन्य लोगो की प्रतिक्रियाओ पर भी निर्भर करती हैं। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि सामान्य कद का आदमी असामान्य व्यवहार करता है और बहुत लम्बा या नाटा व्यक्ति पूर्णतः सामान्य व्यवहार करता है। अतः किसी स्थल-विशेष पर यह दृष्टिकोण भले ही चरितार्थ हो ; लेकिन सभी स्थलों के लिए यह कदापि मान्य नहीं है।

वैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार जो मनुष्य ऐसा व्यवहार करता है जो उसके या उसके समाज के लिए घातक है और जिसके लिए उसका उत्तर-दायित्व नहीं है तो वह मनुष्य असामान्य है। लेकिन, यह वैधानिक दृष्टिकोण संकीर्ण होने के कारण व्यापक नही है, अतः अमान्य है। प्रायः बहुत-से ऐसे व्यवहार व्यक्तियों में देखे जाते हैं जो वैधानिक दृष्टिकोण से असामान्य नहीं कहे जा सकते, तथापि वे उनकी असामान्यता के ही द्योतक होते हैं।

हम सांख्यिक (Statistical) दृष्टिकोण की भी उपेक्षा यहाँ नहीं कर सकते। इसके अनुसार जो व्यक्ति अपने समूह के अन्य व्यक्तियों के किसी शील-गुण के मध्यमान (Mean) से कम या अधिक है वह असामान्य है और जो मध्यमान के समान है, वह सामान्य है। इसके अनुसार सभी शील-गुणों की माप संख्यात्मक हो सकती है। लेकिन असामान्यता का यह दृष्टिकोण भी सर्वाङ्गसुन्दर न होने के कारण मान्य नहीं है; क्योंकि एक ही व्यक्ति एक शील-गुण मे अपने समूह के मध्यमान के बराबर और दूसरे में उससे कम या अधिक हो सकता है ; जैसा कि अनेक अन्वेषणों से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के सभी महत्त्वपूर्ण या आवश्यक गुणों को सामान्य-विभाजन वक्र (Normal distribution Curve) द्वारा

उपस्थित नहीं किया जा सकता। फलतः वैसी दशा में प्राप्त मध्यमान (Mean) सामान्यता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। साथ ही पारस्परिक आय, बीमारी आदि के विभाजन लगातार (Continuous) नहीं होते। अतः सामान्य विभाजन वक्र नहीं बन सकता। यह दृष्टिकोण बौद्धिक योग्यता की असामान्यताओं को निर्धारित करने में समर्थ हो सका है; लेकिन इसके आधार पर अन्य प्रकार की असामान्यताओं को निश्चित करना सम्भव नहीं है। अतएव असामान्यता का सांख्यिक आधार भी संतोषप्रद नहीं होने के कारण मान्य नहीं है।

औपचारिक (Pathological) दृष्टिकोण से जो व्यक्ति मनोवैज्ञानिक व्याधियों से ग्रस्त होने के कारण इस प्रकार अपने समाज में प्रभावहीन है कि उसे कोई समाज का समर्थशील व्यक्ति मानने को तैयार नहीं है तो उसे असामान्य व्यक्ति कहेंगे। लेकिन यह भी कई कारणों से मान्य नहीं है। अतएव हमारे दृष्टिकोण में जब कोई व्यक्ति अपने समाज में मनोवैज्ञानिक कारण से अभियोजित करने में असफल होता है या कठिनाई का अनुभव करता है तो उसे असामान्य व्यक्ति कहते हैं। प्रायः असामान्यता का यही दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक और मान्य है। इसके अनुसार असंतुलन या विकृत-अभियोजन (Maladjustment) ही असामान्यता का द्योतक है। असामान्यता का यह आधार सामान्यता और असामान्यता के सापेक्ष स्वरूप (Relative nature) पर भी प्रकाश डालता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि असंतुलन ही असामान्यता है।

असामान्य मनोविज्ञान का आलोच्य-विषय
(Subject-matter)

असामान्य मनोविज्ञान के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए इसके आलोच्य विषय का फिर से उल्लेख कर देना आवश्यक है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह असामान्य अनुभूति और व्यवहार का अध्ययन करता है। लेकिन, यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कैसे-कैसे व्यक्ति असामान्य की कोटि में आते हैं? या इसे हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि किन-किन व्यक्तियों की अनुभूतियां और व्यवहारों का अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान करता है?

सर्वप्रथम, उन्मादी (Insane) या मनोविकृतियों से ग्रस्त (Psychotics) व्यक्ति इसके आलोच्य विषय हैं जो अपने को

अभियोजित करने में पूर्णतः असमर्थ रहते हैं। इनको अपनी समस्याओं का कुछ ज्ञान नहीं रहता; इसलिए ये लोग अपना जीवन-यापन करने में भी समर्थ नहीं होते हैं।

. मनोस्नायु-विकृतियों (Psychoneuroses) से ग्रस्त व्यक्तियों के व्यवहार और अनुभूतियाँ भी इसके आलोच्य-विषय के अन्तर्गत हैं। यों तो ऐसे व्यक्ति अपनी असामान्यताओं को समझते हैं और अपना जीवन-यापन भी करते हैं; किंतु उनकी जीवन-शैली सामान्य व्यक्तियों के समान संतुलित नहीं होती।

शारीरिक व्याधि अथवा अनुपयुक्तता के कारण मनोवैज्ञानिक उपद्रवों (Psychological Disturbances) से युक्त व्यक्ति भी इसके अध्ययन-विषय हैं। ऐसे व्यक्तियों को उन्मादी या विचित्र नहीं समझा जाता; लेकिन इनकी परिगणना असामान्य की ही कोटि में होती है।

कुछ व्यक्ति ऐसे देखने में आते हैं जिन्हें किसी प्रकार के व्यवहार में किसी तरह के व्यतिक्रम का न तो ज्ञान ही रहता है और न वे वैसा प्रदर्शित ही करते हैं; तथापि वे अपने मार्गोपदेशन (Guidance) के लिए दूसरों के यहाँ यह कहते हुए जाते हैं कि उनकी प्रतिक्रियाएँ असंतोषप्रद हैं। ऐसे लोग हीन-भाव (Inferiority feeling), ईर्ष्या (Jealousy) सन्देह (Suspicion), अवसाद (Depression) आदि की निरंतर शिकायत करते हैं। अतएव ऐसे लोगों को भी असामान्य कहा जाता है और ये असामान्य मनोविज्ञान के आलोच्य-विषय के अन्तर्गत आते हैं।

कुछ व्यक्ति शरीर और मन से स्वस्थ रहते हैं; लेकिन उनके व्यवहार से समाज के लोग तंग रहते हैं। ऐसे लोगों के अन्तर्गत अपराधी, मनोरोगी (Psychopathic Personality), लैंगिक विकृत (Sexually perverted), मद्यप (Alcoholic) आदि आते हैं और इनका व्यवहार भी असामान्य मनोविज्ञान का आलोच्य-विषय है।

कुछ व्यक्ति बुद्धि की कमी के कारण अनुभव या प्रशिक्षण (Training) से लाभान्वित नहीं होते और अपनी रक्षा स्वयं करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार भी इसका आलोच्य-विषय है। ऐसे लोगों को 'मानसिक दुर्बल' कहते हैं। असामान्यता के घेरे में कुछ ऐसे व्यक्ति भी आते हैं जिनकी बुद्धि औसत से बहुत अधिक रहती है, सामाजिक मान्यता और ख्याति भी इन्हें प्राप्त रहती है फिर भी वे अपने को सामान्य रूप से

वातावरण में अभियोजित नहीं कर पाते। चाँद पर पागलों की तरह मुस्कुराते कलाकार और अंधकार में एकाकी चिन्तन करते दार्शनिक इसके उदाहरण हैं। इन्हें प्रतिभाशाली (Genius) कहते हैं। इस प्रकार, उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों की परिगणना असामान्य की कोटि मे होती है और उन्हीं की अनुभूति और व्यवहार असामान्य मनोविज्ञान का आलोच्च-विषय है।

विषय-विस्तार (Scope)

असामान्य मनोविज्ञान जिन-जिन विषयो का अध्ययन करता है या जिन-जिन विषयों पर प्रकाश डालता है उन्हीं को हम इसके विपय-विस्तार के अन्तर्गत रखते हैं। हम जानते हैं कि असामान्य मनोविज्ञान असामान्य अनुभूतियो और व्यवहार को समझ- कर उनका वर्णन उनके नियत्रण एव मार्गोपदेशन के लिए करता है। इसका एकमात्र ध्येय असामान्यता के कारणों को जानकर उनका निराकरण करना और मनुष्यों को अभि-योजनशील बनाना है। अतएव यह अचेतन मन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है। अचेतन मन क्या है, इसकी कार्यवाहियाँ क्योंकर होती हैं तथा इनका असर व्यक्तित्व पर क्या पड़ता है, आदि विपयों का अध्ययन यह मनोविज्ञान करता है। यही कारण है कि मनो-रचनाओं (Mental Mechanisms) का अध्ययन यह सविस्तर करता है। अचेतन मन की क्रियाओं के फलस्वरूप दैनिक-मनोविकृतियो (Psych-opathology of everyday life) और स्वप्नों का भी आविर्भाव होता है, इसलिए ये भी इसके विषय-विस्तार के अन्तर्गत आते हैं। मनोस्नायु-विकृति (Psychoneurosis) और मनोविकृतियों (Psychoses) के विभिन्न पहलुओं का भी अध्ययन यह मनोविज्ञान करता है। सम्मोहनावस्था (Hypnotic state) की भी यह उपेक्षा नहीं करता, इसलिए यह इसके विषय-विस्तार के अन्तर्गत आता है। लैंगिक विकृति (Sexual Perver-sion), अपराध Crime , मद्यपान (Alchoholism) आदि व्यापार असामान्यता के द्योतक हैं; इसलिए इनका अध्ययन भी यह मनोविज्ञान करता है। असामान्यताओं को दूर करने के लिए यह कुछ मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-विधियो पर प्रकाश डालता है; इसलिए मनोचिकित्सा (Psy-chotherapy) की परिगणना भी इसके विषय-विस्तार के अन्तर्गत होती है। इतना ही नहीं, विभिन्न असामान्यताओं को रोकने के लिए मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान (Mental Hygiene) का ज्ञान भी

अपेक्षित है। इसलिए यह मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के मूल सिद्धान्तो का उल्लेख संक्षिप्ततः करता है। मनुष्य अपने मानसिक सघर्षों और अतृप्त इच्छाओं की अभिव्यक्ति कला, साहित्य तथा धार्मिक प्रवृत्तियो द्वारा करता है; इसलिए असामान्य मनोविज्ञान इन सबका भी वर्णन करता है। अभिप्राय यह कि अचेतन मन के विभिन्न पहलुओ की कार्यवाहियों तथा उनको नियत्रित एवं निराकरण करने की विधियो और सिद्धान्तों को असामान्य मनोविज्ञान अपने विषय-विस्तार के अन्तर्गत रखता है।

पद्धतियाँ (Methods)

असामान्य मनोविज्ञान अपने आलोच्य-विषय की जानकारी और अध्ययन के लिए विभिन्न पद्धतियो का व्यवहार करता है। इसलिए यहाँ हम उन पद्धतियों का संक्षिप्ततः उल्लेख करेंगे।

निरीक्षण (Observation) :—जिस प्रकार अन्य विज्ञान वर्णन (Description), वर्गीकरण (Classification) तथा व्याख्याओ आदि पर आधारित हैं उसी प्रकार असामान्य मनोविज्ञान भी उन्हीं पर आधारित है। अतएव यह विभिन्न प्रकार की असामान्यताओ के वर्गीकरण के लिए निरीक्षण-पद्धति का आश्रय लेता है। जब किसी व्यक्ति के व्यवहार को हमलोग तत्काल समझने में असमर्थ होते हैं तब उसके व्यवहार का बहुत ही सावधानी और सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करते हैं। अपने निरीक्षण के द्वारा उन अवस्थाओं या अगों को जानने की कोशिश करते हैं, जिनमे कि वह इस प्रकार के विचित्र व्यवहार का प्रदर्शन करता है। साथ ही हम उसके ऐसे व्यवहार की विभिन्न विशेषताओं को भी निरीक्षण के द्वारा जानने का प्रयास करते हैं और यह देखने की कोशिश करते हैं कि उसके और उसीके समान अन्य व्यक्ति के व्यवहार में कौन-कौन सी समानताएँ हैं। समानताओं के आधार पर वर्गीकरण करने के पश्चात उन व्यवहार-विशेषों की व्याख्या करते हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक भाषा में सिद्धान्त (Principles) या नियम (Rules) भी कहते हैं। इन्ही सिद्धान्तों या नियमो के आधार पर हमे व्यक्ति-विशेष के असामान्य या विचित्र व्यवहार का ज्ञान होता है। निरीक्षण के आधार पर असामान्य व्यवहार की जो व्याख्या की जाती है, कभी-कभी वह इतनी पूर्ण होती है कि उसको पुनः व्याख्या का रूप देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन, जब कभी उसमें अपूर्णता रह जाती है तो अनुमान आदि

के आश्रय लेने की जरूरत पड़ती है और तब हम असामान्य व्यवहार को समझने में समर्थ होते हैं। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जिस व्यवहार को हम समझते नही, उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर देने के लिए यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि असामान्य मनोवैज्ञानिक की मनोवृत्ति पूर्णतः विधेयात्मक (Objective) होती है। इसलिए वह सभी प्रकार की पूर्व धारणाओ (Prejudices) और पूर्व विचारो (Preconceptions) से रहित होकर जो वस्तुतः देखता है उसी को सरल से सरल ढग से व्यक्त करता है। दूसरी आपत्ति इस पद्धति के प्रति यह उठायी जा सकती है कि एक ही व्यवहार का विभिन्न मनोवैज्ञानिक अपने-अपने दृष्टिकोण से निरीक्षण कर सकते हैं और उसकी सूचना भी अपनी अभिरुचि (Interest), विश्वास (Belief) आदि के आधारों पर विभिन्न प्रकार की दे सकते हैं। इसलिए यह विधि समुचित नही है। लेकिन, इस स्थल पर भी यह स्मरणीय है कि वैज्ञानिक का निरीक्षण या सूचना चयनात्मक (Selective) नहीं होती; क्योंकि वह किसी व्यवहार या वस्तु का अवलोकन सभी सभव पहलुओं से करता है। इसके अतिरिक्त भी इस दोष से वंचित होने के लिए असामान्य मनोवैज्ञानिक एक ही व्यवहार का उसी परिस्थिति मे बार-बार निरीक्षण कर अपने निरीक्षण को समृद्ध बनाते हैं। इतना ही नही, विभिन्न निरीक्षकों की सूचनाओ की तुलना द्वारा ही तो किसी असामान्य व्यवहार-विशेष के सम्बन्ध मे निष्कर्ष दिया जाता है। इस विधि से किसी असामान्य व्यवहार और अन्य व्यवहार-विशेषो मे क्या सम्बन्ध है, इसका भी ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुतः वर्गीकरण, वर्णन तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए यह पद्धति असामान्य मनोविज्ञान मे अत्यधिक महत्त्व की है।

मनोविश्लेषण-पद्धति (PsYchoanalytic Metheod) :—किसी मनुष्य की असामान्यताओं की पूर्ण जानकारी के लिए मनोविश्लेषण-पद्धति का भी आश्रय लिया जाता है। यों तो इस पद्धति के कई पहलू हैं; लेकिन साधारणतः असामान्य व्यक्ति से पूर्ण परिचय प्राप्त कर और उसका विश्वासपात्र बनकर मनोविश्लेषक उसे अपनी सभी बातो को व्यक्त करने का आदेश देता है। उसके आदेशमात्र से वह अपनी सभी बातो को कहना प्रारंभ करता है। यद्यपि इस विधि मे अधिक समय लगता है; लेकिन रोगी की सूचनाएँ उसकी असामान्यताओ को जानने के लिए बहुत ही लाभप्रद होती हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि असामान्य व्यक्ति अपनी बातो को व्यक्त करने मे जिन शब्दों और वाक्यो का प्रयोग करते हैं वे अपने ही दृष्टिकोण से करते हैं और उनके अपने सकेत एव अर्थ होते हैं। यों तो उनकी

बार बार की सूचनाओ में समरसता रहती है ; लेकिन उनकी सूचनाएँ कभी कभी अत्यधिक अतिरंजित रहती है। इसलिए मनोविश्लेषक को इन बातों को ध्यान मे रखकर विभिन्न प्रश्नो द्वारा आवश्यक सूचनाओं को प्राप्त करना आवश्यक है। अतिरिक्त इसके, इस पद्धति का व्यवहार करने के लिए मनोविश्लेषक का प्रशिक्षण अनिवार्य है ; क्योकि जैसा हम मनो-चिकित्सा (Psychotherapy) के अध्याय मे देखेगे, इसका व्यवहार करना सभी व्यक्तियो के लिए संभव नहीं है। इसका हम यहाँ अधिक उल्लेख नहीं करेगे ; क्योकि इसके सम्बन्ध मे स्थल-विशेष पर पर्याप्त प्रकाश डाला जायेगा। फिर भी इतना कहना हम आवश्यक समझते हैं कि इस पद्धति ने असामान्य मनोविज्ञान मे क्रांति मचा दी है और आज के असामान्य मनोवैज्ञानिक इससे अत्यधिक लाभान्वित हो रहे हैं। इसके अभाव में इस मनोविज्ञान का कुछ और ही रूप होता। स्वप्न-विश्लेषण (Dream Analysis) तथा स्वतत्र साहचर्य (Free Association) की परिगणना भी इसी पद्धति के अन्तर्गत होती है। इसलिए इनका अलग उल्लेख न करके हम यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि स्वप्न-विश्लेषण तथा स्वतत्र साहचर्य पद्धतियाँ भी असामान्यताओ के कारणों और उनके स्वरूप को जानने के लिए काम मे लायी जाती हैं।

व्यक्ति इतिहास-पद्धति (Case-history Methcd) :—किसी असामान्य व्यक्ति की असामान्यता की समुचित जानकारी के लिए असामान्य मनोवैज्ञानिक व्यक्ति-इतिहास-पद्धति का भी आश्रय लेता है। इस पद्धति के अनुसार वह असामान्य व्यक्ति के मित्र, माता-पिता, अभिभावक तथा अन्य परिचित और सम्बन्धित व्यक्तियो से पूछताछ कर उसकी असामान्यता के सम्बन्ध मे सूचाना तैयार करता है। लेकिन, इस विधि से जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं उनके आधार पर किसी प्रकार का निर्णय देने मे अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है; क्योंकि यह विभिन्न प्रयोगो द्वारा स्पष्ट हो चुका है कि विभिन्न व्यक्तियो की सूचनाओं मे अत्यधिक भिन्नता रहती है। इस भिन्नता का मुख्य कारण यह है कि जिन लोगों से असासान्य व्यक्ति-विशेप के सम्बन्ध मे सूचनाएँ एकत्रित की जाती हैं वे निरीक्षण के सूक्ष्म कार्य मे प्रशिक्षित नहीं रहते। अतएव उनकी सूचनाओं मे तरह-तरह के दोषो का रहना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, सूचित करनेवाले कई कारणों से उस व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में बहुत सी बाते, जिन्हें कि वे अच्छी तरह जानते रहते हैं, गुप्त ही रखते हैं। इसलिए इस पद्धति का व्यवहार करने और इससे समुचित लाभ

उठाने के लिए व्यक्ति-इतिहास के व्यवहार करनेवाले को बहुत सावधानी की आवश्यकता है, तभी यह पद्धति लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। ऐसे व्यक्ति को इस पद्धति का व्यवहार करने के लिए प्रशिक्षित होना भी अनिवार्य है, अन्यथा वह अपने प्रयत्न मे सफल नहीं हो सकता।

इन उपर्युक्त पद्धतियो के अतिरिक्त असामान्य व्यक्ति की असामान्यता के प्रकार और मात्रा की जानकारी के लिए असामान्य मनोवैज्ञानिक ऐसे परीक्षणों (Tests), मूल्याङ्कन (Rating), प्रक्षेपण-कौशल्य (Projective techniques) तथा प्रयोगों का भी आश्रय लेते हैं जो विभिन्न व्यक्तियो पर प्रमाणिकृत (Standardized) हो चुके हैं। इतना ही नही, बल्कि आज का असामान्य मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन की प्रतिपन्नता (Accuracy) और विश्वसनीयता (Reliability) की परीक्षा के लिए सांख्यिक-पद्धति (Statistical method) का भी व्यवहार करता है ; लेकिन हम इन पद्धतियों पर विशेष रूप से यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक नहीं समझते। इनकी विशेष जानकारी के लिए पाठक स्वय इन पद्धतियों का अध्ययन कर सकते हैं।

असामान्य मनोविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास

हम असामान्य मनोविज्ञान के आवश्यक पहलुओं का उल्लेख, जो कि प्रारंभिक ज्ञान के लिए आवश्यक हैं, कर चुके हैं। इसलिए अब इस स्थल पर इसके आविर्भाव, विकास और वर्त्तमान स्थिति पर प्रकाश डालकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे। बहुत-से विद्वान इसे आधुनिक युग की देन कहते हैं ; पर इसके आविर्भाव पर विचार करने से वस्तुतः ऐसी बात नहीं जँचती। इसका आविर्भाव आज से हजारों वर्ष पहले हुआ। उस समय यह आज की तरह अपनी उन्नति की चरम सीमा पर नही था। जब हम इसके प्रारभ के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि जिस समय सभी राष्ट्र अपनी आदिम अवस्था में थे उस समय इसका आविर्भाव यूनान मे, जो उस समय अपनी सभ्यता के विकास के लिए प्रख्यात था, हो चुका था। इसके पहले असामान्य व्यवहार तथा मानसिक व्याधियों के कारण भाग्य, जादू, टोना, दैवी शक्ति, शैतान आदि को माना जाता था और ऐसे असामान्य व्यक्तियों के साथ समाज का व्यवहार अत्यधिक घृणित और कठोर होता था। उपचार भी संगीत वा झाड़-फूँक द्वारा ही होता था। लेकिन, सर्व-

प्रथम यूनानी दार्शनिक अल्कमेयन (Alcmaeon सन् ५५०—५०० ई० पू०) ने मस्तिष्क के व्यक्तिक्रम को मानसिक बीमारियो का कारण व्यक्त करते हुए मानवीय तरीकों से इनके उपचार पर जोर दिया। इम्पीडोकिल्स (Empedocles सन् ४६०—४३० ई० पू०) ने धातु (Humors) को इन व्याधियों का कारण उद्घोषित किया जो मध्ययुग तक मान्य रहा। हिपोक्रेट्स (Hippocrates सन् ४६०—३७० ई० पू०) ने मानसिक व्याधियो के कारण को धातु को ही व्यक्त किया और इनको विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया। यद्यपि उपचार के लिए उसने किसी नये तरीके को नही अपनाकर पुराने तरीकों को ही आश्रय दिया; लेकिन उसका महत्त्व असामान्य मनोविज्ञान के लिए इतना अधिक है कि हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उसने इन व्याधियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया तथा झाड़-फूँक द्वारा अच्छा करने के तरीके को खण्डित करके इनके अध्ययन को वैज्ञानिक रूप दिया। अब इन व्याधियो को अच्छा करने का काम पुरोहितो और पादरियों का न रहकर वैज्ञानिको का हो गया। जिस प्रकार वह अपने समय का महान वैज्ञानिक चिकित्सक था उसी प्रकार उसका कार्य भी असामान्य मनोविज्ञान के लिए महान प्रमाणित हुआ। उसके बाद पुनः एक बार मानसिक व्याधियाँ यूनान के दार्शनिकों के चिंतन का विषय बनीं! अफलातून (Plato) ने हिस्टिरिया को औरतों की व्याधि बतलाया और उसके शारीरिक कारण पर भी प्रकाश डाला। उसने व्याधि-ग्रस्तो की रक्षा और भलाई के लिए सुन्दरतम तरीकों को अपनाने को कहा। अरस्तू (Aristotle), स्टोइक्स (Stoics), इपीक्यूरीयन्स (Epicureans) आदि दार्शनिकों ने इन व्याधियों के सम्बन्ध में अपने दार्शनिक विचार व्यक्त किये।

रोम मे प्रथम शताब्दी (ई० पू०) में एस्क्लीपियेड्स (Asclepiades) ने, जो अपने समय का धुरंधर विद्वान तथा चिकित्सक था, संवेगो के उपद्रव (Disturbances of Emotions) को मानसिक व्याधियो का कारण उद्घोषित किया और चिकित्सा के लिए रोगियो के शारीरिक एवं मानसिक आराम पर विशेष रूप से जोर दिया। उसने उनको आराम देने के विभिन्न तरीके भी बतलाये। उसने रोगियो को जंजीर में रखने या गन्दे स्थानो मे रखने की कड़ी निन्दा की और उनको स्वच्छ वातावरण में रखने पर जोर दिया। यद्यपि उसका शिष्य सेल्सस (Celsus) भी रोगियो को अच्छा करने के लिए शारीरिक और मानसिक कष्ट देने के ही पक्ष का पृष्ठपोषक था; लेकिन सोरेनस (Soranus सन् ९८-१३८ ई०) ने एस्क्लीपियेड्स

की ही चिकित्सा-विधि को पुष्ट किया। उसने भी रोगियों के साथ दुर्व्यवहार करने की कड़ी आलोचना की और चिकित्सा की उत्तम विधियों को अपनाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। इसके बाद गेलेन (Galen) का, जो अपने समय का बहुमुखी प्रतिभाशील व्यक्ति और रोम का सबसे बड़ा चिकित्सक था, नाम प्रख्यात है। उसने औषधि-विज्ञान पर काफी काम किया; लेकिन उसने कोई नई चीज नहीं दी; क्योंकि उसने अपना कार्य हीपोक्रेटस के बताये हुए मार्ग पर ही किया और उसी का मण्डन भी किया। लेकिन, खेद का विषय है कि रोमन-साम्राज्य के पतन के साथ-ही-साथ मानसिक व्याधियों के प्रति लोगों का जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण बन चुका था उसका भी पतन हो गया और पुनः यह पुरोहितों और धार्मिक व्यक्तियों के अध्ययन का विषय बन गया। फिर वही दैवी अथवा शैतानी कारणों को प्रश्रय मिलने लगा और चिकित्सा की विधि भी झाड़-फूँक, जन्तर-मन्तर रह गयी। एक बार फिर रोगियों के साथ दुर्व्यवहार करने की प्रणाली प्रबल हुई; किन्तु वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सकी। पश्चिमी देशों में मानसिक व्याधियों के प्रति यह दृष्टिकोण था; लेकिन पूर्वी देशों में (अरब, फारस आदि) गेलेन के ही बताये हुए रास्ते पर काम हो रहा था। यही कारण है कि उस समय मानसिक बीमारियों के अध्ययन और उपचार के लिए कितने अस्पताल, पुस्तकालय तथा संस्थाओं की स्थापना हुई।

पश्चिमी देशों में भी, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, असामान्य व्यक्तियों के प्रति पुरोहितों और पादरियों का धार्मिक दृष्टिकोण अधिक दिनों तक नहीं टिक सका; क्योंकि पुनर्जागरण (Renaissance) के कारण मानसोपचार-विज्ञान (Psychiatry) में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। अब मनोविज्ञान अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम करने के लिए प्रयत्न करने लगा और क्रमशः विद्वानों ने अन्य प्राकृतिक दृश्यों की तरह मनुष्य का अध्ययन करना भी प्रारम्भ किया। 'मानव मन' का अध्ययन करनेवालों में उस समय स्पेन का दार्शनिक जुआन लुईस वाइव्ज (Juan Luis Vives) अत्यधिक प्रख्यात था; जिसे आज भी लोग बीसवीं सदी के गत्यात्मक मनोविज्ञान (Dynamic Psychology) का अग्रणी और जन्मदाता कहने में अपने को गौरवान्वित समझते हैं। मनोवैज्ञानिक इतिहास वेत्ता जिलबुर्ग (Zilboorg) ने उसे साहचर्य (Association) तथा अचेतन (Unconscious) का अन्वेषक बताया है। उसके द्वारा संवेगों का विशद वर्णन उसकी विद्वत्ता और व्यावहारिक ज्ञान का परिचायक है। वाइव्ज का समकालीन चिकित्सक पैरासेल्सस (Paracelsus सन् १४९३ से १५४१ ई० तक) ने मानसिक

असामान्यताओ के मानसिक कारण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और पूर्व विचारों का खण्डन किया। उसने आगे चलकर शारीरिक चुम्बकत्व (Body Magnetism) के सिद्धान्त को भी प्रतिपादित किया और इस प्रकार मेस्मरिज्म तथा सम्मोहन के सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे उससे बहुत ही अधिक प्रेरणा मिली। इसी प्रकार जोहानवेयर (Johannweyer सन् १५१५ से सन् १५८८ ई०) ने अपने जीवनकाल को मानसिक रोगियो के अध्ययन और उनकी सहानुभूतिपूर्ण चिकित्सा में ही व्यतीत किया। इसीलिए उसे आज लोग मानसोपचार का जन्मदाता भी कहते हैं। उसी के प्रयत्न से मनोविज्ञान धर्मशास्त्रो से अपने को अलग करने में समर्थ हो सका।

सत्रहवीं शताब्दी मे भौतिक विज्ञान मे इतनी अधिक उन्नति हुई कि सभी विद्वानो का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि अब विभिन्न विद्वान मानव-व्यवहार की व्याख्या करने के लिए भौतिक विज्ञान की पद्धतियों और सिद्धान्तो का आश्रय लेने लगे। मानसोपचार-विज्ञान भी इस प्रभाव से वचित नहीं रह सका और परिणामतः मन और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध मे यांत्रिक (Mechanistic) विचार-धारा की प्रबलता हो गयी। किंतु, उस समय भी एक ऐसा व्यक्ति था जो यांत्रिक दृष्टिकोण से सहमत नही था और अपनी विचार-भिन्नता के फलस्वरूप उसने आंगिक (organic) तथा क्रियात्मक (Functional) मानसिक अवस्थाओं के भेदो को व्यक्त किया। वह था जार्ज अर्न्स्ट स्टाल (George Ernst Stall सन् १६६०-१७३४ ई०) जो अपनी इस दूरदर्शिता के लिए मनोवैज्ञानिक जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस दिशा मे अठारहवीं शताब्दी मे दो उल्लेखनीय उन्नति हुई। पहले असामान्य व्यक्तियों को जहाँ गन्दे स्थानो में रखा जाता था और उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था वहाँ अब उनके लिए मानसिक अस्पतालो की स्थापना हुई तथा उनके खान-पान, रहन-सहन और अन्य सुविधाओ पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार का कार्य करनेवाला सर्वप्रथम फिलिपे पाइनेल (Philippe Pinel—सन् १७४५-१८२६ ई०) फ्रांस का रहनेवाला था और वहीं उसने इन सुधारों को भी किया। दूसरा व्यक्ति इंगलैंड का रहनेवाला था जिसका नाम विलियम ट्यूक (William Tuke) था। उसने मानसिक रोगियो की अवस्था के सुधार के लिए काफी प्रयत्न किया और उसे सफलता भी पर्याप्त रूप मे मिली। इस प्रकार के

सुधारों से विद्वानों को मानसिक असामान्यताओं के लक्षणों और श्रेणियों के विभाजन में काफी उत्साह मिला। इसी उत्साह के फलस्वरूप पाइनेल के सहायक इस्क्वीरल (Esquirol) ने पहले-पहल पागलपन पर अपना सभाषण दिया था ; जिसको सुनने के लिए कई देशों के चिकित्सक एकत्रित हुए थे।

पाइनेल के ही समकालीन फ्रैंज एण्टन मेस्मर (Franz Anton Mesmer—सन् १७३३-१८१५ ई०) तथा फ्रैंज जोसेफगाल (Franz Jeseph Gall–सन् १७५८-१८२८ ई०) की यहाँ थोड़ी सी चर्चा अपेक्षित है ; क्योंकि इनपर प्रकाश डाले बिना असामान्य मनोविज्ञान का विकासात्मक इतिहास अधूरा ही रहेगा। मेस्मर के सराहनीय कार्यों का उल्लेख करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है, जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि लोगों का ध्यान मानसिक विकृतियों और उनसे पीड़ित लोगों की सुविधाओं की ओर इतना कम आकृष्ट था कि यदि हम यह कहें कि उस समय मनो-स्नायुविकृत व्यक्तियों (Psychoneurotics) की कोई पूछ नही थी तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। लेकिन, आस्ट्रिया का यह चिकित्सक इस दिशा से उदासीन नही था, बल्कि उसका ध्यान इधर ही आकृष्ट हुआ। उसने ग्रहों का सम्बन्ध शरीर से प्रदर्शित करते हुए पशु चुम्बकत्व पर प्रकाश डाला। उसके अनुसार नक्षत्रों के प्रभाव से शारीरिक उपद्रव ही विभिन्न मनोस्नायु-विकृतियों के कारण थे। अतएव उसने ऐसी विकृतियों का उपचार भी मेस्मरिज्म के ही द्वारा करना प्रारम्भ किया। उसके रोगियों को सफलता भी काफी मिली; लेकिन फ्रास तथा अन्य देशों के चिकित्सकों ने उसका अत्यधिक विरोध किया। सरकार की ओर से भी उसपर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये। फिर भी, वह अपने कार्य मे इतना डटा रहा कि उसके प्रभाव से बहुत लोगों को प्रभावित होना पड़ा। उसके एक शिष्य ने इसी प्रकार एक रोगी मे स्वप्नचारिता (Somnam bulism) का व्यापार प्रदर्शित किया। बाद में जेम्स ब्रेड (James Braid) ने सन् १८४२ ई० मे एक आपरेशन भी किया और इसी समाधि (Trance) को सम्मोहन (Hypnotism) का नाम दिया। इस प्रकार, असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत कटु आलोचनाओं और प्रतिबन्धों का शिकार होते हुए भी मेस्मर की देन का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आज पुनः सी० आर० हल (C R. Hnll), पी० सी० यग (P. C. Yung) तथा एम० जी० एरिकसन (Erickson) आदि सम्मोहन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न विदेशो मे कर रहे हैं। अगर

मेस्मर ने मेस्मरिज्म को जन्म न दिया होता तो संभवतः अभी तक सम्मोहन का नाम इस विज्ञान में सुनने को नही मिलता।

फ्रैंज जोसेफ गाल को मस्तिष्क-विज्ञान (Phrenology) का प्रवर्तक होने के नाते इस इतिहास के अन्तर्गत स्थान न देना उसके साथ अन्याय होगा। मेस्मर की तरह उसे भी अपने विचारों के प्रचार करने में धार्मिक पुरुषों द्वारा डाली गयी अड़चनो का सामना करना पड़ा। फ्रांस के प्रख्यात विद्वानों ने उसके कार्यों की उपेक्षा की; लेकिन उसने अपने विचारों को सन् १८१०-१८१९ ई० के अन्तर्गत चार भागों मे प्रकाशित किया। कुछ विचारशीलों के आदर का भी वह पात्र बना और इस प्रकार विभिन्न अड़चनो का सामना करते हुए उसने मस्तिष्क और मानसिक क्रियाओं में सम्बन्ध प्रस्थापित करने का प्रयास किया। उसने अपने विचारों की पुष्टि के लिए प्रयोगो का भी आश्रय लिया।

जर्मनी में विलहेल्म ग्रीजिगर (Wilhelm Griesinger) ने, जिसका समय सन् १८१७–१८६८ ई० था और जो एक प्रख्यात चिकित्सक था, सन् १८४५ ई० में मानसिक रोगों और उनके उपचारो पर प्रकाश डाला। उसने मानसिक बीमारियों के अध्ययन की आवश्यकता व्यक्त की और मानसोपचार को एक वैज्ञानिक रूप दिया। उसका शिष्य क्राफ्ट एबिंग (Krafft Ebing) भी उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि उसका जीवन-काल सन् १८४० ई० से १९०२ ई० तक ही था, लेकिन इस छोटी-सी अवधि में उसने जो महान कार्य किया उससे असामान्य मनोविज्ञान और मानसोपचार-विज्ञान का अत्यधिक उपकार हुआ। सर्वप्रथम उसकी एक पुस्तक पागलपन पर सन् १८७९ ई० में प्रकाशित हुई जो आज भी कई दृष्टिकोणों से श्लाघनीय है। मानसोपचार सम्बन्धी उसकी एक रचना और भी सन् १८७५ ई० में प्रकाशित हुई। वह असामान्यताओं के वर्गीकरण-मात्र से संतुष्ट नहीं था। इसलिए उसने इस वैज्ञानिक विभाजन के लिए असामान्यता के विभिन्न कारण, रोगी के व्यक्ति-इतिहास आदि बातों पर विशेष जोर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उसने दैहिक एवं मानसिक अवस्थाओं और उनके परिवर्तनो का भी सूक्ष्मतया अध्ययन किया। अपने जीवन के अन्तिम समय में उसने लैंगिक विकृति (Sexual Perversion) के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। उसने हिस्टिरिया तथा इपिलेप्सी पर काफी प्रकाश डाला और इन बीमारियों में लैंगिकता का क्या हाथ रहता है, इसपर भी अपना विचार व्यक्त किया। उसके कामों का अध्ययन करने से आज भी

इन विषयों पर काफी सामग्री प्राप्त होती है। वस्तुतः उसकी देन असामान्य मनोविज्ञान के लिए श्लाघनीय है।

असामान्य मनोविज्ञान में अभिरुचि रखनेवाला कौन ऐसा पाठक होगा जो एमिल क्रेप्लिन (Emil Kraepelin—सन् १८५६-१९२६ ई०) के नाम से परिचित न हो। जिस प्रकार प्रकृति की ओर से उसे दीर्घ जीवन प्राप्त था उसी प्रकार उसमें कार्य करने की शक्ति भी विचित्र थी। यही कारण है कि आज भी मानसिक व्याधियों की सम्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके कार्यों का आश्रय लेना आवश्यक है। यों तो उसके जीवन का अधिकाश समय अध्यापन में व्यतीत हुआ; लेकिन अपनी रचनाओं और शिष्यों द्वारा उसने जो प्रसार असामान्य मनोविज्ञान तथा मानसोपचार-विज्ञान का किया उसकी कोई उपेक्षा नहीं कर सकता है। जैसा कि उसकी रचनाओं से स्पष्ट है, वह उण्ट के कार्यों से अधिक प्रभावित था और इसी के परिणाम-स्वरूप उसने अपने कार्यों मे प्रयोगो को भी आश्रय दिया। इस प्रकार उसने प्रयोगात्मक मनोपचार-विज्ञान को उन्नत किया। थकावट के विभिन्न पहलुओं का जो अध्ययन उसने किया उसे आज भी मनोविज्ञान के पाठकों को मानना पड़ता है। मानसिक चिकित्सा के उन्नयन के लिए उसने इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न किया। मानसिक रोगों का उसने जो विभाजन किया उससे आज का युग भी वञ्चित नहीं हो सका है। उसने कारणों के साथ-साथ उन रोगों के परिणाम और प्रवाह पर भी विशेष जोर दिया। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उन जर्मन विद्वानों के सराहनीय कार्यों से मनोपचार-विज्ञान की ही काफी समुन्नति हुई, असामान्य मनोविज्ञान की नहीं; क्योंकि उन विद्वानों में से किसी ने भी असामान्यताओं के कारणों मे मनोविज्ञान को महत्त्व नहीं दिया। इसलिए किसी ने भी मनोवैज्ञानिक कारणों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु, इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनकी देन इस मनोविज्ञान को कुछ नहीं है। उनके उपकारो की हम उपेक्षा कदापि नही कर सकते; तथापि हमें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनकी देनों से फ्रांस के विचारकों की देनें अधिक श्लाघनीय हैं; अतएव उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है।

जीन मार्टिन शार्को (Jean Martin Charcot—सन् १८२५ ई०-१८९३ ई०), जो स्नायुविद्या-विशारद (Neurologist) था, की नियुक्ति एक चिकित्सक के पद पर सन् १८६८ ई० में हुई। उसकी उपचारशाला मे हिस्टिरिया के रोगियों की इतनी भीड़ एकत्रित होने लगी कि उसकी अभिरुचि सम्मोहन और हिस्टिरिया के अध्ययन में हुई। लेकिन उसका

झुकाव इन व्यापारों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं की ओर न होकर स्नायुविक (Neurological) पहलुओं की तरफ था। उसका विश्वास था कि हिस्टिरिया के लक्षणों के आविर्भूत होने में आंगिक (Organic) दोषों का ही हाथ रहता है और इन्हीं दोषों के फलस्वरूप रोगियों में मनोवैज्ञानिक व्यापार देखने में आते हैं। इन्हीं स्नायुविक अवस्थाओं के आधार पर उसने सम्मोहन की भी व्याख्या की। इस प्रकार यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उसने अपना समय स्नायुविज्ञान के प्रसार में व्यतीत किया और उसी की उन्नति के लिए हिस्टिरिया और सम्मोहन का भी अध्ययन किया; लेकिन इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उसकी देन असामान्य मनोविज्ञान' के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतएव उसका जो महत्त्वपूर्ण स्थान इस मनोविज्ञान में है, उसे हम भूल नहीं सकते।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि फ्रांस-क्रान्ति के कारण मेस्मर को अपना देश छोड़ना पड़ा और उसके मेस्मरिज्म की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ; लेकिन इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मेस्मर का प्रभाव सदा के लिए विनष्ट हो गया। यद्यपि मेस्मरिज्म को प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उचित समय पर महत्त्व और मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी; लेकिन उस समय भी फ्रांस और इंगलैण्ड में सीमित लोगों की अभिरुचियाँ इसमें थीं और उन लोगों ने इसका अध्ययन जारी रखा। ऐसे ही व्यक्तियों में जेम्स ब्रेड (James Braid—सन् १७९५-१८६१ ई०) की परिगणना होती है जिसने इंगलैण्ड में मेस्मरिज्म के अध्ययन द्वारा ही इस मनोवैज्ञानिक व्यापार को सम्मोहन का नाम दिया। लन्दन-विश्वविद्यालय में जॉन इलियटसन (John Elliotson—सन् १७९१-१८६८ ई०) ने सम्मोहन-शून्यता (Hypnotic Anaesthesia) की अवस्था में कितने ही आपरेशन किये। लेकिन उस समय उसके सहयोगियो से उसे इस दिशा में किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त न हो सका; इसलिए इसका परिणाम उसके लिए विशेष मंगलकारी प्रमाणित नहीं हुआ। इधर जेम्स एसडेली (James Esdaille—सन् १८०८-१८५८ ई०) ने भारतवर्ष में लगभग २५० भारतीयों पर सम्मोहनिक शून्यता की हालत में आपरेशन-कला को बहुत ही निपुणता के साथ प्रदर्शित किया। इसके सम्बन्ध में उसने एक विज्ञप्ति भी सन् १८४६ ई० में प्रकाशित की थी। लेकिन खेद का विषय है कि जब वह पुनः लौटकर इंगलैण्ड गया तब उसे इस कार्य में भारतवर्ष की सफलता और प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी।

यद्यपि फ्रांसवालों ने भी इस दिशा में कार्य किया; लेकिन उन्हें उतनी

सफलता नहीं मिली जितनी इंगलैण्डवालों को मिली। इसलिए सम्मोहन की महत्ता में उनका विश्वास ब्रेड अथवा इलियटसन की तरह नहीं जम सका। हाँ, एम्ब्रायज अगस्त लीबॉल्ट (Ambroise Auguste Liebeault—सन् १८२३-१९०४ ई०) को निस्सदेह इस दिशा मे अत्यधिक सफलता मिली। इसलिए वह नान्सी में रहते हुए निर्विरोध कई वर्षों तक सम्मोहन का व्यवहार करता रहा। लेकिन उसके कार्य की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। शार्को के कार्यों को पढ़कर बर्न्हेम (Bernheim—सन् १८३७-१९१९ ई०) सम्मोहन की ओर आकर्षित हुआ; किन्तु जब उसे अपने कार्य में सफलता नहीं मिली तब वह लीबॉल्ट के पास सम्मोहन की विशेष जानकारी के लिए गया और वहाँ उसने सम्मोहन की विधि और उसके विभिन्न पहलुओं का सूक्ष्म रूप से निरीक्षणात्मक अध्ययन किया। तत्पश्चात इस कार्य में वह उस समय तक लगा रहा जब तक कि वह स्वयं सम्मोहन करने में सफल-मनोरथ नहीं हुआ। अब क्या था, सफलता मिलते ही उसे इस काम की ओर अत्यधिक झुकना पड़ा और अन्ततोगत्वा उसने अपने कार्यों को प्रकाशित भी किया। उसकी ख्याति बढ़ने लगी और देश-विदेश से लोग इसकी विशेष जानकारी के लिए उसके यहाँ पहुँचने लगे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि लीबॉल्ट तथा बर्न्हेम दोनों ने ही इसे ससूचनशीलता (suggestibility) का ही परिणाम अभिव्यक्त किया। उनका कहना था कि संसूचनशीलता हिस्टिरिया के रोगियों की ही विशेषता नहीं है, बल्कि किसी भी मनुष्य मे यह पायी जाती है। इस प्रकार उन दो विद्वानों ने सम्मोहन के आत्मगत (subjective) और मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर काफी प्रकाश डाला। लेकिन जैसा कि हमलोग पहले ही देख चुके हैं उनका यह दृष्टिकोण शार्को से भिन्न था; इसलिए बहुत दिनों तक सम्मोहन के स्वरूप के सम्बन्ध में विवादग्रस्त बाते चलती रहीं और अन्त मे बर्न्हेम को ही अपने कार्य में सफलता मिली। इसके बाद अन्य फ्रासीसी विद्वानों ने भी हिस्टिरिया तथा सम्मोहन-सम्बन्धी काफी खोजे कीं। ऐसे विद्वानो में टी० ए० राइबट (T. A. Ribot—१८३९-१९१६ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वह प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का अध्यापक तथा शार्को का शिष्य था। लेकिन उसके विचार कई पहलुओं मे अपने गुरु से भिन्न थे तथापि वह अपने शिक्षक को जीवनपर्यन्त पूज्य तथा श्रद्धा की ही दृष्टि से देखता रहा। आजम ने एक बाला की हिस्टिरिया के विभिन्न व्यापारों को व्यक्त किया तथा टेनी ने अपनी पुस्तक मे कई असामान्य व्यवहारों

का उल्लेख किया। उन्हीं दोनों व्यक्तियों के कार्यों ने राइबट को विशेष रूप से असामान्य व्यवहारो का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। अतएव सन् १८८१ ई० में स्मृति-व्याधियाँ (Diseases of Memory), सन् १८८३ ई० में व्यवसाव-व्याधियाँ (Diseases of Will) तथा सन् १८८५ ई० में व्यक्तित्व-व्याधियाँ (Diseases of Personality) नामक ग्रथ को उसने प्रकाशित में कराये। इन बहुमूल्य प्रकाशनों ने अन्य विद्वानों को मनोस्नायुविकृतियो (Psychoneuroses) का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। सन् १८९६ ई० में राइबट ने सवेग-मनोविज्ञान (Psychology of the Emotions) में असामान्य सवेगात्मक व्यवहारों पर काफी प्रकाश डाला। यहाँ इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना अप्रासगिक नही होगा कि राइबट की रचनाओं मे विकासवाद का प्रभाव यत्र-तत्र अत्यधिक दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि उसने स्मृति, व्यवसाय तथा व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में विकास (Evolution) तथा अपकर्ष अथवा अधोगति (Degeneration) का पर्याप्त व्यवहार किया है। इसके पहले मनोपचार-विज्ञान (Psychiatry) के अन्तर्गत बी० ए० मोरेल ने सन् १८५७ ई० मे सर्वप्रथम 'अपकर्ष' पद का व्यवहार किया था और इंगलैण्ड मे हर्बर्ट स्पेसर तथा जैकसन ने स्नायुविक तथा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के करने में विकासात्मक दृष्टिकोण पर विशेष जोर दिया था।

फ्रांस-निवासी पियरी जैने (Pierre Janet) की देनों का उल्लेख कर देना भी यहाँ नितात आवश्यक प्रतीत होता है। फ्रांस के कालेज में वह बहुत दिनों तक प्रोफेसर के पद को सुशोभित करता रहा। उसका जन्म सन् १८५९ ई० में हुआ था। उसने हिस्टिरिया के रोगियों का विशद अध्ययन किया और उनकी चिकित्सा भी सम्मोहन-विधि का आश्रय लेकर की। सर्वप्रथम उसी ने असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत अचेतन-मन का व्यवहार किया ; किंतु उसका दृष्टिकोण इसके प्रति आजकल की तरह गत्यात्मक न होकर अगत्यात्मक था। उसने हर्वर्ड मेडिकल स्कूल में हिस्टिरिया के लक्षणों पर कई महत्त्वपूर्ण भाषण दिये और दो वृहद् भागों में मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-विधियो को भी प्रकाशित किया ; जिससे अन्य विद्वानों की अभिरुचि असामान्य व्यवहारों के अध्ययन मे पहले से अधिक बढ गयी। वस्तुतः जैने की जो देन असामान्य मनोविज्ञान को है उसके लिए सभी उसके ऋणी रहेंगे।

विकासात्मक सिद्धान्त का प्रभाव असामान्य मनोविज्ञान पर क्या पड़ा

इससे पाठक आगे परिचित होंगे ; लेकिन इस स्थल पर इतना कह देना आवश्यक है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कि मोरेल ने अपकर्ष का व्यवहार पहले-पहल मनोविज्ञान मे किया। इसी विकासात्मक सिद्धान्त से प्रभावित होकर लम्ब्रोसो (Lombroso—सन् १८३६-१६०६ ई०) ने अपराध-विज्ञान के कोष को अत्यधिक समृद्ध किया। मैक्स नारडू (Max Nardaue—सन् १८४६-१६२३ ई०) ने भी मेधावी व्यक्तियों के अध्ययन में उसी सिद्धान्त को अपनाया और इंगलैण्ड में जैक्सन (सन् १८३४-१६११ ई०) भी सभी मनोस्नायु-विकृतियो की व्याख्या और अध्ययन में विकासात्मक दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित हुआ। वस्तुतः विकासवाद का सिद्धान्त असामान्य मनोविज्ञान के उन्नयन में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ। इसके सम्बन्ध मे हम आगे चर्चा करेंगे।

इस विकासात्मक दृष्टिकोण का अत्यधिक प्रभाव हमे फ्रॉयडवाद मे मिलता है। लेकिन इसके पहले कि हम इस सम्प्रदाय की देनों का उल्लेख करे और यह व्यक्त करे कि असामान्य मनोविज्ञान इससे कहाँ तक उपकृत हुआ है, फ्रायड के जीवन पर कुछ प्रकाश डाल देना हम आवश्यक समझते हैं। उसके जीवन पर प्रकाश डालने के लिए यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि उसका जन्म सन् १८५६ ई० में फ्रीबर्ग नगर मे हुआ था। लेकिन, जब उसकी आयु केवल चार वर्ष की थी उसी समय उसे सपरिवार वियना जाकर बसना पड़ा। सन् १८८७ ई० मे ग्रेजुएट होने पर उसने स्नायु-सम्बन्धी खोजों में अपना समय व्यतीत किया और अपने विचारों को प्रकाशित भी किया। जब वह वियना-विश्वविद्यालय मे व्याख्याता के पद पर कार्य कर रहा था उसी समय सन् १८८५ ई० मे उसे सम्मोहन के अध्ययन के लिए शार्को के पास जाना पड़ा। इतना ही नहीं, बल्कि उसका झुकाव सम्मोहन-विधि की ओर इतना अधिक हुआ कि सन् १८८६ ई० मे इसमे और भी दक्षता हासिल करने के लिए वह नान्सी गया। वहाँ से लौटने के बाद वह वियना के एक चिकित्सक जोसेफ ब्रुवर के साथ मानसिक रोगियो को अच्छा करने के लिए सम्मोहन का व्यवहार करने लगा। अपनी चिकित्सा-प्रणाली और सफलता के आधार पर ब्रुवर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हिस्टिरिया मे उन सवेगों का हाथ रहता है जो असामान्य रूप मे प्रकाशित होते हैं। उसने अपनी चिकित्सा-प्रणाली को शोधन (Catharsis) के नाम से अभिव्यक्त किया। फ्रायड भी इसी विधि से ब्रुवर के साथ हिस्टिरिया के रोगियों की चिकित्सा करता रहा और दोनों ने मिलकर अपने अध्ययन के कामो को सन् १८६५ ई० मे प्रकाशित किया। इसमे तीन महत्त्वशाली खोजों का

उल्लेख है। उनके अनुसार हिस्टिरिया गत सवेगात्मक उपद्रवों के कारण होती है। यद्यपि मानसिक प्रक्रियाएँ अचेतन हो सकती हैं तथापि वे व्यक्ति के व्यवहार को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि सवेगों का पक्षांतरण (Transposition) मानसिक पहलू से शारीरिक पहलू में होना संभव है। इसी सवेग पक्षांतरण को फ्रायड ने रूपांतरण (Conversion) के नाम से अभिव्यक्त किया है। उनके इस प्रकाशन के फलस्वरूप उनके विरोधियों की सख्या बढ़ गयी और ब्रुवर तथा फ्रायड का चिकित्सा-सम्बन्धी संबध विच्छेद हो गया।

फ्रायड ने सम्मोहन-विधि की सीमाओं पर विचार किया और अन्ततोगत्वा उसने इसे वहिष्कृत कर जाग्रत (Working) संसूचन को आश्रय दिया। इसी विधि का प्रयोग करते समय उसने प्रतिरोध (Resistance) और दमन (Repression) के दृष्टिकोणो को जन्म दिया। फ्रायड का अचेतन पहले की तरह निष्क्रिय नहीं, बल्कि वह पूर्णतः सक्रिय और गत्यात्मक स्वरूप का था। यही दृष्टिकोण आज समादर की दृष्टि से देखा जाता है। फिर उसने स्वतत्र साहचर्य विधि (Free Association Method) को अपनाया और अपनी चिकित्सा-प्रणाली को मनोविश्लेषण का नाम दिया। अब क्या था, असामान्य मनोविज्ञान का कोष नये-नये विचारों और ग्रंथों से भरने लगा। उसने इस विज्ञान को स्वप्न की व्याख्याएँ (Interpretations of Dreams), दैनिक मनोविकृतियाँ (Psychopathology of Everyday life), लैंगिकता सिद्धान्त को तीन देन (Three Contributions to theory of sexuality) आदि कई बहुमूल्य ग्रंथ-रत्न भेट किये। उसने अपने अध्ययनो से यह प्रमाणित कर दिया कि मनोस्नायुविकृतियों और मनोविकृतियो के मूल में लैंगिकता का हाथ रहता है। शैशव लैगिकता (Infantile sexuality) के विचार को देनेवाला यही मनीषी है। लैंगिक शक्ति विकास (Development of Libido) का विचार असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत आज उसी की देन है। उसने छोटी-छोटी-सी घटनाओं का अध्ययन कर यह प्रमाणित कर दिया कि हमारी दैनिक मनोविकृतियाँ हमारे अचेतन-मन से ही अभिप्रेरित होती हैं। नियतिवाद (Determinism) का उन्नयन इसी विद्वान ने किया और हमारे छोटे-से-छोटे व्यवहारो का कारण आज इसी के प्रसाद से खोजा जा रहा है। स्वप्नों की व्याख्या को वैज्ञानिक पुट देना इसी के भगीरथ प्रयास के परिणाम-स्वरूप है। असामान्य मनोविज्ञान को मनोरचनाओं (Mental mechanisms) का विचार देनेवाला फ्रायड ही है और आज उसी के फलस्वरूप

इस दिशा में नित्य नये-नये अन्वेषण हो रहे हैं। इस विद्वान ने जितना असामान्य मनोविज्ञान को विकसित किया उतना कोई भी नहीं कर सका है। यद्यपि आज उसके कई विचारों की बहुत ही कटु आलोचनाएँ होती हैं, लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यदि फ्रायड सामान्य चिकित्सा को छोड़कर असामान्य मनोविज्ञान की ओर न झुका होता तो आज हम असामान्य मनोविज्ञान को उन्नति के जिस स्तर पर देखते हैं वहाँ अभी नहीं देख पाते। उसकी चिकित्सा-प्रणाली सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई और फलतः मनोविश्लेषण-सम्प्रदाय के अनुयायियों की सख्या दिन-प्रतिदिन बढने लगी।

उसके शैशव लैंगिकता-विचार से अधिकांश विद्वानों ने नाक-भौं सिकोड़ा और उसकी आलोचनाएँ कीं। लेकिन फ्रायड एक ऐसा कर्मठ व्यक्ति था जिसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी कठिनाई अथवा आलोचना की तनिक भी परवाह नहीं थी। वह धैर्य और लगन के साथ अपने काम में लगा रहा और इस प्रकार असामान्य मनोविज्ञान के कोष और क्षेत्र को समृद्ध एवं विस्तृत करने लगा। उसके कार्यों से प्रभावित होकर सी० जी० युग तथा एडलर ऐसे विद्वानों ने भी मनोविश्लेषण का आश्रय लिया।

आगे चलकर फ्रायड ने स्वयं लैंगिकशक्ति-सिद्धान्त को परिमार्जित एवं परिवर्द्धित किया; लेकिन उसका शिष्य कार्ल एब्राहम (Karl Abraham) ने अपने अध्ययन-द्वारा उसे और भी विशिष्ट रूप दिया। फ्रायड ने मन को अबोधात्मा (Id), बोधात्मा (Ego) एव आदर्शात्मा (Super-Ego) मे विभक्त किया और यह भी प्रदर्शित किया है कि इन विभिन्न भागों का हाथ व्यक्ति की विभिन्न मानसिक व्याधियो मे कितना रहता है। लैंगिक विकृति का भी बहुत ही सुन्दर ढंग से उसने विवेचन किया। तब से ये विषय असामान्य मनोविज्ञान के अध्ययन के प्रमुख विषय बने हुए हैं।

यहाँ हम फ्रायड की देनों के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि फ्रायड ने जो काम असामान्य मनोविज्ञान के लिए किया और उससे जो उपकार इस दिशा मे हुआ उसके लिए उसका नाम असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास मे सदा स्वर्णाक्षरो मे अंकित रहेगा।

जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त किया है, फ्रायड के अनुयायियों मे एडलर तथा युग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ था; लेकिन वे बहुत दिनों तक फ्रायड के साथ नहीं रह सके। वैयक्तिक समस्याओं को लेकर उन लोगों ने अपना

सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। सन् १९११ ई० में सम्बन्ध-विच्छेद करते ही एडलर ने मनोस्नायुविकृति मे लैंगिकता के महत्त्व को अस्वीकार किया। इतना ही नहीं, उसने फ्रायड की लैंगिक-शक्ति (Libido) का भी पूर्णतः तिरस्कार किया और विजयेच्छा (will to power) को ही मनुष्य के जीवन में प्रधानता प्रदान की। उसके अनुसार लैंगिक शक्ति की नहीं, अपितु विजयेच्छा की प्रधानता मानव-जीवन में पायी जाती है। शारीरिक दोषों से समुत्पन्न हीन-भाव और विजयेच्छा की कुण्ठा (Frustration) ही मनुष्य के चरित्र-निर्माण और मनोस्नायुविकृतियो के मूल में पायी जाती है। इस प्रकार एडलर ने मनोविकृति, स्वप्न तथा अन्य प्रकार की असामान्यताओ की व्याख्या पूर्णतः भिन्न दृष्टिकोण से की। उसका कहना है कि जब मनुष्य किसी प्रकार के हीन-भाव से पीड़ित रहता है अथवा जब उसे किसी कारणवश सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त होती है, तभी वह अपने को विभिन्न असामान्य व्यवहारों के द्वारा वातावरण मे अभियोजित करने का प्रयास करता है। एडलर के अनुसार हमारे या किसी रोगी-विशेष के स्वप्न गत जीवन पर प्रकाश नहीं डालते, बल्कि वे हमारी विभिन्न वर्तमान या भावी समस्याओं को सुलझाते हैं। इसलिए उसके द्वारा प्रचारित सम्प्रदाय को वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology) कहते हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि असामान्यताओं के कारणों के सम्बन्ध मे परिवर्तित दृष्टिकोण रहने के कारण उसकी चिकित्सा-प्रणाली भी भिन्न है। उसकी पुत्री एलेक्जेण्ड्रा एडलर ने उसकी चिकित्सा-विधि का अपने शब्दों में बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। हमें यह भी याद रखना होगा कि यद्यपि असामान्य मनोविज्ञान में एडलर का महत्त्व उतना अधिक नहीं है जितना फ्रायड का; लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि उसने इस दिशा मे एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया है जिससे शिक्षा-शास्त्रियों का विशेष उपकार हुआ है।

फ्रायड से सन् १९१३ ई० में अलग होकर युग ने भी अपने विचारों को एक नये श्रोत में प्रवाहित किया और एक नये मनोविज्ञान को जन्म दिया, जिसे विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (Analytic Psychology) कहते हैं। युग के अनुसार जीने की इच्छा अथवा जीवन-शक्ति (Will to live or Elan vital) की ही प्रधानता मनुष्य में है और उसी के लिए वह किसी कार्य को करता है। उसने लैंगिक-शक्ति को पूर्णतः तिरस्कृत किया है और धर्म को काफी प्रधानता दी है। उसके अनुसार अचेतन मन के दो पहलू हैं—जातीय (Racial) अथवा सामूहिक अचेतन तथा वैयक्तिक (Personal)

अचेतन। उसने असामान्य मनोविज्ञान मे भाव-ग्रंथियों (Complexes) और व्यक्तित्व-प्रकारों के विचारों को भी दिया है। भाव-ग्रंथियो के अन्वेषण एवं उनके निराकरण के लिए उसने स्वतंत्र शब्द-साहचर्य-विधि (Free word Association) को आश्रय दिया है। उसने, अन्तर्मुखी (Introverted) तथा बहिर्मुखी (Extraverted) प्रकारों में ही सभी व्यक्तियों को विभक्त किया है ; लेकिन बाद मे उसने उभयमुखी व्यक्तित्व-प्रकार को भी माना है। उसके अनुसार स्वप्न व्यक्ति के गत जीवन के परिचायक नहीं होते, बल्कि उसकी वर्तमान समस्याओ के ही परिचायक होते हैं। जैसा कि हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं, अभियोजन (Adjustment) में युंग धर्म की ही प्रधानता देता है। इसलिए अपनी चिकित्सा-विधि में वह इस विचार को तिरस्कृत नहीं कर सका है। इस प्रकार नैतिकता और धार्मिकता को बचाने के लिए युंग ने अपने को वैज्ञानिक जगत से बहुत दूर हटा लिया है; लेकिन कई अंशों मे उसने असामान्य मनोविज्ञान को नये विचारो और नये ग्रंथों की रचनाओ से समृद्ध किया है। भाव-ग्रंथियों के परिज्ञान के लिए अब भी हम उसकी स्वतंत्र शब्द-साहचर्य-विधि को ही अपनाते हैं।

विलहेल्म स्टेकेल (Wilhelm Stekel) भी मनोविश्लेषण-सम्प्रदाय के अनुयायियों में से है, जिसने आत्मदर्शी-सम्प्रदाय (Intuitive School) को जन्म दिया है। अपने जीवन के प्रारम्भ काल में उसने स्वप्नों को समझने के लिए पर्याप्त सामग्रियाँ उपस्थित की हैं, लेकिन उसके बाद उसकी कोई भी देन ऐसी नहीं है जिसका उल्लेख यहाँ किया जा सके। उसकी रचनाओ का अध्ययन करने मे बहुत-से असामान्य व्यवहारों को समझने मे आसानी होती है।

यद्यपि फ्रायड ने अपनी अन्तिम रचनाओं में सामाजिक वातावरण एवं संस्कृति के महत्त्व को स्वीकार किया है ; लेकिन इसपर विशेष जोर देनेवालों में कैरेन हॉर्नी (Karen Horney) का नाम आजकल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके अनुसार सुरक्षा के प्रयास की प्रवृत्ति की ही प्रधानता मनुष्य मे है और सभी अपने बचाव के लिए कोशिश करते हैं। यही प्रवृत्ति मनुष्य के विभिन्न व्यक्तित्वों एवं असामान्य व्यवहारों को निर्धारित करती है। उसका कहना है कि जब बच्चे अपने को निराश्रय पाते हैं तो वे इस भाव से पीड़ित होने के कारण और उससे छुटकारा पाने के लिए अपने में मनोस्नायुविकृतियों के विभिन्न लक्षणों को आविर्भूत एव विकसित कर लेते हैं। ये लक्षण आपस में एक दूसरे के इतने विपरीत होते हैं कि वे व्यक्ति मे तरह-तरह के संघर्षों को

उत्पन्न करते हैं। इसलिए उसकी रचनात्मक शक्ति का ह्रास हो जाता है और उसमें शान्ति का अभाव हो जाता है। रोगी जिस ध्येय से अपने में मनोस्नायुविकृतियों के लक्षणों को उत्पन्न करता है उस ध्येय की भी पूर्ति नहीं होती है; क्योंकि उसमे परमुखापेक्षिता के भाव की अत्यधिक प्रबलता रहती है और उसकी प्रतिक्रियाएँ भी निषेधात्मक होती हैं। अपनी चिकित्सा-विधि मे उसने फ्रायड की स्वतंत्र साहचर्य-विधि को ही आश्रय दिया है; लेकिन उसका ध्येय फ्रायड से पूर्णतः भिन्न है। इसके द्वारा वह मनोस्नायु-विकृतियों के लक्षणो और उनकी वर्तमान उपयोगिताओं का अध्ययन करती है। तत्पश्चात् रोगियों के सम्यक अभियोजन के लिए आवश्यक मार्गोपदेशन देती है। इस प्रकार कैरेन हार्नी मनोस्नायुविकृतियो तथा अन्य प्रकार के विकृत अभियोजनों मे सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण को ही महत्त्व देती है, लैंगिकता को नहीं, जैसा कि फ्रायड ने माना है। लेकिन, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, फ्रायड ने भी अपने अन्तिम दिनो मे सामाजिक प्रभाव के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसकी पुष्टि ओटो फेनिकेल (Otto Fenichel), एफ० ब्राउन (F. Brown), एरिफ होम्बर्जर एरिकसन (Erif Homburger Erickson) तथा एब्रम कार्डिनर (Abram Kardiner) प्रभृति विद्वानों ने भी की है।

मनोदैहिक औषधि-विज्ञान (Psycho-Somatic medicine) का उल्लेख कर देना भी यहाँ आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना असामान्य मनोविज्ञान का इतिहास अधूरा रह जायेगा। इस दिशा में सर्वप्रथम फ्रैंज अलेक्जेण्डर का नाम उल्लेखनीय है। उसने वानस्पतिक उपद्रवों (Vegetative Disturbances) का सम्बन्ध मानसिक उपद्रवों से प्रदर्शित किया है। उसका कहना है कि संवेगात्मक उपद्रवों के परिणाम-स्वरूप वानस्पतिक उपद्रवों की भी उत्पत्ति होती है। उसका यह निष्कर्ष मनोविश्लेषण के ही अध्ययन-स्वरूप है। इसी प्रकार विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न शारीरिक विकृतियों का कारण मानसिक उपद्रव को ही प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि सवेग मे गत्यात्मक गुण होता है और वह दिशा-विशेष की ओर प्रवाहित होता है। सवेग के दिशा-प्रवाह को निश्चित करना ही दैशिक विश्लेषण (Vector Analysis) के नाम से प्रख्यात है। इन विद्वानों का दृष्टिकोण है कि पेट या शरीर के किसी अंग मे किसी प्रकार का उपद्रव इन्हीं संवेगों के उपद्रवों के कारण होता है। इसलिए ऐसी विकृतियों के निराकरण के लिए संवेगों का नियत्रण अत्यावश्यक है। एलेक्जेण्डर तथा शिकागो-सस्थान के अन्य अन्वेषकों ने इस प्रकार

के उपद्रवों पर काफी प्रकाश डाला है। उनकी चिकित्सा-विधि भी मनोविश्लेषण ही है। डेनियल्स (Deniels), बॉलमेयर (Bollmeyer), मेयर (Meyer) प्रभृति विद्वानों के कार्य इस दिशा में विशेष रूप से श्लाघनीय हैं। इन लोगों ने रक्त-चाप (Blood Pressure) से लेकर अन्य प्रकार की शारीरिक गड़बड़ी में मानसिक उपद्रवों के प्रभाव का अध्ययन किया है। फ्लाण्डर्स डनबार का संवेग और शारीरिक परिवर्तन (Emotions and Bodily changes), एडवर्ड वेस (Edward Weiss) का मनौषधि-विज्ञान तथा फ्रैंज अलेक्जेण्डर तथा थामस एम० फ्रेंच द्वारा सम्पादित मनोदैहिक औषधि-विज्ञान के अध्ययन (सन् १९४८ ई०) आदि रचनाएँ इस विषय की महत्त्वपूर्ण देन हैं। अन्तिम रचना में मनौषधि-विज्ञान पर किये गये विभिन्न अन्वेषणों का बहुत ही अच्छा संग्रह है। इसका उल्लेख यहाँ इसीलिए कर दिया गया है कि इधर झुकाव होने से अभी ऐसी आशा की जाती है कि असामान्य मनोविज्ञान का क्षेत्र और भी भविष्य में विकसित होगा और असामान्य मानव अपनी सभी असामान्यताओं से विभिन्न विधियों और उपायों द्वारा शीघ्र ही निर्मुक्त हो सकेगा।

यहाँ इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि असामान्य मनोविज्ञान का वर्तमान विकास जो है उसी से विद्वानों को संतोष करना ठीक नहीं है। इसमें अभी और भी अन्वेषण की आवश्यकता है। लेकिन, खेद का विषय है कि यह विकास भी अमरीका या अन्य पाश्चात्य देशों में ही है। भारतवर्ष-जैसे राष्ट्र में इसका सर्वथा अभाव है और आज भी असामान्यताओं की निर्मुक्ति के लिए सरकार की ओर से कोई विशेष प्रबन्ध नहीं हुआ है।

दूसरा अध्याय

अचेतन (Unconscious)

'अचेतन' पद आज के ही युग में विद्वानो के अध्ययन का विषय नहीं बना, बल्कि इसका अध्ययन बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। भारतवर्ष मे भी प्राचीन काल में ऋषि-मुनियो ने इसकी महत्ता पर प्रकाश डाला है। जब हम पाश्चात्य ग्रंथों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि अफलातून (Plato) और अरस्तू (Aristotle) जैसे प्राचीन यूनानी विद्वानो ने भी इसकी सत्ता को स्वीकार किया है। डेकार्ट (Descartes), लेबनिज (Lebnitz), शोफेनहार प्रभृति विद्वानों ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। इस प्रकार प्रारभ से लेकर वर्तमान तक अचेतन के सम्बन्ध में हमें जो संकेत विभिन्न साहित्यों में मिलते हैं, उनकी अलग-अलग चर्चा न करके उन विचारों को हम तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। लेकिन इसके पहले कि हम उन विभिन्न विचारधाराओ का वर्णन करें, यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आज के युग में अचेतन का महत्त्व अत्यधिक बढ गया है और असामान्य मनोविज्ञान की तो यह नींव ही है। इसी नींव पर इस मनोविज्ञान की भित्ति खड़ी है।

पहला व्यवहार जो अचेतन का विद्वानों ने किया है, उसे हम औपचारिक दृष्टिकोण (Medical concept) कह सकते हैं। इसके अनुसार अचेतन का व्यवहार विमानसिक (Non-mental) के अर्थ में होता है। इस दृष्टिकोण के पृष्ठपोषकों का ऐसा कहना है कि कोई भी मानसिक क्रिया ऐसी नहीं होती जिसमें चेतना न हो; अतएव अचेतन का व्यवहार विमानसिक के ही अर्थ मे होना श्रेयस्कर है। जो विद्वान इस दृष्टिकोण को आश्रय देते हैं उनमे अन्य औपचारिक विद्वानों के साथ-साथ मन्स्टर्वर्ग (Munsterburg) नामक मनोवैज्ञानिक का भी नाम उल्लेखनीय है; क्योंकि वह इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। लेकिन मनोविकृति-विज्ञान के पण्डितों ने इस दृष्टिकोण को पूर्णतः तिरस्कृत किया है। उनका कहना है कि सम्मोहन तथा मनोविश्लेषण की अवस्था मे व्यक्तियो मे कुछ ऐसी मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं जिनमे चेतना नहीं रहती। वे चेतनाहीन क्रियाएँ पूर्णतः मानसिक

ही रहती हैं, दैहिक नहीं। अतएव चेतना तो मन का एक पहलू-मात्र है, उसका समग्र धर्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उपर्युक्त सम्मोहन और मनोविश्लेषण के व्यापार इस बात के साक्षी हैं कि मानसिक क्रियाएँ अचेतन भी होती हैं। इन बातों को ध्यान मे रखते हुए अचेतन पद का व्यवहार उपर्युक्त अर्थ में करना मनोविज्ञान के लिए सर्वथा अवांछित है।

दूसरा दृष्टिकोण जो अचेतन के प्रति है उसे हम दार्शनिक दृष्टिकोण कह सकते हैं। यद्यपि अचेतन की यह विचार-धारा उपर्युक्त दृष्टिकोण से भिन्न है और इसे बड़े-बड़े धुरधर विद्वानो के आश्रय भी प्राप्त हैं तथापि यह दार्शनिक दृष्टिकोण संतोषप्रद नहीं है; क्योंकि यह भी अचेतन के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने में असमर्थ है। इसके अनुसार अचेतन-मन का वह दुर्बोध अंश है जिसके घटक (contents) पूर्णतः विस्मृत और तिरस्कृत रहते हैं। इसके प्रवर्तकों में हार्टमैन, मायर्स तथा युंग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों का कहना है कि जिस प्रकार हमलोग अनावश्यक तथा व्यर्थ की चीजो को एक ऐसे घर में रख देते हैं जो व्यर्थ की सामग्रियो को रखने के लिए ही बना रहता है, उसी प्रकार अचेतन मन में भी हमारी अनावश्यक एवं व्यर्थ की मानसिक क्रियाएँ निष्क्रिय रूप में तिरस्कृत होकर पड़ी रहती हैं। इस प्रकार ये अचेतन मन की क्रियाएँ न तो चेतन क्रियाओं की तरह किसी महत्त्व की होती हैं और न जीवन की प्रधान क्रियाओ में उनका कुछ महत्त्व ही रहता है। इन विद्वानों ने इस अंचल में कुछ ऐसे नैतिक सामान्य प्रत्ययों (concepts) की भी सत्ता स्वीकार की है जिनके लिए हमारा व्यक्तित्व समर्थ नहीं रहता। अभिप्राय यह कि दार्शनिक दृष्टिकोण जिसका हम अभी ऊपर वर्णन कर चुके हैं और जिसके अनुसार हमारा अचेतन व्यर्थ की मानसिक प्रक्रियाओं का कोष-मात्र है, इस वैज्ञानिक युग के लिए मान्य नहीं है। ऐसी निष्क्रियता अचेतन-मन की, आज का वैज्ञानिक युग मानने के लिए तैयार नहीं है, जब कि अधिकाश शिक्षित व्यक्ति इसकी समर्थता को स्वीकार कर चुके हैं।

तीसरे वर्ग को हम मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण कह सकते है; क्योंकि इसको प्रचलित करनेवाला सर्वप्रथम फ्रायड ही था। इसकी सत्ता को फ्रायड ने कल्पना के आधार पर नहीं, बल्कि प्रयोगों और अपनी व्यावहारिक अनुभूतियो के आधार पर प्रमाणित किया है। इसे हम दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण कह सकते हैं। उसने अचेतन की दो अवस्थाएँ व्यक्त की हैं, जिन्हें हम क्रमशः अवचेतन (Pre conscious) तथा अचेतन समुचित,

(Unconscious proper) कह सकते हैं। उसका कहना है कि अवचेतन मानसिक प्रक्रियाओं की जानकारी मनुष्य को आसानी से हो जाती है; लेकिन अचेतन प्रक्रियाओ का ज्ञान साधारण तरीकों से प्राप्त करना सभव नहीं है। जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी अनुभूतियों के आधार पर किया है। उसके रोगी जिन मानसिक क्रियाओं को अन्तर्निरीक्षण (Introspection) के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ होते थे उन्हीं क्रियाओं को मनोविश्लेषण करने पर वे आसानी से व्यक्त करते थे। फ्रायड का अचेतन के प्रति दृष्टिकोण उपर्युक्त दृष्टिकोणों से पूर्णतः भिन्न है; क्योंकि वह अचेतन-मन की समर्थता और गत्यात्मकता में विश्वास करता है। उसका कहना है कि अचेतन में हमारी निष्क्रिय एव व्यर्थ की ही मानसिक प्रक्रियाएँ नहीं रहतीं; बल्कि उसमें ऐसी प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं जिनसे हमारा सम्पूर्ण व्यवहार तथा व्यक्तित्व प्रभावित होता रहता है। इसके पहले कि हम अचेतन के आविर्भाव, विकास तथा विशेषताओं का उल्लेख करें हमें उन प्रमुख प्रमाणों का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो अचेतन की सत्ता को पुष्ट करते हैं और जिनके आधार पर फ्रायड ने अपने क्रान्तिकारी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

अचेतन की सत्ता के प्रमुख प्रमाण

प्रायः हम सभी बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष स्वप्न देखते हैं। उस समय हमारी चेतना भी काम नहीं करती है तथापि हम स्वप्न-ससार का आनन्द लूटते हैं। यहाँ स्वतः प्रश्न खड़ा होता है कि जब हमारी चेतना सोते समय काम नहीं करती तब हमें स्वप्नों की अनुभूतियाँ 'कहाँ' से होती हैं? इस 'कहाँ' का उत्तर हम चेतन-मन की क्रियाओं के आधार पर कदापि नहीं दे सकते; क्योंकि ऐसे व्यापारो की व्याख्या करने के लिए तो हमें यह कहना ही होगा कि ऐसी अवस्था में हमारे अचेतन-मन की क्रियाएँ होती हैं और वे ही हमारे विभिन्न स्वप्नों को जन्म भी देती हैं। इतना ही नहीं, हम स्वप्न की हालत मे ऐसी-ऐसी घटनाओं की अनुभूति करते हैं जो हमें बहुत बेतुकी और असगत मालूम होती हैं। किंतु, जब हम स्वतन्त्र साहचर्य (Free Association) के द्वारा उन स्वप्नों की घटनाओं की व्याख्या करते हैं तब उनकी सार्थकता समझ में आती है। स्वप्न का छिपा हुआ यह अर्थ मनोवैज्ञानिक भाषा में अव्यक्त घटक (Latent Content) कहलाता है। अतएव ऐसे स्वप्न-घटकों की व्याख्या भी अचेतन-मन की सत्ता को प्रमाणित करती है। स्वप्न में हम अपने को अपने प्रियजन की हत्या करते हुए पाते हैं, आकाश मे

उड़ने और मृत व्यक्ति से बात करने या मरे हुए को फिर से मरा हुआ देखने की स्वप्न-अनुभूतियाँ बहुत ही सामान्य हैं। कोई भी व्यक्ति चेतनतया अपने प्रियजन की हत्या करने का नहीं सोच सकता और न तो कोई जागरूक अवस्था मे आकाश मे पक्षियो की तरह उड़ ही सकता है। तब भला ऐसे स्वप्न क्यों? ऐसे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही है कि जो इच्छाएँ हममें उत्पन्न होती हैं, किंतु असामाजिक, अनैतिक अथवा सामर्थ्य के बाहर होने से जिनकी संतुष्टि जाग्रतावस्था मे नहीं होती, उन्हें हमारा मन दमन के द्वारा अचेतन-क्षेत्र मे कर देता है। किंतु, वे इच्छाएँ वहाँ जाकर निष्क्रिय एवं निर्बल नही हो जातीं, बल्कि पहले से और भी प्रबल रूप धारण कर बराबर वे अपनी संतुष्टि के लिए कोशिश किया करती हैं। उन्हे चेतन-मन का बराबर भय बना रहता है; इसलिए वे उसके प्रतिबन्ध (Censor) से बचने के लिए छद्म वेश मे सोते समय स्वप्न-संसार का निर्माण कर अपनी संतुष्टि करती हैं।

केवल स्वप्न की ये अनुभूतियाँ ही अचेतन मन की सत्ता को प्रमाणित नहीं करतीं, बल्कि सम्मोहन तथा सम्मोहनोत्तर संसूचन व्यापार भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। जब किसी व्यक्ति विशेष को, जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा मे प्रयोज्य (Subject) कहते हैं, सम्मोहित कर दिया जाता है तो उस अवस्था में वह जो कुछ करता या कहता है, उसका ज्ञान उसे सम्मोहनोत्तर नही रहता। इसलिए हमें यह बाध्य होकर मानना पड़ता है कि उस समय की उसकी सभी क्रियाएँ अचेतन के ही द्वारा संचालित होती हैं।

यहाँ तक भी देखने मे आता है कि सम्मोहन की हालत मे सम्मोहनोत्तर जो काम करने का आदेश सम्मोहनकर्त्ता अथवा प्रयोक्ता प्रयोज्य को देता है उसका ज्ञान न रहने पर भी वह प्रयोज्य उचित समय पर उस कार्य को सम्पादित करता है। जब उससे उस काम के करने का कारण पूछा जाता है तब वह कुछ मनगढ़ंत कारण लोगों को व्यक्त कर देता है। अगर आप स्वयं किसी को सम्मोहित कर उसे सम्मोहन के बाद किसी निश्चित समय पर अपने यहाँ आने का आदेश दे तो वह व्यक्ति अवश्य ही उस समय आपके यहाँ पहुँच जायगा भले ही पूछने पर वह आपको वास्तविक कारण न बतावे। एक बार एक महिला को सम्मोहित कर उसे दूसरे दिन बारह बजे एक स्थान विशेष पर दीपक जलाने का आदेश दिया गया। वह महिला दूसरे दिन उक्त समय से पहले ही कुछ आकुल प्रतीत होने लगी और जब बारह बजा तो उसने तत्काल ही निर्दिष्ट स्थान पर दीपक जला दिया। जब उससे पूछा गया कि वह दिन में दीपक क्यो जला रही है तो उसने अपने तर्क के अनुसार कारण व्यक्त किया। सम्मोहनोत्तर के ऐसे व्यापार इस बात

के साक्षी हैं कि जब सम्मोहनावस्था के निर्देश व्यक्ति की चेतना में नहीं रहते तो वे उस समय अचेतन में ही पड़े रहते हैं और वहीं से व्यक्ति-विशेष के कार्य को संचालित करते हैं।

दैनिक मनोविकृतियाँ (Psychopathology of Everyday life), जिनमें लिखने और बोलने की भूलें, सांकेतिक चेष्टाएँ (Symbolic Actions) यथा, कुंजी का गुच्छा हाथ में लेकर घुमाते रहना, दाढ़ी या मूँछ पर रह-रहकर हाथ फेरना, आँख या अन्य अंग-विशेष चमकाना, किसी वस्तु-विशेष का संग्रह करना आदि की परिगणना होती है, अचेतन मन की सत्ता को प्रमाणित करती हैं। हम किसी आदमी को खूब अच्छी तरह जानते हैं, लेकिन उसका नाम बराबर भूल जाते हैं। चिट्ठी लिखकर छोड़ना भूल जाते हैं या ऊपर पता लिखना ही भूल जाते हैं। किसी व्यक्ति को निश्चित समय पर ऋण का रुपया देना विस्मृत हो जाता है। ये ऐसे उदाहरण हैं, जिनका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि हमारे मन में कुछ ऐसी इच्छाएँ दबी हुई हैं जिनकी चेतना हमें नहीं है; लेकिन वे हमें कार्य-विशेष को करने से रोक देती हैं जिसे हम भूलने की संज्ञा देते हैं। स्वयं फ्रायड ने बहुत-से ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया है, जो अचेतन मन की कार्यवाही पर प्रकाश डालते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार अविवाहित युवती को कुमारी तथा विवाहित को श्रीमती कहते हैं। लेकिन एक महिला ने एक विवाहिता को कुमारी कहकर ही कई बार सम्बोधित किया। जब उसकी इस भूल का मनोविश्लेषण किया गया तो मालूम हुआ कि वह महिला, जिसने विवाहिता महिला को बार-बार कुमारी कहकर सम्बोधित किया, नहीं चाहती थी कि वह महिला जो विवाह कर चुकी थी, उस पति से ब्याह-सम्बन्ध स्थापित करे, क्योंकि सम्बोधित करनेवाली स्वयं उस पुरुष से प्रेम करती थी और उसे अपना पति बनाना चाहती थी। जब किसी कारणवश वह उस पुरुष से ब्याह नहीं कर सकी तो ब्याह करनेवाली स्त्री से उसे द्वेष और घृणा हो गयी। यही कारण था कि उसने उसे कुमारी नाम से ही सम्बोधित किया। इसी तरह हम किसी अपने प्रेमी से बार-बार मिलना चाहते हैं लेकिन अभिभावक हमारा बार-बार मिलना बुरा मानते हैं। अतएव वहाँ जाने के लिए तथा तार्किक कारण व्यक्त करने के लिए हम अचेतनतया अपना कोई आवश्यक सामान भूल आते हैं और पुनः इस प्रकार अपने प्रेमी से मिलने का अवसर ढूढ़ते हैं। इसी प्रकार सांकेतिक चेष्टाएँ भी हमारे अचेतन मन की सत्ता के ही प्रमाण को पुष्ट करती हैं, जिनपर विशेष प्रकाश डालना हम यहाँ आवश्यक नहीं समझते हैं।

स्वप्नचारिता को ही लें। इस व्यापार से भी अचेतन की सत्ता तथा उसकी कार्यवाहियों पर काफी प्रकाश पड़ता है। यह एक असाधारण व्यापार है। जब मनुष्य सोने की हालत में रहता है तो उस समय वह उठकर अपने आवश्यक कार्य को करके पुनः सो जाता है। जब वह सवेरे उठता है तो उस किये हुए कार्य को देखकर उसे स्वयं आश्चर्य होता है; क्योंकि उस काम की उसे कुछ भी चेतना नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक होता है कि जब ऐसे किये हुए कामों की चेतना कर्त्ता को नहीं रहती तो वह किस अवस्था में उस काम को कर सका? इसका उत्तर यही कहकर दिया जा सकता है कि जब उसने उस कार्य-विशेष को किया तो उस समय उसमे अचेतन मन की क्रियाएँ काम कर रही थीं, चेतन-मन की नहीं। यही कारण है कि कर्त्ता को अपने किये हुए कार्य की चेतना कुछ नहीं रही। स्वप्नचारिता की अवस्था में डाक्टरों द्वारा किये आपरेशन, विद्वानों द्वारा रचित नयी रचनाओं आदि के कई उल्लेख मिलते हैं। कई धुरन्धर साहित्यकारों ने भी अचेतन-मन की कार्यवाही का वर्णन करने के लिए अपने पात्रों में इस व्यापार को दिखलाया है। लेखक के एक मित्र जो एक महाविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य हैं, इस स्वप्नचारिता के शिकार हैं। जब वे रात में सोते हैं तो कभी-कभी ऐसा काम कर बैठते हैं जिसके लिए सवेरे उन्हें स्वयं आश्चर्य होता है।

गणितज्ञों को ऐसे अवसर जीवन में कई बार आते हैं जब वे किसी कठिन प्रश्न को सुलझाते-सुलझाते परेशान होकर अन्त मे उसे छोड़ देते हैं। किन्तु जब वे दूसरे दिन सवेरे सोकर उठते हैं तब उन्हें अपना प्रश्न सुलझा हुआ मालूम होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब प्रश्न को हल करनेवाला व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा में था तो उस समय उसका अचेतन-मन प्रश्न को हल करने में लगा हुआ था, जिसके फलस्वरूप सवेरे वह प्रश्न सुलझा हुआ मिला।

फ्रायड ने स्वयं ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें रोगियों को अपनी विगत शैशव स्मृतियाँ याद आती थी। जब रोगी स्वतंत्र साहचर्य-विधि से कहना प्रारंभ करते थे तो वे ऐसी-ऐसी चिरविस्मृत स्मृतियों को व्यक्त करते थे जो उनके चेतन-मन से पूर्णतः अज्ञात रहती थीं। वस्तुतः उनकी ऐसी स्मृतियों का कोष अचेतन-मन ही रहता था। ऐसी ही अनेक अनुभूतियों और प्रयोगों के आधार पर फ्रायड ने अपने अचेतन-मन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। और भी कई प्रमाण इसी प्रकार अचेतन-मन की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए दिये गये हैं; किंतु उपर्युक्त प्रमाण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

अचेतन-मन की सत्ता को प्रमाणित करते हुए फ्रायड ने कहा है कि हमारा अचेतन-मन चेतन से अत्यधिक प्रभावशाली और क्रियाशील है। हमारे सभी चेतन विचार एवं व्यवहार अचेतन से ही निर्धारित होते हैं। अचेतन में दबी हुई इच्छाएँ निरंतर अपनी संतुष्टि के लिए संघर्षशील रहती हैं। इनकी क्रियाशीलता चेतन-मन की क्रियाशीलता से अधिक जोरदार होती है। इसलिए कुछ विद्वानों ने अचेतन के महत्त्व को व्यक्त करने के लिए मन की उपमा सागर में बहती हुई एक बर्फशिला से दी है, जिसका सात भाग पानी में और एक भाग पानी के ऊपर रहता है। वस्तुतः हमारे मन की अधिकांश क्रियाएँ तो अचेतन ही होती हैं। चेतन क्रियाओं की संख्या तो अत्यधिक सीमित है। लेकिन इतना होते हुए भी जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है हमारे अधिकांश व्यवहार अचेतन-मन के ही द्वारा निर्धारित एवं परिचालित होते हैं।

अचेतन की विशेषताएँ

इसके पहले कि हम अचेतन की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख करें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि फ्रायड ने मन का विभाजन कई दृष्टिकोणों से किया है। अचेतन, अवचेतन (Preconscious) और चेतन के विभाजन को हम आकारात्मक (Topographical) कह सकते हैं। इसी प्रकार उसने इसका गत्यात्मक (Dynamic) विभाजन भी अबोधात्मा (Id), बोधात्मा या अहं (Ego) तथा आदर्शात्मा (Super-ego) में किया है। लेकिन उनके वर्णन की यहाँ हम कोई आवश्यकता नहीं समझते।

अब अचेतन की विशेषताओं का वर्णन करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसके आविर्भाव के सम्बन्ध में फ्रायड का कहना है कि अचेतन का आविर्भाव दमन-प्रक्रिया (Repression) के ही फलस्वरूप है। जब किसी व्यक्ति-विशेष की अचेतन प्रक्रियाएँ चेतन में आकर अपनी संतुष्टि के लिए चेष्टा करती हैं तो व्यक्ति-विशेष उन इच्छाओं को स्वतः दबा देता है और इस प्रकार वे अचेतन ही बनी रहती हैं। दमन की यह प्रक्रिया इसलिए होती है कि व्यक्ति-विशेष का चेतन-मन उन इच्छाओं की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता; क्योंकि अचेतन इच्छाएँ उसके नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदर्शों से पूर्णतः विपरीत होती हैं। अचेतन इच्छाओं का ऐसा स्वरूप उस व्यक्ति-विशेष के आदर्श एवं व्यक्तित्व के लिए असंगत अथवा उसके विरुद्ध प्रतीत होता है। इसलिए सामाजिक तथा अन्य प्रकार के संतुलन को बनाये रखने के लिए दमन

की प्रक्रिया होती है और इसके फलस्वरूप अचेतन का जन्म होता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यह प्रक्रिया अधिकांशत: स्वत: एवं अचेतन होती है; किंतु कुछ अशों में इसमें चेतना की भी गध रहती है। जब कोई असंगत (Incompatible) विचार मनुष्य के मन में आविर्भूत होता है तो वह उसके लिए इतना दारुण और असह्य होता है कि वह स्वत: उसकी सत्ता को अस्वीकार करते हुए उसे अपने मन से निकाल भगाता है। इस प्रकार जिन विचारों का दमन होता है उनके दमन में तो हमारी चेतना (इच्छा) का कुछ अवश्य ही हाथ रहता है। प्राय: ऐसी अनुभूतियों के अवसर तो हम लोगों के जीवन में यदाकदा आते ही रहते हैं। लेकिन इससे पाठकों को यह नहीं समझना चाहिये, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कि दमन-प्रक्रिया सर्वांशत: इसी प्रकार की होती है। ऐसा तो कभी-कभी होता है अन्यथा प्राय: दमन-प्रक्रिया स्वत: और अचेतन ही होती है।

उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए अब हम यहाँ अचेतन की विशेषता को व्यक्त करने के लिए यह कह सकते हैं कि हमारा अचेतन-मन दमित (Repressed) सामग्रियों का भाण्डार है। इसके कहने का अभिप्राय, जैसा कि ऊपर के वर्णन से भी स्पष्ट है, यह है कि हमारे अचेतन में वे ही मानसिक प्रक्रियाएँ विद्यमान रहती हैं जिन्हें हमारा मन अपने चेतन अंचल में आने नहीं देता और जिनको चेतन-मन मे न आने देने के लिए दमन-प्रक्रिया होती रहती है। ऐसा क्यों होता है, इसकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं।

हमें यह भी याद रखना होगा कि अचेतन निष्क्रिय मानसिक सामग्रियों या प्रक्रियाओं का आगार नहीं, बल्कि सक्रिय मानसिक प्रक्रियाओं (Active mental processes) प्रक्रियाओं का आगार है। हमारी अचेतन मानसिक प्रक्रियाओं का स्वरूप पूर्णत: इच्छात्मक (Conative) होता है, जिन्हें कि हम इच्छाओं की सज्ञा दे सकते हैं। अतएव ये दमन की हुई इच्छाएँ निरतर अपनी परितुष्टि के लिए संघर्ष किया करती हैं, भले ही वह संतुष्टि कल्पनात्मक या वास्तविक स्वरूप की ही क्यों न हो। उनकी इसी सक्रियता के फलस्वरूप हमलोग न मालूम कितने अचेतन व्यवहारों का प्रदर्शन करते हैं। हमारे ऐसे अचेतन व्यवहार उन इच्छाओं की अभिव्यक्ति के ही परिचायक हैं। इसीलिए वद्वानों ने अचेतन को गत्यात्मक स्वरूप (Dynamic Nature) का कहा है।

जब हमलोग जन्म लेते हैं तो उस समय हममें कई मौलिक मूलप्रवृत्तियाँ (Primary Instincts) मौजूद रहती हैं। ये मूलप्रवृत्तियाँ प्रधानत: असंस्कृत स्वरूप की होती हैं, इसलिए यदि मनुष्य इन मूलप्रवृत्तियों का परिमार्जन (Modification) न करे तो उसका समाज में रहना ही कठिन हो जाय। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के अन्य सदस्यों के साथ उसे निरंतर रहना पड़ता है, अतएव अपने आपको समाज में अभियोजित करने के लिए वह अपनी इन मूलप्रवृत्तियों को संशोधित कर लेता है। उसके इस संशोधन में शिक्षा और अनुभव का अत्यधिक हाथ रहता है। यद्यपि यह कहना कुछ कठिन है कि उन्हें संशोधन करने में कितना आन्तरिक संघर्ष अपनी इन मूलप्रवृत्तियों से करना पड़ता है। वस्तुत: यदि इन प्रवृत्तियों का संशोधन मनुष्य नहीं करता तो आज के सभ्य युग में भी वह पशुवत् ही रहता। ये मौलिक मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य को स्वार्थी, निर्दयी, आत्मकेन्द्रित (Egocentric) झक्की (Impulsive) गदा, उद्धत एवं धूर्त ही रखतीं। इतना ही नहीं बल्कि इनके प्रभाव से प्रभावित होकर आज भी वह समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं एवं समाज के आदर्शों से भी लापरवाह रहता। किंतु शिक्षा एवं अनुभव के द्वारा मनुष्य इन्हें सशोधित कर लेता है, यद्यपि उसे उनके संशोधन में पूर्ण सफलता नहीं मिलती है। अतएव ये असंस्कृत प्रवृत्तियाँ मनुष्य में आजीवन अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष किया करती हैं। यही कारण है कि संस्कृत से संस्कृत एवं शिक्षित व्यक्ति भी कभी-कभी अवसर मिलने पर ऐसी अपरिमार्जित प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। हम ऊपर अचेतन सामग्रियों के स्वरूप का उल्लेख कर चुके हैं कि वे किस स्वरूप की होती हैं। अत: यहाँ हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि हमारे अचेतन-मन का सम्बन्ध इन असंस्कृत मौलिक मूलप्रवृत्तियों से अत्यधिक घनिष्ठ है। लेकिन यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अचेतन की सन्निकटता उन अपरिमार्जित मूलप्रवृत्तियों से ही है, परिमार्जित मूलप्रवृत्तियों से नहीं। हम इसका ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि हमारी अचेतन प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की होती हैं, अतएव उनकी पुनरावृत्ति न करके हम यहाँ यह कह सकते हैं कि हमारा अचेतन मूलप्रवृत्यात्मक स्वरूप का है। इसी कारण अचेतन को मौलिक मूलप्रवृत्तियों से अत्यधिक सम्बन्धित भी कहा जाता है।

इतना ही नहीं बल्कि हमारा अचेतन-मन शैशवस्वरूप (Infantile nature) का होता है; क्योंकि जब हमलोग जन्म लेते हैं उसी समय

मन का विभक्तिकरण बचपन में ही चेतन और अचेतन में हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जन्म के समय हममें अपरिमार्जित एवं असंस्कृत प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है, जिनके अनुसार चलने से सामाजिक अभियोजन असंभव है। इसलिए उसी समय दमनकारी प्रक्रिया और इन प्रवृत्तियों में संघर्ष छिड़ जाता है। इसी के फलस्वरूप मन का विभक्तिकरण चेतन और अचेतन में सामाजिक अभियोजन के लिए हो जाता है। इस प्रकार आदिम (Primordial) प्रवृत्तियों का दमन अचेतन मन में हो जाता है और उनकी शक्तियों का व्यय अन्य सामाजिक आदर्शों को प्राप्त करने में होता है। लेकिन, जैसा कि हम पहले व्यक्त कर चुके हैं, दमन करने से ये प्रवृत्तियाँ विनष्ट नहीं होतीं बल्कि दुर्बोध अचल में पड़ी रहती हैं और निरंतर अपनी अभिव्यक्ति अप्रछन्न (Indirect) एवं कुटिल प्रकारों से करने की चेष्टा किया करती हैं और कभी-कभी वे अपने प्रयत्न में सफल भी होती हैं। अचेतन प्रवृत्तियों की यह अवस्था आजीवन बनी रहती है। अतएव अचेतन सदा शैशवस्वरूप ही रहता है। इससे अचेतन-मन के भोलापन पर ही प्रकाश पड़ता है। हम प्रकाश्य रूप से अपने बचपन में ही सीधे-सादे रहते हैं, किंतु हमारा अचेतन-मन आमरण भोलाभाला ही रहता है।

अभी ऊपर जो कहा गया है उसको ध्यान में रखते हुए यद्यपि अचेतन को लैंगिक कहना असंगत प्रतीत होगा; लेकिन हम इसकी लैंगिकता (Sexuality) की उपेक्षा नहीं कर सकते। अचेतन की इस विशेषता को समझने के लिए पाठकों को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि लैंगिकता का व्यवहार फ्रायड ने बहुत ही प्रशस्त अर्थ में किया है। उसके अनुसार माता-पिता का संतान के प्रति स्नेह, दो मित्रों का पारस्परिक प्रेम आदि सभी लैंगिक हैं। इस प्रकार उसने किसी प्रकार के भी प्रेम-व्यवहार को लैंगिक कहा है। जो विद्वान लैंगिक पद का इस्तेमाल संकीर्ण अर्थ में करते और जिनके अनुसार कामवासना या सभोग-व्यापार ही लैंगिकता का परिचायक है, वे भारी भूल करते हैं। फ्रायड ने लैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ को व्यक्त करते हुए यह अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है कि बच्चों की लैंगिक क्रियाएँ क्योंकर जन्म के ही समय से आविर्भूत होकर विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करती हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि बच्चों और सयानों के लैंगिक व्यवहार में अत्यधिक अन्तर रहता है। यदि बच्चे किसी चीज को अपने मुँह में डालकर और चूसकर लैंगिक इच्छा की परितृप्ति करते हैं तो सयाने उसी इच्छा की पूर्ति लैंगिक संभोग द्वारा करते हैं। अतएव

अचेतन शैशवस्वरूप का होते हुए भी लैंगिक है। इसी को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अचेतनमन प्रेम-पिपासु है। इस कथन की सत्यता नित्यप्रति के अनुभवो से पूर्णत: प्रमाणित होती है। सभी व्यक्ति किसी-न-किसी व्यक्ति को प्रेम करते या करना चाहते हैं और वे दूसरों का भी प्रेम-पात्र होना चाहते हैं। किंतु जिनकी यह इच्छा किसी कारणवश संतुष्ट नहीं होती तो वे जीवन में बहुत ही खिन्न रहते हैं। चूँकि अचेतन प्रेम-पिपासु होता है, इसलिए जिन्हें उचित व्यक्ति प्रेम-पात्र नहीं मिलता वे पशु, पक्षी, फल, फूल आदि पदार्थों से प्रेम कर अपने अचेतन की इच्छा को सतुष्ट करते हैं। ऐसे बड़े-बड़े विद्वानों के उदाहरणों की कमी नहीं है जिन्होंने प्रेमपात्र के अभाव में अपना प्रेम कीट, पतंग, पशु-पक्षी, आदि के प्रति प्रगट किया है। संतान-विहीन व्यक्तियों का पशु-पक्षी पालना, किसी ललना का पति के रहते हुए किसी जानवर विशेष के प्रति स्नेह प्रदर्शित करना आदि अचेतन के लैंगिक-स्वरूप अथवा प्रेम-पिपासु होने के ही परिचायक हैं। अत: हमारा अचेतन लैंगिक है, यह निर्विवाद सत्य है।

शैशव की गंध रहने के कारण इसकी क्रियाएँ भी उसी प्रकार की होती हैं। जैसे बच्चों को उचित, अनुचित, समय, स्थान आदि का ज्ञान नहीं रहता और उनके मन में जो आ गया वही कर बैठते हैं या अपने अभिभावकों को वही करने के लिए बाध्य करते हैं, ठीक वही अवस्था अचेतन-मन की है। इसे भी उचितानुचित का कुछ ज्ञान नहीं रहता है और जो चाहता है उसी को करने की चेष्टा करता है, भले ही उसके ऐसा करने में बाधाएँ उपस्थित हों, लेकिन वह उनपर विचार नहीं करता है। इसीलिए विद्वानों ने इसे तार्किक तथा नैतिक आदर्शों का वहिष्कारक कहा है। वस्तुत: यह तार्किक एवं नैतिक आदर्शों की परवाह न कर उनकी उपेक्षा करता है। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि अचेतन को भी अपने तर्क होते हैं; किंतु वे तर्क विचार पर आधारित न होकर संवेग पर आधारित रहते हैं। और, हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि संवेगात्मक पहलू क्योंकर विचार-विहीन होता है। यही कारण है कि यह नैतिक एवं तार्किक आदर्शों की उपेक्षा करता है। इसीलिए विद्वानों ने इसे अतार्किक (Illogical) तथा अनैतिक (Immoral) भी उद्घोषित किया है।

इतना ही नहीं बल्कि इसकी कार्यवाहियाँ निरंतर सुखेच्छु-दुखेच्छु वृत्तियों (Pleasure-pain principles) द्वारा निर्धारित होती हैं, वास्तविकता (Reality) द्वारा नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हमारा चेतन-मन वास्तविक मूल तत्त्वों से संचालित होता है उस प्रकार

अचेतन-मन नहीं। उसमें सुखेच्छु मनोवृत्तियाँ इतनी प्रबल रहती हैं कि वह उन्हीं के द्वारा अपनी सभी क्रियाओं को करता है। इस प्रकार वास्तविकता की उपेक्षा करना ही उसका प्रधान धर्म है।

यह अचेतन-मन वाह्य विश्व की वास्तविकता से इतना अधिक अलग रहता है कि उसे इसका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। हमारे चेतन-मन को निरंतर वाह्य वास्तविकता के सम्पर्क में रहना पड़ता है, इसलिए उस वास्तविकता से वह बराबर प्रभावित होता रहता है। लेकिन इससे परे रहने के कारण हमारा अचेतन-मन इससे कुछ भी प्रभावित नहीं होता है। यही कारण है कि हमलोग अपने अचेतन-मन को प्रभावित करने में साधारण तरीके से पूर्णत: असमर्थ होते हैं। इस कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायगी जब हमलोग ऐसे व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करेंगे जो बिना कारण किसी अन्धकार या ऊँचे स्थान पर जाने में भयभीत होते हैं।

यह समय के ज्ञान से भी अनभिज्ञ ही रहता है। वस्तुत: अचेतन मानसिक प्रक्रियाएँ समय के प्रतिबन्ध से परे रहती हैं। इसलिए इस स्वतंत्रता के कारण अधिक व्यवधान की घटनाओं का भी साहचर्य (Association) के कारण घनीकरण (Condensation) होता रहता है। इस कथन की पुष्टि स्वप्न-व्यापार की अनुभूतियों से भी, आसानी से हो जाती है। हमें स्वप्न में किस प्रकार विभिन्न घटनाओं का अनुभव घनीकरण के कारण एक ही समय और साथ-साथ होता है, यह स्वप्न-द्रष्टा पाठकों से छिपा हुआ नहीं है।

अचेतन-मन में दबे विचारों या इसकी क्रियाओं को धनात्मक पदों (Positive terms) में ही व्यक्त किया जा सकता है; क्योंकि इस अंचल को 'नहीं' का ज्ञान ही नहीं रहता। इसीलिए फ्रायड ने कहा है कि हमारे अचेतन मन में 'नहीं' की सत्ता ही मौजूद नहीं रहती।

इतना ही नहीं बल्कि जिस प्रकार हमारे चेतन मन के दो विचारों या इच्छाओं में विरोध रहता है और वे एक दूसरे के समक्ष असंगत प्रतीत होते हैं, वैसी बात अचेतन-मन की इच्छाओं के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। कैसे भी दो असंगत विचार क्यों न हो लेकिन वे अचेतन-मन में बिना किसी विरोध के साथ-साथ बने रहते हैं। उनमें किसी प्रकार के विरोध अथवा असंगतता की गंध भी नहीं रहती है। अतएव इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि अचेतन के दो विरोधी विचार पूर्णत: समान महत्व के होते हैं, इसलिए उन्हें हम विनिमयशील (Interchangeable) भी कह सकते हैं। अचेतन के दो विरोधी विचारों की विनिमय-

शीलता को फ्रायड ने अपने अन्वेषणों से प्रमाणित कर दिया है, जिसका उल्लेख करना यहाँ सभव नहीं है।

अचेतन की मानसिक प्रक्रियाएँ व्यक्ति-विशेष के चेतन विचारों से पूर्णतः स्वतन्त्र होती हैं। इसलिए स्थलांतर (Displacement) और घनीकरण की प्रक्रियाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक हुआ करती हैं। इसी प्रकार अचेतन की अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया जा सकता है, किंतु प्रधानता उपर्युक्त विशेषताओं की है। अतएव उनका वर्णन करना हम आवश्यक नहीं समझते हैं।

अचेतन-मन का असाधारण मनोविज्ञान मे महत्त्व

अब तक हम अचेतन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते रहे हैं; लेकिन यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इसका असाधारण मनोविज्ञान में क्या स्थान है? अतएव इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप हम इसके महत्त्व को व्यक्त करने के लिए यह कह सकते हैं कि अचेतन का स्थान इस मनोविज्ञान में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हम पहले भी व्यक्त कर चुके हैं इसी की जड़ पर आधारित यह मनोविज्ञान है। आज जितनी उन्नति हो चुकी है वह इसी अचेतन-मन के प्रसाद-स्वरूप है। यदि यह मनोविकृति-विज्ञान (Psychopathology) में न रहता तो इस विज्ञान की जो रूपरेखा आज देखने मे आती है वह कदापि नहीं रहती।

संभवतः पाठकों से छिपा हुआ नहीं है कि आज मानसिक विकृतियों की दैहिक चिकित्सा न होकर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा हो रही है। यह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा अचेतन-मन में विश्वास के फलस्वरूप ही आविर्भूत और विकसित हुई है। पहले जब तक लोगों को इस दुर्बोध-मन का ज्ञान नहीं था तब तक लोग सभी प्रकार की चिकित्सा के लिए डाक्टरों और वैद्यों की शरण लेते थे। जो व्याधियाँ दैहिक रहती थीं उनकी चिकित्सा में तो सफलता मिलती थी; किन्तु मानसिक बीमारियों में शत-प्रतिशत असफलता ही मिलती थी। लेकिन जब से मन के इस स्तर का ज्ञान विद्वानों को हुआ है तभी से विभिन्न मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-विधियों का भी आविर्भाव हो गया है। आज ऐसी बीमारियों की चिकित्सा-विधि एक नहीं अपितु कई हैं, जिनपर स्थल विशेष पर प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि अचेतन की सत्ता में विश्वास कर विद्वानों ने पहले-पहल मनोस्नायु-विकृतियों (Psychoneuroses) की ही चिकित्सा प्रारम्भ की और उन्हें अपने

प्रयत्न में काफी सफलता भी मिली। लेकिन आज विभिन्न मनोविकृतियों (Psychoses) की भी चिकित्सा मनोवैज्ञानिक प्रणाली से की जाती है और इस दिशा में भी सफलता ही मिल रही है। अगर अचेतन-मन की सत्ता प्रमाणित नहीं हुई रहती तो मनोवैज्ञानिक व्याधियों से पीड़ित व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ कर अपना जीवन-सुखमय व्यतीत करने में आज भी समर्थ नहीं होते और समाज उनके बोझ को परिवहन करने में अपने को पूर्णतः असमर्थ पाता। हर्ष का विषय है कि इन मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणालियों का व्यवहार भारतवर्ष के कुछ अंचलों यथा, कलकत्ता, बनारस, पजाब, राँची, आदि में भी हो रहा है।

जब तक लोगों को अचेतन-मन का ज्ञान नहीं था और जब तक लोग इसके विभिन्न घटकों (Contents) तथा विशेषताओं से अनभिज्ञ थे तबतक उन्हें किसी प्रकार की विकृत (Morbid) अभिव्यक्तियों की सार्थकता नहीं मालूम होती थी। लेकिन जब आज लोग इसकी विभिन्न क्रिया-प्रणालियों से परिचित हो गये हैं तब मनुष्य के ऐसे व्यापारों को भी समझने लगे हैं। इस युग मे आतंक (Phobia), विभ्रम (Hallucination) आदि व्यापार लोगों को सार्थक प्रतीत होते हैं; क्योंकि अचेतन के प्रसाद से अब वे आसानी से समझ में आ जाते हैं कि ये सभा व्यापार व्यक्ति-विशेष के अचेतन-मन की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अचेतन की अनभिज्ञता में जो व्यवहार निरर्थक एवं असंगत प्रतीत होते थे वे ही अब पूर्णतः संगत और सार्थक प्रतीत होते हैं। नख काटना, पैर हिलाना आदि सभी व्यवहारों को हमलोग अचेतन की कार्यवाही और उसकी संतुष्टि का साधन सरलतया समझ लेते हैं।

इतना ही नहीं बल्कि पहले जब इसका ज्ञान लोगों को नहीं था तब लोग ऐसे व्यवहारों के कारण को समझने में पूर्णतः असमर्थ रहते थे; लेकिन अब ऐसे व्यवहारों को और उनके कारणों को कम-से-कम मनोविज्ञान-विशारदों को जानने मे कोई कठिनाई नहीं होती है। पहले जब कोई दूसरों की आलोचना करने मे हो तल्लीन रहा करता था तो लोग आश्चर्य करते थे कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। लेकिन अब ऐसे आलोचक के सम्बन्ध में यह कहना बहुत आसान हो गया है कि वह अपनी दबी हीनपरिज्ञान की भावना (Feeling of Inferiority complex) को दूसरों की कटु आलोचना करके छिपाना चाहता है और इस प्रकार अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की कोशिश करता है। इसी प्रकार जितने भी असाधारण व्यवहार लोगों के होते हैं उन सबके कारणों को हमलोग उनके अचेतन-मन में खोज निकालते

हैं। दिवा-स्वप्न, मनोव्यापार संतुष्टि (Schizophrenia), स्वप्नचारिता आदि जितने भी असाधारण व्यवहार है उन सबका कारण अचेतन-मन की कोई इच्छाविशेष ही रहती है। अगर इस अचेतन का ज्ञान हमें नहीं रहता तो भला असाधारण व्यवहारों के कारणों को कैसे जानते।

पहले सामान्य तथा असाधारण व्यवहार में लोग आकाश-पाताल का अन्तर समझते थे; लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। इन दोनों में जो महान अन्तर समझा जाता था वह अचेतन-मन के परिज्ञान के प्रसाद से समाप्त हो गया है; क्योंकि जिन व्यवहारो को हम साधारण जीवन में असाधारण कहते हैं वे ही व्यवहार अचेतन-मन के लिए सामान्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अचेतन-मन के ज्ञान की जो देन असाधारण मनोविज्ञान को है उसके महत्त्व को हम कभी अस्वीकार नहीं कर सकते हैं।

मन का गत्यात्मक (Dynamic) पहलू

जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, फ्रायड ने मन का विभाजन दो रूपों में किया है। एक रूप को उसने मन के आकारात्मक पहलू (Topographical aspect) के नाम से व्यक्त किया है तथा दूसरे को गत्यात्मक पहलू (Dynamic aspect) के नाम से। आकारात्मक-पहलू के अन्तर्गत उसने मन को निम्नाङ्कित तीन भागों में बाँटा है—चेतन, अवचेतन तथा अचेतन-मन। इसमे अचेतन का महत्त्व सामान्य एवं असामान्य दोनों तरह के व्यक्तियों के लिए बहुत अधिक है और इससे इसकी विशद व्याख्या यहाँ की गयी है। किन्तु इन स्तरों द्वारा संचालित कार्यों की पूरी जिम्मेदारी मन के गत्यात्मक पक्ष पर है। अतः हम संक्षेप में यहाँ इसपर विचार करेंगे।

फ्रायड पहला मनोवैज्ञानिक था, जिसने मन के गत्यात्मक स्वरूप को समझकर इसे तीन भागो में बाँटा और जिसे अबोधात्मा (Id), बोधात्मा (Ego) एव आदर्शात्मा (Super-ego) के नाम से पुकारा। फ्रायड ने इनकी बहुत ही वैज्ञानिक व्याख्या की है तथा इन्हीं के आधार पर उसने सभी प्रकार के सामान्य एव विकृत-व्यवहारों (Pathologic behaviour) की विवेचना प्रस्तुत की है। उसने बताया है कि अबोधात्मा, बोधात्मा, तथा आदर्शात्मा में सदा ही संघर्ष चलते रहते हैं। ये संघर्ष मन के तीनों स्तरों (चेतन, अवचेतन तथा अचेतन) में चलते रहते हैं न कि किसी स्तर विशेष में। इसी से फ्रायड ने इसे मन के 'गत्यात्मक पहलू' की संज्ञा दी है। इस संघर्ष या द्वन्द्व के समाधान (resolution) का

सीधा प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ता है, जिसके फलस्वरूप यक्तित्व सदैव परिवर्तित होता रहता है। इस तरह गत्यात्मक द्वन्द्व के प्रभावस्वरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व भी गत्यात्मकस्वरूप का होता है। यह द्वन्द्व क्यों उठता है तथा इसका स्वरूप किस प्रकार गत्यात्मक है—इन्हें जानने के लिए इन तीनों शक्तियों से परिचित होना आवश्यक है।

अबोधात्मा (Id)—अबोधात्मा इच्छाओं की जननी है, जिसे वास्तविकता से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। कहा गया है कि 'यह सभी मनोजैव (Psychobiological) शक्तियों का मूल है।' अबोधात्मा पूर्णरूप से सुखेच्छु-वृत्ति (Pleasure principle) द्वारा निर्देशित होती है, जो चाहे प्रेम की हो या घृणा की। समय, स्थान तथा उचित-अनुचित कुछ का भी ज्ञान अबोधात्मा को नहीं रहता। जिसे कोई प्यार करता है अबोधात्मा कहती है 'चूम लो' और जिससे व्यक्ति घृणा करता है अबोधात्मा कहती है 'उसे मार डालो'।

स्पष्ट है कि अबोधात्मा का सम्बन्ध अचेतन-मन से है और हम जानते हैं कि व्यक्ति के अचेतन-मन में किस प्रकार की असामाजिक एवं अनैतिक इच्छाएँ रहती हैं, जिन्हें फ्रायड ने लैंगिक-स्वरूप का बताया है। यही कारण है कि व्यक्ति के मन में कभी-कभी ऐसी इच्छाएँ उत्पन्न हो जाया करती हैं, जिन्हें घृणित कहा जा सकता है तथा वास्तविकता के प्रकाश में देखने पर उस व्यक्ति को भी काफी आश्चर्य और लज्जा होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि अबोधात्मा द्वारा उत्पन्न इच्छाओं को यदि व्यक्ति वास्तविकता और सामाजिक अवस्था के अनुसार न सुधारे तो निश्चय ही वह सदा अबोध और अनाड़ी रह जाय। बच्चा प्रारम्भ में पूर्णतः अबोधात्मा से परिचालित रहता है। किन्तु, जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती है और वह वास्तविकता के सम्पर्क में आता है वैसे-वैसे अपनी इच्छाओं को संयमित एवं नियंत्रित करते जाता है और जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्त्व विकसित होता है।

बोधात्मक (Ego)—बोधात्मा की व्याख्या फ्रायड ने 'आत्मचेतन-बुद्धि' (Selfconscious intelligence) के रूप में की है। बोधात्मा प्रधानतः चेतन हुआ करती है। फलतः वास्तविकता से इसका गहरा सम्बन्ध होता है। इसका निर्माण प्रत्यक्षीकरण (Perception) के आधार पर होता है। बोधात्मा हर इच्छा के परिणाम को सोच लेने के लिए बाध्य करती है। अतः मनुष्य के अति व्यवहार को नियंत्रित करने का श्रेय बोधात्मा को ही है। इस तरह यह, अबोधात्मा द्वारा उत्पन्न इच्छाओं और वास्तविकता

द्वारा उत्पन्न जटिलताओं के बीच एक समझौता करती हुई जीव और वातावरण के बीच एक संतुलन स्थापित करती है। इसलिए बोधात्मा को 'मन का मुख्य शासक' (Chief administrator of the soul) भी कहा गया है। उदाहरण के लिए, मान लें अबोधात्मा कहती है 'अमुक-व्यक्ति को मार डालो' और वास्तविकता कहती है 'यहाँ पुलिस है, पकड़ा जाओगे'। वास्तविकता का यह ज्ञान बोधात्मा को होगा और तब वह इन दोनों में समझौता लाते हुए कह सकती है "यहाँ पर मत मारो, यहाँ खतरा है और आगे सुनसान है" और तब संभवतः व्यक्ति अपनी अबोधात्मा को समझाकर यानी उसकी इच्छा को दमन के सहारे अचेतन में भेजकर आगे बढ़ जायगा।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बोधात्मा का सम्बन्ध मुख्यतः बाह्य वातावरण से ही रहता है, नैतिकता, धर्म आदि से नहीं। जैसे, मानलें, यदि किसी की इच्छा है कि 'अमुक वस्तु चुरा लूँ' तो बोधात्मा केवल इतना ही कहेगी कि 'सभी के सोने पर चुराना अन्यथा पिटे जाओगे' पर वह यह न कहेगी कि यह एक अनैतिक कार्य है; अतः त्याज्य है। साथ ही, इसे अबोधात्मा से पूर्णतः भिन्न नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसका कुछ भाग अचेतन में होता है।

आदर्शात्मा (Superego)—फ्रायड ने आदर्शात्मा को 'बोधात्मा के आदर्श' (Ego-ideal) के रूप में व्यवहार किया है। इस तरह यह बोधात्मा से भी एक सीढ़ी आगे है। इसका गहरा सम्बन्ध सभ्यता, संस्कृति, धर्म एवं नैतिकता आदि से है। जो व्यक्ति जिस तरह की सभ्यता-संस्कृति में रहता है उसकी आदर्शात्मा वैसी ही हो जाती है। भारतवर्ष में नारी को देवी माना गया है और इसी से पराई स्त्री का स्पर्श भी पाप समझा जाता है; अतः आदर्शात्मा का निर्माण एवं विकास मानवीय गुणों तथा उच्चादर्शों के आधार पर होता है। अतः, कह सकते हैं कि जो व्यक्ति किसी भी समाज से पूर्णतः वंचित है (यद्यपि ऐसा प्रायः संभव नहीं) उसमें आदर्शात्मा का निर्माण नहीं हो सकेगा।

आदर्शात्मा अबोधात्मा की तरह जीवन के प्रारम्भ में अपना प्रभाव नहीं दिखाती, बल्कि व्यक्तित्व-विकास के क्रम में धीरे-धीरे इसका निर्माण और विकास होते चलता है। यह एक ऐसा आदर्श उपस्थित करती है जिससे हमारे व्यवहार निर्देशित होते हैं; किन्तु सामान्यतः उसे शायद ही हम प्राप्त कर पाते हैं।

ध्यान से देखें तो पायेंगे कि आदर्शात्मा अबोधात्मा के ठीक उलटी है।

यह प्रारम्भिक प्रेम-वस्तुके प्रति सशक्त प्रतिक्रिया-रूपण (Reaction-formation) प्रस्तुत करती है। इस तरह आदर्शात्मा मुख्यतः अचेतन या अवचेतन है; अतः सुन्दर व्यक्तित्व निर्माण या जीवन-यापन के लिए आदर्शात्मा का अधिक सशक्त होना उचित नहीं। यह सही है कि अबोधात्मा की प्रत्येक इच्छा को व्यवहार में प्रकट करनेवाले व्यक्ति को विकृत-व्यक्तित्व (Pathological personality) का कहा जाता है। किन्तु, वैसी प्रत्येक इच्छा का प्रतिक्रिया-रूपण भी व्यक्तित्व की असामान्यता का ही द्योतक है। साथ ही, यह पाया गया है कि जिस व्यक्ति का अहं या बोधात्मा बहुत अधिक सबल होती है उसकी आदर्शात्मा संकुचित विचारों को छोड़ देती है तथा उसकी सख्ती भी कम जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि उपर्युक्त तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के विपरीत हैं तथा प्रत्येक अन्य पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती है। फलतः व्यक्ति के मन में एक द्वन्द्व खड़ा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप ही वह कोई काम करता है। व्यक्तित्व-निर्माण में इस द्वन्द्व का महत्त्वपूर्ण हाथ है जिसपर आगे 'मनोलैंगिक विकास' (Psychosexual development) की चर्चा करते समय विशेष रूप से प्रकाश डाला जायगा। किसी सामान्य व्यक्ति में बोधात्मा कुछ अधिक शक्तिशालिनी होती है तभी तो वह अबोधात्मा की अनुचित इच्छाओं को दमन के सहारे अचेतन में भेज पाती है। बात ऐसी है कि अबोधात्मा की सभी माँगों को समाज कबूल नहीं करता और आदर्शात्मा के उच्चादर्श को व्यक्ति अपना नहीं सकता। अतः 'वह क्या करे' और 'क्या नहीं करे' इसके द्वन्द्व में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में बोधात्मा यदि सबल रही तो वह वास्तविकता के साथ व्यक्ति को अभियोजित करा देती है। जीव और वातावरण में संतुलन बनाये रखने के लिए यह द्वन्द्व गत्यात्मक रूप मे चेतन, अवचेतन तथा अचेतन तीनों स्तरों में चलते रहते हैं। चेतन द्वन्द्व के एक उदाहरण से यह बात कुछ अधिक स्पष्ट हो जायगी। यह विचार कि "यह घड़ी सुन्दर है अतः इसे ले लेना चाहिए"—अबोधात्मा की इच्छा का चेतन प्राकट्य है; "इसे नहीं लेना चाहिए, ऐसा करना पाप है"—आदर्शात्मा की पुकार है, और "अभी लेना ठीक नहीं पकड़ाने का भय है"—यह बोधात्मा का अभियोजन है। अब, यह व्यक्ति की अबोधात्मा, बोधात्मा एवं आदर्शात्मा की तुलनात्मक शक्ति पर निर्भर करता है कि वह क्या करेगा। इसी तरह अवचेतन तथा अचेतन स्तरों के द्वन्द्वों को भी उद्धृत किया जा सकता है। जब ये द्वन्द्व अधिक भयंकर हो जाते हैं या व्यक्ति की बोधात्मा

कमजोर हो जाती है तब व्यक्ति असामान्य हो जाता है; क्योंकि तब उसपर अबोधात्मा या आदर्शात्मा का प्रभुत्व हो जाता है, जिसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं रहता। फलतः अचेतन इच्छाएँ विभिन्न रूपों में प्रकट होने लगती हैं। अन्ना फ्रायड (Anna Freud) ने बताया है कि युवावस्था में साधारणतः इस द्वन्द्व का समाधान दो तरह से होता है। प्रथम तो संभव है कि बलिष्ठ अबोधात्मा बोधात्मा को दबा दे और दूसरा सम्भव है कि बोधात्मा विजयी हो। उसके अनुसार, जब अबोधात्मा विजयी होती है तब व्यक्ति लैंगिक या आक्रामक (aggressive) इच्छाओं की पूर्त्ति में सतत प्रयत्नशील रहता है और जब बोधात्मा विजयी होती है तब वह तरह-तरह की चिन्ताओं एवं मनोस्नायु-विकृति के लक्षणों (neurotic symptoms) का शिकार हो जाता है। हम इसी तरह भारतीय लोगों के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि बुढ़ापे में लोग अधिकतर आदर्शात्मा की पुकार सुनते हैं।

इस तरह अब यह स्पष्ट है कि मन में द्वन्द्व क्यों और कैसे उठता है, इसका स्वरूप गत्यात्मक कैसे है तथा अचेतन के सम्बन्ध से मन के गत्यात्मक-पहलू का क्या महत्त्व है।

तीसरा अध्याय

मनोरचनाएँ (Mental mechanisms)

मनोरचना की व्याख्या करने के पहले यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि जबसे फ्रायड और उसके अनुयायियों का प्रभाव असाधारण मनोविज्ञान मे बढ़ा तबसे इस मनोविज्ञान के अन्तर्गत कई नये पदों एवं सामान्य-प्रत्ययों (Concepts) का व्यवहार होने लगा है। इसलिए असाधारण मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने के पहले उन पदो का उल्लेख कर देना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं फ्रायड ने मन का विभाजन कई दृष्टिकोणों से किया है। उसने सम्पूर्ण मानस-जीवन का गत्यात्मक विभाजन अबोधात्मा (Id), बोधात्मा (Ego) तथा आदर्शात्मा (Super-ego) में किया है। इन तीनों विभाजनों पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला चा चुका है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राय: चेतन अनुभव के ही तदरूप बोधात्मा है। अत: हमारे चेतन अनुभव ही बोधात्मा के प्रतिरूपक हैं। जिस अर्थ में हम नीति-भावना अथवा अन्तरात्मा का व्यवहार करते हैं उसी अर्थ में फ्रायड ने आदर्शात्मा (Super-ego) का व्यवहार किया है। अत: साधारणत: हम यही कह सकते हैं कि हमारी अन्तरात्मा (Conscience) ही आदर्शात्मा का प्रतिरूपक है। जहाँ तक अबोधात्मा का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि हमारी अचेतनावस्था ही अबोधात्मा का प्रतिरूपक है। मनोविश्लेषकों के अनुसार इसी अबोधात्मा में हमारे जीवन की वे सभी गत्यात्मक शक्तियाँ जिन्हें हम इच्छा, प्रेरणा (Motives) तथा मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts), आदि कहते हैं विद्यमान रहती हैं। इसी में हमारी गत्यात्मक लैंगिक-शक्ति (Dynamic libido) भी मौजूद रहती है।

इस अबोधात्मा से जिन प्रेरणाओं या इच्छाओं का आविर्भाव होता है वे अधिकांशत: एक दूसरे के विरोधी-स्वरूप की होती हैं। ऐसा न रहने पर भी नैतिक भावो के चलते इस स्रोत से आविर्भूत इच्छाओं को प्रकाशित होने का अवसर निरोध (Inhibition) के कारण नहीं मिलता। इसलिए ऐसी इच्छाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में संघर्ष उत्पन्न कर देती हैं। इन संघर्षों के कारण मनुष्य कई प्रकार के

असाधारण व्यवहारों एवं अनुभूतियों को प्रदर्शित करता है जैसा कि मानसिक रोगों से ग्रस्त रोगियों में देखने मे आता है। इन्हीं संघर्षों के कारण सामान्य मनुष्यों के व्यवहारों मे भी यदाकदा असाधारणताएँ देखने मे आती हैं; यथा लेखनी दोष, वाणी-दोष आदि। मनोचिकित्सकों को ऐसे संघर्षों का ज्ञान मनुष्य के स्वप्नों की व्याख्याओं से सरलतापूर्वक हो जाता है।

बोधात्मा या आदर्शात्मा के दमन के कारण समुत्पन्न संघर्षों अथवा अबोधात्मा मे मौजूद संघर्षों को सुलझाने या हल करने के तरीकों को ही मनोवैज्ञानिक भाषा में मनोरचनाएँ (Mental Mechanisms) कहते हैं। यदि हम इसकी परिभाषा करना चाहें तो हम यही कह सकते हैं कि जिस चेतन अथवा अचेतन पद्धत्यात्मक प्रक्रिया (Stylized process) के द्वारा आन्तरिक संघर्षों का निराकरण (Elimination) या न्यूनीकरण (Reduction) होता है, उसे हम मनोरचना कहते हैं। चूँकि संघर्षों का निराकरण या न्यूनीकरण कई तरीकों से होता है, इसलिए मनोरचनाएँ भी कई हैं। कुछ तो समाज-विहित और कुछ अविहित हैं। यहाँ हम उन्हीं मनोरचनाओं पर क्रमशः सङ्क्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

दमन (Repression)

दमन पद का व्यवहार असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत सर्वप्रथम फ्रायड ने ही किया। उसके पहले के विद्वानों को इस मनोरचना के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञान नहीं था। किंतु, जब वह हिस्टिरिया के रोगियों की चिकित्सा मनोविश्लेषण-पद्धति से करने लगा तो उसने यह अनुभव किया कि रोगी चिकित्सा-काल के अन्तर्गत चिकित्सक को कितनी ऐसी बातें व्यक्त कर देते हैं जिनका उन्हें कुछ भी ज्ञान सामान्य जीवन में नहीं रहता और जो चिरविस्मृत अनुभूतियाँ रोगियों की रहती हैं। रोगियों के ऐसे व्यापारों की सफल व्याख्या के ही लिए फ्रायड ने दमन-जैसा महत्त्वपूर्ण प्रत्यय असामान्य मनोविज्ञान को दिया। यह मनोरचना सभी मनोरचनाओं से विशेष महत्त्व रखती है और इसकी व्यापकता भी अन्यों की अपेक्षा अत्यधिक है।

अब इसकी व्याख्या और स्वरूप का उल्लेख करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपने दुखद या अनैतिक स्वरूप के कारण जो इच्छाएँ या विचार व्यक्ति के लिए कष्टकर या उसके आदर्श के प्रतिकूल होते हैं उनको स्वाभाविक रूप से चेतना से तिरस्कृत करनेवाली मानसिक क्रिया को ही दमन कहते हैं। इस प्रकार दमन का एक मात्र कार्य किसी विचार, इच्छा आदि को तिरस्कृत करना और उसे चेतना से अलग

रखना है। लेकिन इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि जो इच्छा कभी चेतना में नहीं थी उसे यदि दमन चेतना से दूर रखता है तब इस प्रकार के दमन को प्रधान दमन (Primary Repression) कहते हैं। परन्तु जब चेतना अथवा अवचेतना (Subconsciousness) के अनुभवों को निष्क्रिय करने के लिए उन्हें अचेतन-मन में किया जाता है तो इस प्रकार के दमन को गौण दमन अथवा समुचित दमन कहते हैं। इसको और भी स्पष्ट करने के लिए हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वातावरण की दुखद एवं अपमानजनक उत्तेजनाओं से छुटकारा जिस प्रकार हमलोग उनसे दूर हटकर पा जाते हैं, उस प्रकार हम अपने आन्तरिक एवं दुखद अनुभवों से अलग होकर छुटकारा पाने में असमर्थ हैं। अतएव ऐसी परिस्थिति में हमारा मन ऐसे अनुभवों को अचेतन-मन में कर देता है, क्योंकि वह उनकी सत्ता चेतन-मन में स्वीकार करना नहीं चाहता।

इसके पहले कि हम इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालें, इसके स्वरूप की स्पष्टता के लिए इसको दलन (Suppression) और निग्रहण अथवा निरोध (Inhibition) से अलग कर देना आवश्यक है। जहाँ तक दमन और दलन की भिन्नताओं का प्रश्न है उनके सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि जब दलन (Suppression) के द्वारा हम अपनी चेतना के किसी प्रकार के अनुभव को अचेतन मे करते हैं तब उसमें हमारी इच्छा काम करती है और शक्ति लगाकर उस विचार को चेतना से अलग करना पड़ता है। किंतु दमन से जो अनुभूतियाँ अचेतन-मन मे जाती हैं उनके लिए न तो चेतना की जरूरत पड़ती है और न किसी प्रकार के प्रयास की ही। दमन की हमें जानकारी नहीं होती और न किसी प्रकार की कोशिश ही करनी पड़ती है। यह प्रक्रिया हमारी चेतना और इच्छा के बिना ही दुखद अनुभवों को अचेतन में करने के लिए स्वतः होती है। इन दोनों को समझने के लिए एक उदाहरण का दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा। मान लें, हमें कालेज जाते समय किसी दुर्घटना का शिकार होना पड़ा है जिसकी याद हमें रह-रहकर आती रहती है। अगर इस दुखद स्मृति से निर्मुक्त होने के लिए हम प्रयत्नपूर्वक अपना ध्यान किसी दूसरे विचार या कार्य पर लगाते हैं तो हमें दलन का ही आश्रय लेना पड़ता है। अगर यह घटना बिना किसी प्रयत्न के स्वतः हमारी चेतना से ओझल हो जाती है और याद करने पर भी याद नहीं होती है तो हमें दमन का उदाहरण मिलता है।

अब दमन और निरोध (Inhibition) के अन्तरों को व्यक्त करते समय हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि दमन के द्वारा हमारा

चेतन-मन किसी दुखद प्रेरणा या इच्छा की सत्ता को ही अस्वीकार करता है और इस प्रकार उसे चेतना में स्थान ही नहीं देता, लेकिन निरोध के द्वारा उसे अस्वीकार नहीं करता बल्कि चेतना से उसे तिरस्कृत कर देता है और उसके बदले दूसरों को स्थान देता है। जिन इच्छाओं या विचारों को वह स्थान देता है उनमें और पहली इच्छाओं में बहुत ही कम भिन्नता या असमानताएँ रहती हैं। जिस परिस्थिति में किसी इच्छा का निरोध होता है अगर उसी परिस्थिति के उपस्थित होने पर पुनः वह इच्छा या प्रेरणा आविर्भूत होती है तो व्यक्ति यह जानने में समर्थ होता है कि उसने उसीको अपनी चेतना से तिरस्कृत किया था। इतना ही नहीं, बल्कि वह उससे आबद्ध भावों और संवेगों की भी अनुभूति चेतनतया करता है। लेकिन किसी दमित इच्छा का जब पुनः आविर्भाव होता है तो व्यक्ति न तो उसे पहचानने मे ही समर्थ होता है और न उस मौलिक भाव या संवेग की ही अनुभूति करता है। इसलिए उसपर नियंत्रण भी करने में समर्थ नहीं होता है। इसके अतिरिक्त भी, जब किसी ऐसी इच्छा का आविर्भाव, जो कि बोधात्मा के आदर्श (Ego-Ideals) के अत्यधिक प्रतिकूल नहीं होता, क्रमशः होता है और साधारण रूप से होता है, तब उसका निरोध होता है। किंतु जब किसी प्रबल इच्छा का आविर्भाव सहसा होता है जो आत्म-सम्मान और बोधात्मा के आदर्श के पूर्णतः प्रतिकूल और घातक होती है तो उसका दमन होता है। इसी प्रकार और भी इन दोनों में अन्तर हैं; किन्तु दमन के स्वरूप को समझने के लिए इतने अन्तरों को ध्यान में रखना पर्याप्त है।

वस्तुतः दमन एक अचेतन मनोरचना है जिसका सम्बन्ध अबोधात्मा (Id), बोधात्मा (Ego) तथा आदर्शात्मा (Super-Ego) से अत्यधिक है। इस कथन की सत्यता स्वय प्रमाणित हो जायेगी जब यह मालूम हो जायेगा कि दमन यों ही निरर्थक नहीं होता। जब मन में कोई ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है जिसकी संतृप्ति (Satisfaction) को हमारी बोधात्मा भयावह अथवा दुखद समझती है और जब उसे संतृप्त करने का दूसरा साधन नहीं मिलता, तब उस इच्छा का दमन होता है। यह सुखेच्छुवृत्ति (Pleasure-Principle) की रक्षात्मक रचना (Defence-Mechanism) है जो किसी दुख से निर्मुक्त करने के लिए परिचालित होती है। सफल दमन वस्तुतः व्यक्ति के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है। इस दमन का आधार हमारे अचेतन-मन की प्रतिबन्ध-व्यवस्था ही है; क्योंकि जब किसी अवांछित इच्छा का आविर्भाव होता है तब स्वतःसंचालित प्रतिबन्ध-

व्यवस्था उस इच्छा का दमन कर देती है। इस प्रतिबन्ध-व्यवस्था का साक्षात सम्बन्ध हमारी आदर्शात्मा से है। यह आदर्शात्मा अबोधात्मा से आविर्भूत सभी वृत्तियों का ज्ञान आन्तरिक रूप से अचेतनतया रखती है। पुनः जब कोई वृत्ति आदर्शात्मा के आदर्श के प्रतिकूल होती है तो हमारी बोधात्मा भी आदर्शात्मा के भय से उसका दमन कर देती है। इस प्रकार बोधात्मा अबोधात्मा और आदर्शात्मा के बीच सतुलन रखने का काम करती है।

अब इस प्रश्न का यहाँ होना स्वाभाविक है कि जिन इच्छाओं या वृत्तियों का दमन होता है वे किस रूप में और कहाँ रहती हैं? इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जो इच्छाएँ या वृत्तियाँ अपनी संतुष्टि-दमन के कारण नहीं कर पातीं वे अचेतन में जाकर निष्क्रिय एवं निर्बल नहीं बन जातीं बल्कि वहाँ और भी सक्रिय एवं उग्र रूप धारण कर लेती हैं। वे निरंतर चेतना में आने की चेष्टा करती रहती हैं। लेकिन प्रतिबन्ध-व्यवस्था के कारण चेतना में आ नहीं पातीं। अतएव वे इच्छाएँ अप्रच्छन्न रूप से अपनी संतुष्टि स्वप्न, मानसिक व्याधियों के लक्षणों और दैनिक मनोविकृतियों के द्वारा करती हैं।

युक्त्याभास (Rationalisation)

वह मनोरचना जिसके द्वारा हम अपने भाव, विचार, व्यवहार या किसी प्रकार की मनोवृत्ति (Attitude) की व्याख्या तार्किक एव युक्तिसंगत आधारों पर करते हैं, अचेतन कारण उसका जो कुछ भी हो, उसे युक्त्याभास कहते हैं। इस मनोरचना के द्वारा हम अपने ऐसे व्यवहार या विचारों की, जिसे हमारी बोधात्मा (Ego) अथवा समाज अनुचित अथवा अवाञ्छनीय समझ सकता है, व्याख्या विभिन्न तार्किक युक्तियों के आधार पर करते हैं। इस रचना का एक मात्र ध्येय बोधात्मा और समाज के अन्य लोगों को किसी व्यवहार या क्रिया-विशेष का तार्किक कारण व्यक्त करके उस व्यवहार की प्रतिपन्नता को प्रमाणित करना है। इस मनोरचना का आश्रय सभी व्यक्तियों को जीवन में लेना आवश्यक है। जोन्स का तो इसके सम्बन्ध में यहाँ तक कहना है कि यद्यपि युक्त्याभास आत्मप्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, लेकिन कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो इसका आश्रय न लेता हो। जब हम किसी प्रकार का कार्य करते हैं और उस कार्य के अचेतन कारण को नहीं जानते हैं तब हम उसे करने के कारण को अपनी तार्किक युक्तियों द्वारा खोज निकालते हैं। स्पष्टतः वह कारण देखने

और सुनने में हमें या दूसरे को बहुत ही युक्तिसंगत एवं सत्याभासी प्रतीत होता है, मनोविश्लेषण करने पर उस कारण की असत्यता और अतार्किकता भले ही प्रमाणित होती हो।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस मनोरचना का व्यवहार मानव-जाति किसी न-किसी रूप में करती रही है, भले ही इसे मनोवैज्ञानिक पुट देने का श्रेय मनोविश्लेषको को ही हो। जब हम 'अंगूर खट्टे होना' अथवा 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' की कहावत का व्यवहार करते हैं तो हमें युक्त्याभास के ही उदाहरण मिलते हैं। जब कोई आदमी किसी पद को पाने के लिए प्रयत्न करता है और वह उस पद को पाने में असमर्थ होता है तब उसे उस पद में तरह-तरह के दोष मिलने लगते हैं। जब दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि उसकी नियुक्ति उस पद पर क्यों नहीं हुई या उसके लिए उसने उचित कार्यवाही क्यों नहीं की तब वह तत्काल कह बैठता है कि वस्तुतः वह उस पद को नहीं चाहता था; क्योंकि उसे अनावश्यक परेशानी उठानी पड़ती। इस प्रकार वह अपनी असफलता के लिए युक्ति ढूँढ़ निकालता है और ऐसा स्वय समझकर या दूसरों से व्यक्त करके आत्मसंतोष की साँस लेता है।

वस्तुतः यदि इस मनोरचना का आश्रय मनुष्य नहीं लेता तो उसका जीवन बहुत ही कष्टमय होता। मनुष्य मे इसका आविर्भाव सुखेच्छु-वृत्ति (Pleasure-Principle) को बनाए रखने के ही लिए होता है। साइमण्ड्स (Symonds) ने युक्त्याभास का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके इसके दो भागों को व्यक्त किया है। इसका पहला पहलू तार्किक होना और दूसरा पहलू संवादव्यवहार (Communication) का है। जब कोई व्यक्ति किसी व्यवहार को कर बैठता है तो उसके बाद उसके करने के तार्किक कारण को खोज निकालता है। तत्पश्चात् वह स्वय को या अन्य लोगों को अपने ऐसा करने का कारण व्यक्त करता है। इस मनोरचना पर विचार करने पर मालूम होगा कि इसका जीवन में कम महत्त्व नहीं है। इसका व्यवहार करने से मनुष्य अपने आपको चिंता से निर्मुक्त रखता है, क्योंकि अगर युक्त्याभास की मनोरचना न होती तो वह अपने सभी व्यवहारों का तार्किक कारण न खोज पाने के कारण निरंतर चिंता का शिकार बना रहता। इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्य इसके द्वारा अपने किसी भी अनुचित व्यवहार का इतना सुन्दर और तार्किक कारण व्यक्त करता है कि सामान्य जीवन में लोग उसपर पूर्णतः विश्वास कर जाते हैं और इस प्रकार वह व्यक्ति समाज से तिरस्कृत होने से भी बच जाता है। लेकिन, इन गुणों के अतिरिक्त इसके जो दोष हैं उसकी भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

युक्त्याभास वास्तविकता को व्यक्त नहीं करता ; बल्कि उसपर पर्दा डालने का ही काम करता है। इस कारण मनुष्य अपने आप और परिस्थिति का वास्तविक मूल्यांकन भी करने मे असमर्थ होता है।

यहाँ फिंक (Fink) द्वारा दिये गए एक युक्त्याभास के उदाहरण का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा, क्योंकि इससे पाठकों को यह और भी स्पष्ट हो जायेगा कि हम अपने दैनिक जीवन में इसका किस अंश तक आश्रय लेते हैं। एक नवयुवक बराबर धनी परिवार की लड़की से व्याह करना चाहता था और जब कभी उसे अवसर मिलता था तब वह लड़कियो के समाज में मिलता-जुलता भी था। लेकिन प्रयास करने पर भी उसे एक साधारण परिवार की लड़की से ही व्याह करना पड़ा। जब वह एक बार मनोचिकित्सक के पास गया और जब मनोचिकित्सक ने उसके ऐसा करने पर आश्चर्य प्रकट किया तब उस नवयुवक ने तरह-तरह के दोषों को धनी-घर की लड़कियों के सम्बन्ध मे व्यक्त किया। उसका कहना था कि धनी घर की लड़कियाँ आदर्शहीन होती हैं। वे प्रेम के सामने रुपए-पैसे या अन्य भोग-सामग्रियों को अधिक महत्त्व देती हैं। इसलिए उसने साधारण घर की लड़की से व्याह करना श्रेयस्कर समझा। उसके कथन में कुछ सत्यता तो अवश्य ही थी; लेकिन धनी-घर की सभी लड़कियाँ एक ही तरह की होती हैं, यह कभी मान्य नहीं है। उसका मनोविश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ कि वह नवयुवक वस्तुत: धनाभाव की भावना से पीड़ित था और उसे डर था कि कोई धनी-घर की लड़की उस गरीब का ध्यान नहीं रख सकेगी। इसलिए सतत इच्छा रहने पर भी उसने साधारण घर की ही लड़की से व्याह किया, क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास था कि ऐसी लड़की ही उसके आराम और दाम्पत्य-जीवन का ख्याल कर सकेगी। इसलिए अपने ऐसा करने को युक्तिसंगत प्रमाणित करने के लिए उसने युक्त्याभास का आश्रय लिया।

इसी प्रकार जब एक दलित जाति दूसरी ऐसी ही जाति के अधिकारों की रक्षा के लिए माँग करती है तब भी हमे इसी प्रकार की मनोरचना का उदाहरण मिलता है। यहाँ यह भी व्यक्त कर देना अनुचित नहीं होगा कि केवल व्यक्ति-विशेष ही इस मनोरचना का आश्रय नहीं लेता, बल्कि विभिन्न राष्ट्र भी अपने व्यवहारों की तार्किकता को प्रमाणित करने के लिए इसका आश्रय लेते हैं।

परावर्तन (Regression)

मानसिक संघर्षों का निराकरण अथवा न्यूनीकरण परावर्तन मनोरचना के द्वारा भी होता है। मनोविश्लेषण के अन्तर्गत इस मनोरचना

का व्यवहार हुआ है। युंग ने इसपर काफी जोर दिया है। यह वह मनोरचना है जिसके द्वारा प्रौढ़ एवं वृद्ध व्यक्ति अपनी सांसारिक कठिनाइयों एवं उलझनों से छुटकारा पाने या उन्हें हल करने के लिए अपनी प्रारंभिक बाल्य एवं शैशव काल की प्रतिक्रियाओं का आश्रय लेते हैं। जब हम किसी युवक अथवा वयोवृद्ध को बालकों-सा व्यवहार करते देखते हैं तब हमें परावर्तन का उदाहरण मिलता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मनुष्य का शैशव काल बहुत ही सुखद होता है। उसे माता-पिता का इतना अधिक स्नेह मिलता है कि वह किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति नहीं करता है। लेकिन जब वह स्वतन्त्र होकर जीवन-क्षेत्र मे प्रवेश करता है तो उस समय उसे स्वयं वास्तविकता का सामना करना पड़ता है। समुचित रूप से संगठित व्यक्तित्व का व्यक्ति तो उन कठिनाइयों के प्रति अभियोजित करने में समर्थ होता है; किंतु जिसका व्यक्तित्व समुचित रूपेण संतुलित नहीं रहता वह कठिनाइयों का सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर शैशव काल की अभियोजनात्मक (Adaptive) प्रतिक्रियाओं का आश्रय लेकर अपने को अभियोजित करने का प्रयास करता है।

परावर्तन के दो पहलू हैं—बोधात्मा परावर्तन (Ego-Regression) तथा इच्छाशक्ति परावर्तन (Libido-Regression)। किसी-किसी व्यक्ति में ये परावर्तन के दोनों पहलू साथ-साथ देखने में आते हैं और किसी-किसी में नहीं। कहीं-कहीं बोधात्मा परावर्तन नहीं रहता ; बल्कि सिर्फ इच्छाशक्ति परावर्तन व्यापार ही देखने मे आता है। इस प्रकार बोधात्मा परावर्तन के साथ इच्छाशक्ति परावर्तन अधिकांशत: देखने मे आता है। लेकिन जब इच्छाशक्ति परावर्तन व्यापार किसी मे दिखलाई दे तो उसमें बोधात्मा परावर्तन का व्यापार होना आवश्यक नहीं है। यह उसके साथ रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है।

अब यहाँ पर बोधात्मा परावर्तन और इच्छाशक्ति परावर्तन की व्याख्या कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इन दोनों की व्याख्या करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति के वेग (Libidinal Impulse) का निष्कासन अपने प्रारंभिक निर्गमन-द्वारों (Outlets) के द्वारा करता है तब हमें इच्छाशक्ति परावर्तन का उदाहरण मिलता है। जिस व्यक्ति में उक्त प्रकार का परावर्तन व्यापार होगा वह अपने प्रेम का प्रकाशन समुचित पात्रों पर न करके बच्चे और बच्चियों की तरह खिलौनों आदि पर करेगा। हम कितने ही ऐसे लोगो को देखते हैं जिनका सारा स्नेह किसी खिलौने-विशेष में केन्द्रीभूत रहता है। इसी प्रकार बोधात्मा

परावर्तन के समय मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्वों का कुछ भी ध्यान नहीं रहता और वह शिशु-सा व्यवहार करता है। जब कोई प्रौढ़ व्यक्ति क्रोध, भय आदि की हालत में रोने का व्यापार प्रदर्शित करता है तब भी हमें उसके परावर्तन का ही उदाहरण मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परावर्तन में किसी व्यक्ति की इच्छाशक्ति और बोधात्मा का विकास स्वाभाविक रीति से होते-होते किसी प्रकार की कठिनाई के कारण अपनी विकासावस्था की पिछली रीति को अपना लेता है। अतएव इच्छाशक्ति परावर्तन में मनुष्य के स्नेह और आकर्षण का स्थानान्तरण प्रारंभिक अवस्था के प्रेम एवं आकर्षण पात्रों की ओर हो जाता है। इसी तरह बोधात्मा परावर्तन में उसका व्यक्तित्व प्रारंभिक व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेता है। इस स्थल पर परावर्तन (Regression) तथा स्तंभन (Arrest) के अन्तर को व्यक्त कर देना भी आवश्यक है। इच्छाशक्ति-विकास स्तभन के फलस्वरूप पिछली अवस्था में ही रुक जाता है किंतु परावर्तन की हालत में क्रमशः विकास होते-होते पीछे की ओर विकास-क्रम मुड़ जाता है। यहाँ पर इसे और भी स्पष्ट करने के लिए मेकडुगल द्वारा दिए गए एक उदाहरण का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

एक बाईस वर्षीय युवक जब चिकित्सा के लिए अस्पताल में भर्ती किया गया तो उसका व्यवहार पूर्णतः बालस्वरूप था। जब वह खाट पर बैठाया गया तब वह बालक की तरह अपने चारों ओर की चीजों को देखते हुए चौकसी के साथ बैठा। पेंसिल देने पर वह कुछ नहीं लिख सका और ऐसा मालूम होता था कि उससे जो कुछ कहा-सुना जाता था उसे वह कुछ भी नहीं समझ रहा था। जिन बर्तनों को वह आश्चर्य के साथ देखता रहा, मालूम होता था कि उनकी उपयोगिता के बारे में वह कुछ भी नहीं जानता था।

इतना ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक शक्तियाँ ठीक रहने पर भी वह बच्चों की तरह घुटना टेककर चलता था, स्वय न खाकर नर्स जब चम्मच से खिलाती थी तो खाता था और वह भी खाने के पहले बच्चों की तरह चखता था। उसकी जेब मे उसके सम्बन्धियों के जो चित्र आदि थे उनमें उसने अपनी कुछ भी अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। कहने का अभिप्राय यह है कि वह २२ वर्ष का नवयुवक मन और शरीर दोनों से ही शैशव व्यवहारों को परावर्तन के कारण प्रदर्शित करता था।

इस स्थल पर हमे यह याद रखना होगा कि परावर्तन के कारण किसी व्यक्ति की शक्तियाँ विनष्ट नहीं हो जातीं बल्कि कुछ काल के लिए अवरुद्ध-मात्र हो जाती हैं ; क्योंकि कितने ही ऐसे व्यक्ति मनोचिकित्सा के द्वारा अपनी

वास्तविक अवस्था में आ जाते हैं। इसलिए जैसा कि देखने में प्रत्यक्षत: मालूम होता है उनकी शक्तियाँ पूर्णत: क्षतिग्रस्त नहीं रहती हैं।

रूपांतर (Conversion)

मनोविश्लेषण के अन्तर्गत रूपांतर का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्राय: फ्रायड तथा उसके सभी अनुयायियों ने हिस्टिरिया तथा अन्य आंगिक व्याधियों (organic diseases) के विभिन्न व्यापारों (Phenomena) को समझने के लिए इसका आश्रय लिया है। वह मनोरचना जिसके द्वारा कुण्ठित (Frustrated) एवं दमित (Repressed) मूल-प्रवृत्तियों (Basic drives) की शक्तियाँ शारीरिक व्याधियों के क्रियात्मक लक्षणों (Functional symptoms) में परिवर्तित होती हैं, उसे रूपान्तर (Conversion) कहते हैं। जब किसी मूल इच्छा का दमन होता है और जब उस दमन में अपूर्णता रह जाती है तब उस मूल इच्छा का प्रकाशन किसी विकृत निर्गमन-द्वार (Perverse outlet) के जरिये होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब हमारे अचेतन-मन में किसी संवेगात्मक संघर्ष का दमन पूर्णरूपेण नहीं होता तब रूपांतर के द्वारा उसका प्रकाशन छद्मवेश में होता है। रूपांतर का सुन्दर उदाहरण रूपांतर हिस्टिरिया तथा अन्य प्रकार के मानसिक रोगों मे मिलता है जिसके सम्बन्ध में पाठक मनोव्याधि के प्रकरण में विशद रूप से जानेंगे। अत: इस मनोरचना पर विशेष रूप से यहाँ प्रकाश न डालकर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जब किसी व्यक्ति की कामेच्छा का दमन अच्छी तरह नहीं होता तो उसका प्रकाशन किसी शारीरिक अंगविशेष की शून्यता (Anesthesia) के द्वारा होता है। ऐसे कई उदाहरणों का उल्लेख हमें फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषकों की रचनाओं में मिलता है। इस तरह भी हमें प्राय: ऐसा देखने में आता है कि जब हम किसी विकट परिस्थिति का सामना करने मे अपनेको असमर्थ पाते हैं तो उससे छुटकारा पाने के लिए व्याधिग्रस्त होना चाहते हैं और कभी-कभी वस्तुत: बीमार हो भी जाते हैं। परीक्षार्थी का परीक्षा में प्रवेश न करने की इच्छा और उसका बीमार होना, इसके अकाट्य प्रमाण हैं। संघर्षात्मक परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए व्याधिग्रस्त होना एक बहुत ही सुगम साधन है। २२ अप्रैल, सन् १९५४ ई० की बात है। एक आनर्स का विद्यार्थी पहले से अंगरेजी की परीक्षा नहीं देना चाहता था, लेकिन साथियों के दबाव के कारण परीक्षा देने के लिए तैयार हुआ। लेकिन जिस दिन अँगरेजी

की परीक्षा साढ़े सात बजे सबेरे से होनेवाली थी उसी दिन छः बजे सबेरे उसके पेट में दर्द शुरू हुआ और साढ़े बारह बजे दिन तक बना रहा। परीक्षा समाप्त होने के साथ-साथ विद्यार्थी भी चगा हो गया। पेट-दर्द, परीक्षा न देने की इच्छा के ही फलस्वरूप था। इससे उस विद्यार्थी को परीक्षा देने से मुक्ति मिल गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूपांतर के द्वारा दमित इच्छाओं का प्रकाशन विकृत एव छद्म रूप में शारीरिक व्याधियों के क्रियात्मक लक्षणों द्वारा होता है।

परिशोधन (Sublimation)

परिशोधन (Sublimation) वह मनोरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी दमित एवं कुंठित मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि समाज-विहित स्थानापन्न ध्येयों (Socially acceptable substituted goal) को निर्धारित करता है। हमने अभी रूपातर की मनोरचना में देखा है कि इसके द्वारा दमित इच्छाओं का प्रकाशन शारीरिक व्याधियों के क्रियात्मक लक्षणों द्वारा होता है। वे लक्षण तो सामाजिक अवश्य रहते हैं, किन्तु उन लक्षणों के कारण व्यक्ति का सम्पूर्ण शरीर या अंग-विशेष किसी कार्य के लिए अयोग्य हो जाता है। या यों कहें कि उन लक्षणों के कारण व्यक्ति-विशेष अयोग्य बन जाता है। किन्तु परिशोधन में ऐसी बात नहीं पायी जाती है। लक्षणों को हम केवल समाज-विहित ही नहीं पाते, बल्कि उनका सामाजिक महत्त्व अत्यधिक रहता है। मनोविश्लेषण के विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि मूल-प्रवृत्तियों का परिशोधन ही कवि को कविता, साहित्यिक को साहित्य, चित्रकार को चित्र, ग्रंथकार को ग्रंथ आदि की प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है। उन विद्वानों ने सभी प्रकार के रचनात्मक कार्यों एवं प्रतिभा की व्याख्या परिशोधन के ही आधार पर की है। अगर किसी विद्वान को अधिक काल तक वैवाहिक जीवन से वचित रहना पड़ता है और उसकी कामेच्छा का दमन होता है तो वह परिशोधन के ही फलस्वरूप अपनी सारी शक्तियों को लगाकर महान ग्रंथों की रचना से संसार की सेवा करता है। इस कार्य से उसकी कुंठित इच्छाएँ संतुष्ट होती हैं। वस्तुतः यदि इस मनोरचना का गंभीर विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय और बड़े-बड़े ऐसे विद्वानों की जीवनियों का अध्ययन किया जाय जिनकी कृतियों की परिगणना बहुमूल्य कृतियों में होती है तो परिशोधन की सार्थकता एवं सत्यता प्रमाणित हो जायगी। इस प्रकार अचेतन-मन के संघर्षों का न्यूनीकरण (Reduction) रचनात्मक कार्यों का आश्रय लेकर होता है।

यहाँ विद्वानों में मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में मतभेद है। फ्रायड ने कामेच्छा को ही प्रधान माना है। एडलर प्रधानता की इच्छा की ही प्रमुखता व्यक्त करता है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न इच्छाओं को प्रधान माना है। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि जब लैंगिक स्नेह या और भी किसी इच्छा की संतृप्ति समुचित रूप से नहीं होती और उसका दमन हो जाता है तब उस दमित इच्छा की परितृप्ति (Satisfaction) परिशोधन के द्वारा होती है। परिशोधन के परिणामस्वरूप व्यक्ति जिस क्रिया का आश्रय लेता है वह सामाजिक तो होती ही है, उसका महत्त्व भी सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यधिक रहता है। अविवाहित रहने के कारण जिस स्त्री की माता होने की इच्छा पूरी नहीं होती उसकी पूर्ति वह अनाथालयों के बच्चों की सेवा द्वारा करती है। महान कवि दान्ते के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि उसकी अमूल्य कविताओ की रचना परिशोधन के ही फलस्वरूप थी। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपनी आक्रामक वृत्ति (Aggressive tendency) की संतुष्टि युद्ध-आदि के द्वारा करता है। इस तरह हम देखते हैं कि सभी प्रकार के रचनात्मक कार्य इसी मनोरचना के परिणामस्वरूप होते हैं।

अतिपूर्ति (Over-compensation)

अतिपूर्ति मनोरचना के द्वारा हम अपनी दमित इच्छाओं की संतुष्टि विकृत अथवा स्थानापन्न प्रतिक्रियाओं द्वारा नहीं करते; बल्कि इसके द्वारा हम मानसिक संघर्षों की सत्ता को अस्वीकार करके दमन को और भी प्रबल बनाते हैं। कहने का सारांश यह है कि जिस मनोरचना के द्वारा हम अपनी अचेतन इच्छा के प्रतिकूल व्यवहारों को विकसित करते हैं उसे अतिपूर्ति कहते हैं। इस मनोरचना का महत्त्व दमन को प्रबल करने में अत्यधिक है। दमित इच्छा के प्रतिकूल व्यवहार करने से हम उस इच्छा की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं जिससे उसका दमन और भी मजबूत होता है। कई प्रकार के चारित्रिक दोषों को समझने के लिए इस मनोरचना का आश्रय लेना आवश्यक है। कोई सामान्य व्यक्ति किसी कठिनाई का अतिक्रमण करने के लिए किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता है, लेकिन अतिपूर्ति के द्वारा वह उस प्रतिक्रिया को अत्यधिक अतिरंजित रूप देता है। अतिधार्मिकता, अतिनैतिकता आदि का प्रदर्शन अतिपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यों तो सभी मनोवैज्ञानिकों ने इस मनोरचना का आश्रय

विभिन्न प्रकार के जीवन के पहलुओं में लिया है ; लेकिन इसपर अधिक प्रकाश डालने का श्रेय एडलर को ही है। वस्तुतः यह मनोरचना अभियोजन के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्व की है। इसके द्वारा हमलोग जीवन में ऐसे-ऐसे कामों को कर देते हैं जो सामान्य रूप से करना असंभव-सा है। अतिपूर्ति के अनेक उदाहरणों से विश्व के विभिन्न साहित्य भरे पड़े हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी मानसिक संघर्ष को कम करने या निमू॑ल करने में अतिपूर्ति का भी कम हाथ नहीं रहता है। पढ़ने मे कमजोर विद्यार्थियों की उदण्डता, नेतागिरी या संगीत-प्रेम आदि अतिपूर्ति के ही उदाहरण हैं। अगर यह अतिपूर्ति सामाजिक दृष्टिकोण से मान्य हो तो वस्तुतः व्यक्ति का इससे बहुत उपकार होता है।

स्थानांतर (Transference)

स्थानांतर की मनोरचना के द्वारा किसी व्यक्ति का प्रेम, या स्नेह किसी पदार्थ या व्यक्ति-विशेष से हटकर किसी दूसरे व्यक्ति या पदार्थ पर चला जाता है। मनोविश्लेषण करते समय फ्रायड ने इस व्यापार का अध्ययन किया। स्वय उसे भी इसका कई अवसरों पर शिकार होना पड़ा था। एक स्त्री की जिस समय वह चिकित्सा कर रहा था उस स्त्री का प्रेम उसपर इतना अधिक हो गया कि उससे बहुत कठिनाई के बाद वह अपना पिण्ड छुड़ा सका। तभी से उसने इस मनोरचना पर विशेष रूपेण जोर देना प्रारंभ किया। स्थानांतर का महत्त्व जीवन में अत्यधिक देखने मे आता है। प्रारंभ में माता-पिता को बच्चे प्यार की दृष्टि से देखते हैं; किंतु आगे चलकर उनका माता-पिता से प्रेम हटकर किसी विषम लिंगो के प्रति हो जाता है। स्थानांतर केवल प्रेम और स्नेह का ही नहीं होता; बल्कि आक्रामक वृत्ति (Aggressive urge) घृणा, क्रोध, भय आदि विषयों का भी होता है। कभी-कभी इसका व्यवहार बालपन की दबी और भूली हुई अनुभूतियों के प्रत्यावाहन (Reproduction) के अर्थ में भी होता है। इस प्रकार इसका व्यवहार जिस रूप में भी किया जाय, लेकिन इसका अभिप्राय किसी प्रकार के भाव या सवेग का एक पदार्थ से हटकर दूसरे से आबद्ध होना ही होता है। जब कोई व्यक्ति अन्धकार से डरने लगता है तो ऐसी परिस्थिति में भी हम यही कह सकते हैं कि उसका इस प्रकार का भय स्थानांतर के फलस्वरूप है। फ्रायड के अनुसार हमारे जो भाव या सवेग बचपन में दब जाने के कारण भूल जाते हैं उन्हीं का स्थानांतर आगे चलकर होता है, जैसा कि उसने कई स्थलों पर व्यक्त भी किया है।

विस्थापन (Displacement)

जब किसी आविर्भूत संवेग का प्रत्यक्ष प्रकाशन अवरुद्ध हो जाता है तब उस संवेग का प्रकाशन अप्रत्यक्षतया किसी ऐसे पदार्थ या व्यक्ति के प्रति होता है जो वस्तुतः निर्दोष या तटस्थ रहता है। इस प्रकार इस मनोरचना के द्वारा संवेग अपने वास्तविक विषय से हटकर किसी दूसरे अनावश्यक एवं निर्दोष विषय पर चला जाता है। इसके द्वारा दबी एवं कुंठित इच्छाओं एवं दमन में समझौता होता है क्योंकि इससे बोधात्मा (Ego) की मर्यादा की भी रक्षा होती है, और अबोधात्मा (Id) की संतुष्टि भी इसी के द्वारा हो जाती है। कभी-कभी यह मनोरचना अवचेतन रूप में भी होती है; लेकिन प्रायः यह अचेतन-मन की ही कार्यपद्धति है। जब किसी नायिका का प्रेम पति के अभाव में अपने बच्चे पर चला जाता है तो यहाँ हमें विस्थापन का ही उदाहरण मिलता है। कार्यालय में डाँट सुनने पर जब कोई कर्मचारी घर लौटकर अपनी निर्दोष पत्नी या नौकर पर क्रोध का सवेग प्रकाशित करता है तो वहाँ भी हमें विस्थापन का ही उदाहरण मिलता है। इस मनोरचना की बहुलता स्वप्नों और मनोविकृतियों में भी देखने में आती है। विस्थापन के ही द्वारा स्वप्न में साधारण से साधारण घटना भी प्रमुख बन जाती है। विस्थापन समाज-विहित भी हो सकता है और समाज के प्रतिकूल भी हो सकता है। जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को घृणा या प्यार करते हैं जिसे ऐसा करना सामाजिक दृष्टिकोण से निन्द्य है तब हमारे मन में संघर्ष छिड़ जाता है और उस संघर्ष से निमुक्ति हमें विस्थापन द्वारा होती है। माता-पिता से घृणा करना हमारी बोधात्मा नहीं सहन कर सकती है; लेकिन हमारी अबोधात्मा को ऐसा करने मे ही संतुष्टि मिलती है। इसलिए बोधात्मा की मर्यादा को रखने तथा अबोधात्मा की संतुष्टि के लिए हमारी वह घृणा अपने उच्चपदस्थ कर्मचारी अथवा किसी अन्य व्यक्ति-विशेष के प्रति हो सकती है। इसी प्रकार जब हम अपने पिता के प्रति आक्रामक वृत्ति का प्रकाशन, सामाजिक एवं नैतिक बन्धनों के कारण, करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं तब उसका प्रकाशन विस्थापन के द्वारा किसी निर्दोष व्यक्ति के प्रति करते हैं। इसपर यहाँ विशेष रूप से प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है, क्योकि पाठक स्वप्न के प्रकरण में इसके सम्बन्ध में विशेष रूप से जानेंगे।

आत्मीकरण (Identification)

आत्मीकरण के द्वारा हम अपने व्यवहार एवं क्रियाओं को किसी व्यक्ति-विशेष के अनुसार मोड़ लेते हैं। यह वह मनोरचना है जिसके द्वारा

कोई व्यक्ति-विशेष अपने व्यक्तित्व में दूसरे के व्यक्तित्व की छाप पाता है। आत्मीकरण के कारण व्यक्ति अपने आपको भूलकर जिससे आत्मीकरण करता है उसी के अनुरूप बन जाता है या बनने की कोशिश करता है। वह अपने और आत्मीकरण के विषय मे किसी प्रकार का अन्तर अनुभव नहीं करता; इसलिए उसी की तरह अपनी सभी क्रियाओं को करने की कोशिश करता है। छोटे-छोटे बच्चे आत्मीकरण के प्रसाद से अपने माता-पिता या अभिभावकों के रहन-सहन तथा वेश-भूषा का अनुकरण करते हैं। लेकिन यहाँ इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अनुकरण तथा आत्मीकरण में आकाश-पाताल का अन्तर है। अनुकरण प्राय: हमारे चेतन-मन की क्रिया है, लेकिन आत्मीकरण हमारी अचेतन मनोरचना है। इतना ही नहीं, बल्कि अनुकरण के द्वारा हम किसी अन्य व्यक्ति के आहार-व्यवहार की प्राय: पुनरावृत्ति मात्र करते हैं; किंतु आत्मीकरण के द्वारा हम किसी व्यक्ति के दोष-गुणों को इस प्रकार अगीकार कर लेते हैं कि वह हमारे व्यक्तित्व का एक अंश बन जाता है। जब हम किसी महान नेता, विद्वान्, कलाकार आदि से आत्मीकरण कर लेते हैं तो केवल वैसा बनने की ही कोशिश नहीं करते, बल्कि उसके कल्याण के लिए अपनी जान की भी बाजी लगा देते हैं। जब कोई माता या कोई अन्य व्यक्ति अपने भोजन न कर अपने बच्चे या प्रेम-पात्र के लिए सुरक्षित रख देता है और अपने भूखा रहने मे भी संतुष्टि का ही अनुभव करता है तो हमें आत्मीकरण का ही उदाहरण मिलता है। गरीब माताएँ माघ के महीने मे सिहरती हुई भी अपने बच्चों को शीत से बचाती हैं। यह आत्मीकरण नहीं तो और क्या है? मनोविश्लेषण करते समय जब चिकित्सक स्वयं रोगी के प्रेम या घृणा का पात्र बन जाता है तब वह ऐसा, आत्मीकरण मनोरचना के ही फलस्वरूप होता है। जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, फ्रायड को कई अवसरों पर ऐसे अनुभवों का सामना करना पड़ा था। आज आत्मीकरण के ही फलस्वरूप लोग जवाहर-जैकेट, गाँधी-टोपी, जयप्रकाश-कट कुर्ता, वल्लभ-चप्पल आदि को धारण करते हैं। वस्तुत: वे ऐसा करके अपनी उच्चता की भावनाग्रंथि को ही संतुष्ट करते हैं। मनुष्य के जीवन में इस मनोरचना का हाथ भी कम नहीं रहता है। लेखक के एक मित्र हिन्दी के सफल शिक्षक एवं विद्वान् हैं। उनके संभाषण को सुनकर विद्यार्थी इस प्रकार मंत्रमुग्ध हो जाते हैं कि वे स्वयं उनकी भाषण-शैली का अनुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। लेखक के एक आनर्स के विद्यार्थी ने उन्हें ऐसा आदर्श मान लिया है कि जब कभी वह हिन्दी में वार्तालाप करता है या किसी

विषय पर अपना विचार प्रकट करता है तो उसकी ध्वनि से उक्त आचार्य की ही ध्वनि का आभास होता है। वस्तुत: वह विद्यार्थी चेतनतया वैसा नहीं करता; बल्कि आत्मीकरण के ही कारण वह उनके ऐसा बोलता या संभाषण देता है। लेखक से उसने कई बार उक्त आचार्य की भाषण-शैली को अपनाने की इच्छा भी प्रकट की है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस मनोरचना का प्रभाव सामान्य मानसिक अवस्था से लेकर असाधारण मानसिक अवस्था तक देखने में आता है। हमारे अधिकाश सामाजिक व्यवहारों में भी आत्मीकरण के उदाहरण मिलते हैं।

विक्षेपण (Projection)

अन्य मनोरचनाओं की तरह विक्षेपण भी एक मनोरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी बोधात्मा (Ego) के प्रतिकूल भावों, इच्छाओं तथा विशेषताओं को किसी दूसरे व्यक्ति या विषय-विशेष में आरोपित करता है। यों तो मानव-समाज की ही यह विशेषता है कि वह अपने दोषों और असफलताओं का कारण दूसरे को बताता है; लेकिन उसका ऐसा करना अधिकांशत: चेतन-मन के द्वारा होता है। परन्तु विक्षेपण की मनोरचना का परिचालन हमारे अचेतन-मन के द्वारा होता है; इसलिए प्राय: इसका ज्ञान हमलोगों को नहीं रहता है। यह एक ऐसी रक्षात्मक मनोरचना है जिसके द्वारा हमारा अज्ञात-मन अपने दोषों को दूसरे के मत्थे मढ़कर अपने भार को हल्का करता है। अगर हम यह कहें कि यह हमारी सुखेच्छु-वृत्ति की दासी है तो इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि इसका संचालन उसी सुखेच्छुवृत्ति के अनुसार होता है। हमारी जो इच्छाएँ या क्रियाएँ हमारी बोधात्मा के आदर्श के प्रतिकूल होती हैं उन्हें हमारी बोधात्मा स्वीकार नहीं करती। अतएव हमारी यह मनोरचना उनका आरोपण किसी दूसरे व्यक्ति या विषय में कर देती है। जब कोई व्यक्ति अपने किसी साथी के चारित्रिक दोषों तथा बेईमानी की कटु आलोचना करता है तो वस्तुत: उस समय वह विक्षेपण ही करता है। विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि दूसरे की आलोचना कोई व्यक्ति जिन दुर्गुणों के लिए करता है, वस्तुत: वे दुर्गुण उसी में विद्यमान रहते हैं। लेकिन वह उन दुर्गुणों का आरोपण दूसरों में इसलिए करता है कि वह ऐसा करने से शान्ति की साँस लेता है। माता-पिता का अपनी असफलता का दोष अपने बच्चों पर मढ़ना, दुश्चरित्र पति का अपनी पत्नी में चारित्रिक दोष पाना आदि विक्षेपण के कितने ही

उदाहरण दैनिक जीवन से दिए जा सकते हैं। स्थिर-भ्रम के रोगियों (Paranoics) में यह मनोरचना विशेष रूप से देखी जाती है।

हाँ, और भी स्पष्ट करने के लिए इसे और आत्मीकरण को अलग-अलग समझ लेना आवश्यक है। आत्मीकरण में हम दूसरे के गुणों को अपने में आरोपित करते हैं; लेकिन विक्षेपण में हम अपने दुर्गुणों को दूसरे मे आरोपित करते हैं। इसी प्रकार युक्त्याभास में हम अपने व्यवहार को स्वीकार करते हैं, लेकिन उस व्यवहार का कारण ऐसा व्यक्त करते हैं जिसका सम्बन्ध हमारी प्रेरणा या इच्छा से नहीं रहता। साथ ही, विक्षेपण मे हम अपनी प्रेरणा को स्वीकार ही नहीं करते और उसका आरोपण भी दूसरे में ही करते हैं। प्राय: इस मनोरचना का आश्रय सभी व्यक्ति अपने जीवन में लेते हैं, तभी तो हम अपने दोषों को दूसरो के मत्थे मढ़कर सुख की साँस लेते हैं।

अन्त.क्षेपण (Introjection)

अन्त:क्षेपण की मनोरचना विक्षेपण के प्रतिकूल-स्वरूप की है। हमने अभी ऊपर देखा है कि विक्षेपण के द्वारा हमलोग अपने विचारों और दोषों को अपने आपमें न पाकर दूसरे व्यक्तियों या विषयों में पाते हैं। लेकिन अन्त:क्षेपण में ऐसा नही होता, बल्कि इस मनोरचना के द्वारा हमलोग किसी व्यक्ति-विशेष या उसके गुणों को अपने व्यक्तित्व का ही एक अंश मानते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्त:क्षेपण तथा आत्मीकरण एक ही मनोरचना है। विचार करने पर मालूम होगा कि आत्मीकरण और अन्त:क्षेपण मे मौलिक अन्तर है। आत्मीकरण के द्वारा हम किसी अन्य व्यक्ति के अनुरूप होना चाहते हैं, लेकिन अन्त:क्षेपण के द्वारा हम दूसरे व्यक्ति को अपना ही एक अश मानते हैं, उसके ऐसा होना नहीं चाहते। हम किसी की तरह उसी समय बनना चाहते हैं जब कि हम उसे अपने से अलग समझते हैं। लेकिन जब अन्त:क्षेपण के द्वारा किसी व्यक्ति को अपने ही व्यक्तित्व का एक अंश मानते हैं तब तो उसके ऐसा होने का प्रश्न ही नहीं होता। हमलोग प्राय: कहा करते हैं कि तुम सदा हमारे साथ हो या तुम्हारी स्मृति सदा बनी रहती है। हमारे ऐसे वाक्य अन्त:क्षेपण मनोरचना के ही परिचायक हैं। हम जिसे बहुत प्यार करते हैं या जिसकी अत्यधिक प्रशसा करते हैं, उसे हम अपने से अलग नहीं समझते हैं। मनोविदलता (Schizophrenia) की अवस्था में अन्त:क्षेपण की बहुलता रहती है। इसलिए रोगी को यह विश्वास हो जाता है कि उसमें अन्य लोगों की शक्तियाँ

एवं विशेषताएँ विद्यमान हैं। परानुभूति (Empathy) की हालत में भी इस मनोरचना की कार्यवाही देखने में आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्त:क्षेपण का हाथ भी हमारे जीवन में कम महत्त्व का नहीं है।

इन उपर्युक्त मनोरचनाओं के अतिरिक्त दिवास्वप्न (Day Dreaming, Reverie or Phantasy), घनीकरण (Condensation), प्रतीकीकरण (Symbolization) आदि और भी कितनी मनोरचनाएँ हैं, लेकिन उनका उल्लेख यहाँ न करके स्थल-विशेष पर प्रसगवश किया जायेगा। हाँ, यहाँ इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त सभी मनोरचनाओं का महत्त्व हमारे जीवन में अत्यधिक है। लेकिन स्थानांतर, विस्थापन, अन्त:क्षेपण तथा आत्मीकरण का जो महत्त्व हमारे व्यक्तित्व-विकास मे है उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तुत: हमारे जीवन में न तो सभी समय साधारण कोटि के मानसिक संघर्ष ही रहते हैं और न वे अकेले ही होते हैं, बल्कि अधिकांशत: कई प्रकार के मानसिक सघर्ष चला करते हैं। इसलिए उन सघर्षों के न्यूनीकरण या निराकरण के लिए हमारा अचेतन-मन कई मनोरचनाओं का एक साथ आश्रय लेता है और तब कहीं संघर्ष को शांत करने में समर्थ होता है।

चौथा अध्याय

मनोलैंगिक विकास (Psychosexual Development)

फ्रायड ने जीव के व्यक्तित्व-निर्धारण में लैंगिक इच्छाओं को बहुत ही महत्त्व दिया है। साधारणतः लोग समझते हैं कि लैंगिक इच्छाओं का उदय युवावस्था में होता है। किन्तु, फ्रायड ने लिंग (Sex) शब्द का व्यवहार बहुत ही प्रशस्त अर्थ में किया है। फ्रायड के मतानुसार लैंगिक इच्छा का प्रादुर्भाव बच्चे के स्तनपय के ही समय होता है जो उसके शारीरिक और मानसिक विकास के साथ विकसित होती जाती है। सर्वप्रथम फ्रायड ने ही सन् १९०६ ई० में सामान्य-व्यक्तित्व-विकास के लिए आवश्यक मनोलैंगिक विकास के स्वरूप पर प्रकाश डाला तथा इससे विभिन्न लैंगिक विकृतियों का सम्बन्ध प्रदर्शित किया। उसने मनोलैंगिक विकास को जिन पाँच प्रमुख अवस्थाओं मे बाँटा है, उनपर क्रमशः आलोचनात्मक रूप से यहाँ विचार किया जायगा।

मौखिक अवस्था (Oral stage)

फ्रायड के अनुसार मनोलैंगिक विकास की पहली अवस्था को मौखिक अवस्था कहते हैं। बच्चे के जन्म के समय यह अवस्था मौजूद रहती है। अतएव उसे सभी प्रकार के लैंगिक आनन्द स्तनपान (Sucking) द्वारा प्राप्त होते हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस अवस्था मे चूसने की क्रिया की इतनी प्रधानता रहती है कि जब बच्चे को स्तन चूसने को नहीं मिलता तो वह अँगूठा चूसकर ही लैंगिकता का आनन्द लेता है। चूसने की इस अवस्था को विद्वानों ने प्रथम मौखिक अवस्था के नाम से अभिव्यक्त किया है। पहले उसे स्तन चूसने में ही आनन्द मिलता है; किंतु बाद में उसे यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि स्तन की जगह दूसरी चीजों के चूमने से मुँह और होठों के उत्तेजित होने पर उसी प्रकार की सुखद अनुभूति होती है। इसलिए पेट भरा रहने पर भी वह इस अवस्था में उगली या अन्य चीजों के चूसने का अत्यधिक इच्छुक होता है। लैंगिक-विकास की इस अवस्था को विद्वानों ने बहुरूपी विकृति (Polymorphous perversity) की भी संज्ञा दी है। चूसने की इस क्रिया के साथ साथ कभी-कभी कुछ बच्चों में संवेदनशील अगों के मलने की भी क्रिया देखने में आती है। इस सम्बन्ध में फ्रायड का विचार है कि ऐसे ही संवेदन-

शील (Sensitive) अंगों के मलने से बच्चे आगे चलकर हस्तमैथुन (Masturbation) करना सीख जाते हैं।

उपर्युक्त अवस्था का सत्ताकाल (Duration) जन्म से लेकर आठवें महीने तक रहता है; लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आठवें महीने मे यह अवस्था पूर्णतः विलुप्त हो जाती है और दूसरी अवस्था का आविर्भाव होता है। वस्तुतः इस विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएँ एक दूसरे में इस तरह सन्निहित रहती हैं कि उन्हें पूर्णतः एक दूसरे से अलग करना असंभव है। सच्ची बात तो यह है कि एक अवस्था के कुछ पहलू विलीन हो जाते हैं और कुछ पूर्वरूप या परिमार्जित रूप में दूसरी अवस्था में भी बने रह जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं की भी हालत है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इस अवस्था में बच्चे को लैंगिकता के आनन्द की अनुभूति मुँह तथा अन्य मौखिक प्रदेशों (Oral regions) से ही होती है। बच्चे को तनाव से निर्मुक्ति (Tension relief) तथा आनन्द की प्राप्ति चूसने और निगलने से होती है। इस अवस्था में कामुक उदीरण (Erotic Drive) जिसकी स्थिति मुँह मे ही होती है, चूसने से ही प्रधानतः प्रेरित होती है और वह मौखिक संतृप्ति ही करता है। उसे इतना ज्ञान भी नहीं रहता कि वह अपने और माता की भिन्नता को समझ सके। यद्यपि वैयक्तिक आनन्द की प्राप्ति उसे अपने शरीर से ही होती है; लेकिन उसे इसकी चेतना नहीं रहती है। इसीलिए उसकी इस प्रकार की संतृप्ति को विद्वानों ने आत्मकामुक संतृप्ति (Auto-Erotic Satisfaction) की संज्ञा दी है।

इस शैशव लैंगिकता (Infantile Sexuality) की विशेषताओं का वर्णन अब्राहम (Abraham) ने बहुत ही सुन्दरता के साथ किया है। उसका इस सम्बन्ध में कहना है कि शैशव लैंगिकता की प्रधान विशेषता यह है कि यह आत्मलैंगिक (Auto-sexual) अथवा आत्मकामुक (Auto-erotic) स्वरूप की होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चा लैंगिक आनन्द की प्राप्ति दूसरे व्यक्ति या पदार्थ से नहीं करता; बल्कि अपने आपसे करता है। दूसरी विशेषता इसकी यह है कि यह लैंगिकता चूसने की क्रिया से भिन्न नहीं है। इसकी स्पष्टता के लिए हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि शैशव लैंगिकता के लिए प्रौढ़ लैंगिकता की तरह संभोग (Intercourse) की आवश्यकता नहीं पड़ती है। तीसरी विशेषता इसकी यह है कि इस प्रकार के लैंगिक आनन्द की अनुभूति बच्चे को शरीर के कामोत्तेजक अंचलों (Erogeneous zones) को

उत्तेजित करने से होती है। होठ अत्यधिक संवेदनशील होते हैं और उन्हीं को उत्तेजित करके बच्चा लैंगिक संभोग का आनन्द लेता है। कहने का सारांश यह है कि शैशव लैंगिकता के लिए जननेन्द्रिय को उत्तेजित करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि दूसरे संवेदनशील अग भी इसके लिए पर्याप्त होते हैं। आगे चलकर फ्रायड तथा अब्राहम दोनों ने ही प्रौढ़ चुम्बन को चूसने एवं लैगिक सभोग से ही आबद्ध बताया है।

दूसरी मौखिक अवस्था को फ्रायड तथा उसके अन्य मतावलम्बियों ने दाँत काटने की मौखिक अवस्था (Oral Biting stage) कहा है। यह अवस्था आठवें महीने से प्रारंभ होकर अठारहवे महीने के करीब तक रहती है। लेकिन जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि चूसने की क्रिया पूर्णतः समाप्त हो जाती है और दाँत काटने की क्रिया मात्र रहती है। तब इतना अवश्य है कि बच्चे में इस समय दाँत से काटने की क्रिया की ही प्रधानता रहती है और इसी के द्वारा वह लैंगिक आनन्द को लूटता है। इस अवस्था में बच्चे में दाँत निकल आते हैं और वह आक्रामक प्रवृत्ति (Aggressive tendency) का खुलकर प्रदर्शन करता है। इस अवस्था में दाँत काटने, चूसने और निगलने की क्रियाओ द्वारा बच्चा लैंगिकता का आनन्द लेता है। अब उसमें केवल कामुक प्रवृत्ति (Erotic urges) की प्रधानता नहीं रहती; बल्कि उसमें छिन्न-भिन्न करने की आक्रामक वृत्ति भी प्रबल मात्रा मे रहती है। उसमें माता के प्रति उभय-भावशीलता (Ambivalence) दृष्टिगोचर होती है। इस अवस्था में कुछ अंशों में माता से स्वतंत्र होने के कारण बच्चा उसे घृणा की दृष्टि से देखता है किंतु, चूँकि माता से उसकी इच्छाओ की संतुष्टि भी होती है, इसलिए उसे प्यार भी करता है। यद्यपि वह प्रारंभ मे आत्मकामुक (Auto-erotic) ही रहता है; लेकिन इस समय उसमें आत्म-प्रेम (Narcissism) का आविर्भाव हो जाता है। इस समय उसे अपने शरीर से आनन्द-मात्र ही नहीं मिलता, वल्कि अपने आप का ज्ञान भी हो जाता है, इसलिए वह अपने आपको प्रेम भी करने लगता है। इस प्रकार इस अवस्था की प्रधान विशेषता कड़ी चीजों तथा माता के स्तन को दातों से काटना मात्र है। इसी क्रिया के द्वारा बच्चा लैगिकता का आनन्द लेता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि नष्ट-भ्रष्ट करने की प्रवृत्ति को विद्वानों ने मौखिक परपीड़न प्रीति (Oral sadism) भी कहा है।

इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि इस सम्बन्ध में मेलनी क्लाइन

(Melanie Klein) की विचार-धारा फ्रायड से भिन्न है। उसके अनुसार जितना मनोलैंगिक विकास पुराने मनोविश्लेषकों (orthodox phychoanalysts) के अनुसार प्रारंभिक बचपन-काल में होता है उसका अधिकांश विकास बच्चे में एक वर्ष की अवस्था के पूर्व ही प्रतिरूपित (Represented) रहता है। जब छः महीने के बाद बच्चे को मौखिक कुंठा (oral frustration) की अनुभूति होती तथा जब उसमें मौखिक परपीड़न-प्रीति की विवृद्धि होती है तभी उसमें मातृ प्रेम प्रवृत्तियों (oedipus impulses) का आविर्भाव होता है। कुण्ठा के फलस्वरूप बच्चे में पिता के शिश्न (Penis) को अन्तर्गतकरण (incorporate) की प्रवल इच्छा होती है, किन्तु—इस इच्छा के साथ-साथ उसमें यह कल्पना भी मौजूद रहती है कि माता, पिता के शिश्न की अधिकारिणी है तथा उसी ने उसे अन्तर्गत भी किया है। अतएव वह माता के शरीर को ही नष्ट करना चाहता है। बच्चियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण, बच्चों के पुंस्त्वहरण चिन्ता (Castration anxiety) के ही समान, अपने शरीर के विनष्ट होने का भय होने लगता है। बच्चा भी यह सोचकर कि माता ने पिता के शिश्न को अन्तर्गत किया है माता के शरीर से भयभीत रहता है। इस प्रकार बच्चे और बच्ची दोनों ही के सामने एक भयावह परिस्थिति उपस्थित हो जाती है। बच्चों को इस प्रारभिक चिन्ता का परिमार्जन वास्तविक पदार्थों के सम्पर्क एव इच्छा-शक्ति (Libido) के ही द्वारा होता है। क्लाइन के अनुसार विनाशकारी प्रवृत्तियों (Destructive Impulses) के सघर्ष से विजयप्राप्त इच्छाशक्ति की विभिन्न परिस्थितियों के ही प्रतिरूपक इच्छा-शक्ति विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

युंग का दृष्टिकोण प्रारंभिक फ्रायडवादी मनोलैंगिक विकास से पूर्णतः भिन्न है। उसने व्यक्ति को सम्पूर्ण विकासावस्था को तीन भागों में विभक्त किया है और शैशव लैंगिकता का व्यवहार भी बहुत ही संकीर्ण अर्थ में किया है। वह फ्रायड की लैंगिक शक्ति को पूर्णतः तिरस्कृत करता है; क्योंकि वह इच्छा-शक्ति को लैंगिक शक्ति नहीं, बल्कि जीवन-शक्ति मानता है। उसके अनुसार प्रारभिक अवस्था, पोषण (Nutrition) तथा विवृद्धि (Growth) की रहती है और बहुत कठिनाई से इस अवस्था को पार कर उसकी इच्छा-शक्ति लैंगिकता के कार्यों में बचपन की अन्तिम अवस्था के बाद और पूर्व यौवन (Prepubertal) के मध्य परिणत होती है। इस प्रकार चूसने की प्रारंभिक क्रिया पहले पोषण-मात्र के ही लिए होती है और वही क्रमशः लयात्मक क्रियाओं में आनन्दानुभूति और संतुष्टि के साधन में परिणत हो जाती

है। आगे चलकर सुखांग (Pleasure zones) परिवर्तित हो जाते हैं तथा लयात्मक पहलू का सम्बन्ध जननांग (Genital component) से हो जाता है। जब जीवन-शक्ति पोषण-क्रिया से लैंगिकांगों में प्रवेश करती है तो उस समय भी उसमें पहले की क्रियाएँ मौजूद रहती हैं। इस प्रकार युंग की विचार-धारा उपर्युक्त विचार-धारा से पूर्णत: भिन्न है।

नवीन फ्रायडवादी (Neo-Freudians) भी फ्रायड-सम्बन्धी प्रारंभिक मनोलैंगिक विकास से सहमत नहीं हैं। इसलिए वे प्रारंभिक विकासावस्था में लैंगिक अथवा कामुक (Erotic) पहलू पर बहुत ही कम जोर देते हैं और सांस्कृतिक (Cultural) तथा विकासात्मक (Developmental) पहलू पर विशेष रूप से जोर देते हैं। इस प्रकार वे लैंगिक पहलू को आकस्मिक अथवा सहायक ही मानते हैं। यद्यपि वे फ्रायड के सामान्य विकास-क्रम से पूर्णत: सहमत हैं तथापि वे उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। मौखिक अवस्था के प्रति थाम्पसन (Thompson) का कहना है कि यह प्रधानत: जैव-विकास (Biological Development) से ही निर्धारित होती है। नवजात शिशु में मुँह की ही प्रधानता रहती है, इसलिए वह अपने मुँह के ही द्वारा संसार से सम्बन्ध प्रस्थापित करता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि सभी भागों से अत्यधिक उसके मुँह का ही विकास हुआ रहता है। इसलिए मौखिक अवस्था का निर्धारण आनन्द-महत्त्व (Pleasure value) के द्वारा नहीं, बल्कि इन्द्रियों द्वारा ही होता है। इस प्रकार वह मौखिक अवस्था में लैंगिकता को महत्त्व न देकर सांस्कृतिक एवं आंगिक (organic) अंगों की ही प्रधानता व्यक्त करता है। अतएव इस स्थल पर हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि थाम्पसन के अनुसार मौखिक अवस्था का आधार सांस्कृतिक एवं आंगिक अंग है लैंगिक नहीं, जैसा कि फ्रायड तथा अन्य रूढ़िवादियों ने व्यक्त किया है।

इरिकसन (Erikson) ने रूढ़िवादियों के मनोलैंगिक विकास का बहुत ही विशद वर्णन किया है। उसने तीन अंगों की भिन्नता बहुत अच्छे ढंग से प्रदर्शित की है। प्रथम मौखिक अवस्था के सम्बन्ध में उसका कहना है कि इस अवस्था में मौखिक संवेदनात्मक अंचल (oral sensory zone) में अन्तर्गतकरण रीति (Mode of Incorporation) की ही प्रधानता रहती है। शिशु केवल उचित पदार्थों को चूसता या निगलता मात्र ही नहीं है, बल्कि जो कुछ भी उसकी दृष्टि में आता है वह उसे आँखों के द्वारा अन्तर्गत करता है। वह अपनी मुट्ठी को इस प्रकार बाँधता और

खोलता है जिससे यह मालूम होता है कि वह चीजों को पकड़ता है। इसी तरह जो कुछ भी उसकी त्वचा को सुखद और अच्छा मालूम होता है उसे भी वह अन्तर्गत करता हुआ जान पड़ता है। अन्य रीतियाँ इस अवस्था में अन्तर्गतकरण की सहायक-मात्र ही होती हैं।

द्वितीय मौखिक अवस्था में बच्चा दाँत से काटने के द्वारा अन्तर्गत करने की क्रिया करता है। दाँतों के निकलने और विकसित होने के साथ-साथ वह चीजों को काटना, काटकर टुकड़ी-टुकड़ी कर देना आदि करना प्रारंभ कर देता है। आँखे पदार्थों पर टिकने लगती हैं तथा कान ध्वनियों के स्थान और दिशा निर्धारित करने लगते हैं। हाथों से चीजों को पकड़ने और छोड़ने की भी क्रिया इस द्वितीय अवस्था में होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोलैंगिक विकास के मौखिक अवस्था पर विभिन्न विद्वानों ने अपना मत प्रकट कर फ्रायड के मौलिक सिद्धान्त में अत्यधिक परिमार्जन किया है।

गुदद्वारीय अवस्था (Anal stage)

मौखिक अवस्था के बाद गुदद्वारीय अवस्था (Anal stage) का आगमन होता है जिसमें लैंगिक संवेग अभिरुचि (Sexual emotional Interest) मुँह से अवतरित होकर गुदा में केन्द्रीभूत होती है। इस अवस्था का आविर्भाव बच्चे में मौखिक अवस्था के छठें महीने के ही लगभग हो जाता है और चौथे वर्ष तक यह अवस्था बनी रहती है। इस प्रकार इस अवस्था में गुदद्वारीय अग का ही महत्त्व रहता है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि गुदद्वारीय आनन्द की प्रवृत्ति बच्चे में जन्म से ही मौजूद रहती है; लेकिन जबतक दूसरे वर्ष में वह प्रवेश नहीं करता तबतक इसकी कोई विशेष महत्ता नहीं रहती है। इस अवस्था के भी, मौखिक अवस्था की ही तरह, दो पहलू हैं। प्रारंभिक अवस्था को निःसरणात्मक (Expulsive) और द्वितीय अवस्था को धारणात्मक (Retentive) पहलू कहते हैं।

पहली निःसरणात्मक अवस्था में बच्चे को लैंगिक आनन्द की अनुभूति मलोत्सर्जन और मूत्र त्याग करने से ही होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि मलोत्सर्जन से बच्चा अपने को तनाव (Tension) से निर्मुक्त तो करता ही है इसके अतिरिक्त उससे पिच्छलत्वचा (Mucous membrane) भी उत्तेजित होती है, जिससे उसे वही लैंगिक आनन्द मिलता है जो प्रारम्भ में बच्चे को मौखिक अवस्था मे स्तनपान या अन्य चीजों को चूसने से मिलता है। बच्चा यह भी समझने लगता है कि माता-पिता उचित रूप से और उचित समय पर मल-मूत्र त्याग करने पर अत्यधिक जोर देते हैं।

इसलिए इस अवस्था में बच्चे को यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि मल-मूत्र ऐसी गन्दी चीजें हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। लेकिन उसी समय उसे उनके धारण करने का भी महत्त्व ज्ञात हो जाता है। इस समय उसे वास्तविकता का इतना ज्ञान हो जाता है और उसकी बोधात्मा (Ego) इतनी विकसित हो जाती है कि वह अपनेको बहुत शक्तिशाली समझने लगता है। उसको यह भी भली भाँति मालूम हो जाता है कि मलमूत्र त्याग करने से व्यक्तिगत आनन्द के अतिरिक्त उसे पुरस्कृत भी किया जाता है। अतएव उसका उपयोग वह अपनी आक्रामक वृत्ति को प्रदर्शित करने तथा माता-पिता को अपमानित करने के लिए भी करता है। बच्चों का बिछावना पर मूत्रस्राव अथवा मलत्याग करना उनकी आक्रमक वृत्ति एवं उनके व्यक्तिगत आनन्द का ही परिचायक है। बच्चा मलोत्सर्जन कभी-कभी इसलिए भी नहीं करता है कि कुछ देर रोक लेने के बाद उसका निराकरण करने में उसे अत्यधिक मजा मिलता है। कुछ माताएँ अपने बच्चों के लिए वस्तिक्रिया-यन्त्र (Enema) का उपयोग करती हैं जिससे उनकी उत्तेजना और भी प्रबल हो जाती है और वे अत्यधिक लैंगिक आनन्द की अनुभति करते हैं।

यद्यपि इस निःसरणात्मक अवस्था मे भी स्वयंकाम-प्रवृत्ति (Autoercticism) मौजूद रहती है लेकिन, उसका स्वरूप प्रधानतः गुदद्वारीय ही होता है। इसी प्रकार आत्मप्रेमावस्था (Narcissism) भी इस समय विद्यमान रहती है। बोधात्मा के विकसित होने के कारण बच्चे का व्यवहार वास्तविकता के सिद्धान्त (Reality principle) से भी परिचालित होता है। तिसपर भी सुखेच्छु-वृत्ति (Pleasure-principle) की प्रधानता उसके व्यवहार में देखी जाती है। बच्चे को वास्तविकता का इतना ज्ञान इस अवस्था में हो जाता है कि कभी-कभी उसे वास्तविकता की रक्षा के लिए अपनी सुखेच्छु-वृत्ति को ठुकराना भी पड़ जाता है। इसलिए आगे के जीवन में वह उन्हीं सुखद व्यवहारों को करता है जिनके करने से उसे वास्तविकता से किसी तरह का सघर्ष नहीं करना पड़ता। अतएव हम यह कह सकते हैं कि वह असगतता का परित्याग करने की परिचेष्टा करता है। इसी अवस्था में बच्चे को लिंग-भिन्नता का भी ज्ञान होने लगता है, इसलिए वह यह समझने लगता है कि उसे एक निश्चित लिंग का जीव होना है। इस अवस्था में मातृ-प्रेम-परिस्थिति (Oedipus situation) की भी निरंतरता बनी रहती है। वस्तुतः यह अवस्था बहुत ही विषम होती है।

द्वितीय धारणात्मक अवस्था (Retentive stage) में बच्चे को

मलोत्सर्जन से आनन्द नहीं मिलता; बल्कि उसे धारण करने में ही उसे लैंगिक आनन्द मिलता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस अवस्था में बच्चे को मलमूत्र धारण एव नियन्त्रित करने का सामाजिक महत्त्व तो ज्ञात ही हो जाता है, साथ ही साथ उसे यह भी मालूम हो जाता है कि इन्हें धारण करने से पिच्छल-त्वचा की उत्तेजना से भी कम आनन्द नहीं मिलता है। बच्चा यह सोचता है कि माता-पिता जब इनके त्याग पर इतना अधिक जोर देते हैं तब तो अवश्य ही ये चीजें महत्त्व की हैं। इस अवस्था में भी परपीड़न-प्रीति के बीजतत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। बच्चा अपने प्रेम का प्रदर्शन मल के द्वारा करता है और अपने माता-पिता के प्रति अपनी संघर्षात्मक वृत्तियों का प्रदर्शन उसे धारण करके करता है।

इस अवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बच्चा मुँह, गुदा तथा गुप्तांग (Vagina) सभी को समान ही समझता है, इसलिए उनके अन्तरों का ज्ञान उसे नहीं रहता। इसी प्रकार स्तन, शिश्न और मल को वह अचेतनतया समान ही समझता है और मलमूत्र को नियंत्रित करने में समर्थ होने के कारण अपने को सर्वशक्तिमान भी मान लेता है। इसी अवस्था में बच्चे को यह भी ज्ञान हो जाता है कि उसके माता-पिता जितना एक दूसरे पर ध्यान देते हैं उतना उन दोनों में से कोई भी उसपर ध्यान नहीं देता। इस अवस्था के बाद उसमें लिंग-प्रधान्यावस्था (Phallic stage) का आविर्भाव होता है जिसपर स्थल-विशेष पर प्रकाश डाला जायगा।

इस सम्बन्ध मे नवीन फ्रायडवादियों, जिनमें थाम्पसन तथा सुलिवन (Sullivan) की प्रधानता है, की विचार-धाराओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस अवस्था की भी व्याख्या थाम्पसन ने सांस्कृतिक एवं पारस्परिक सम्बन्धों के ही माध्यम से की है। उसका इस सम्बन्ध में यह कहना है कि बच्चा जिस आयु में अपनी गुदद्वारीय सुषिरस्नायु (Sphincter) को नियंत्रित करने में समर्थ होता है उस आयु पर आंगिक शक्तियों (Organic forces) का प्रभाव संभव है; लेकिन इस अवस्था के आविर्भाव होने के समय को निर्धारित करने मे सांस्कृतिक अंगों का जो महत्त्व है उसकी उपेक्षा करना असंभव है। फ्रायड-सम्बन्धी विचार-धारा यूरोपीय संस्कृति के ही लिए सत्य प्रमाणित हो सकती है, सभी देशों के लिए नहीं। मल-मूत्र त्याग की शिक्षा दीक्षा की विधि विभिन्न संस्कृतियों में परिवर्तित होती रहती है, इसलिए आविर्भाव काल और महत्त्व में नित्यता नहीं रहती। इतना ही नहीं, बल्कि उसका तो यहाँ तक कहना है कि मलोत्सर्जन या धारण से बच्चे को जो आनन्द मिलता है उसपर जोर न देकर

माता-पिता के प्रति जो संघर्ष रहता है उसपर जोर देना चाहिये। मल-मूत्र के त्याग और धारण की व्याख्या करते हुए थाम्पसन का कहना है कि बच्चा मलमूत्र को धारण इसलिए करना चाहता है क्योंकि उनके धारण करने से उसे जो आनन्द मिलता है, उससे वह संघर्ष को परिस्थिति में अपने को सान्त्वना देता है। अवस्था-क्रम के सम्बन्ध में भी उसका यह कहना है कि मौखिक के बाद गुदद्वारीय अवस्था के आविर्भूत होने का आंगिक आधार है; लेकिन यह जरूरी नहीं है कि गुदद्वारीय अवस्था के बाद ही लिंग-प्रधान्यावस्था का आविर्भाव हो। संभव हो दूसरी संस्कृति में पहले लिंग-प्रधान्यावस्था का ही आविर्भाव हो तब गुदद्वारीयावस्था का, क्योंकि शिश्न तथा गुदा दोनों ही के नाड़ी-पथ एक ही समय में परिपक्व होते हैं।

सलिवन ने बच्चे के गुदद्वारीय कार्यों की व्याख्या शक्ति और सुरक्षा की इच्छाओं के आधार पर को है। उसका कहना है कि जिस प्रकार नवजात शिशु क्रन्दन-ध्वनि को अपनी शक्ति के प्रकाशन का एक साधन मानता है उसी प्रकार बच्चा कब्जियत को अपनो शक्ति-प्रदर्शन का एक साधन बनाता है। माता-पिता बच्चे की बात पर ध्यान नहीं देते; लेकिन जब वह मलमूत्र त्याग करना बन्द कर देता है तो उस समय वे अत्यधिक क्रियाशील और ध्यानावस्थित हो जाते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इरिकसन ने गुदद्वारीय अवस्था की व्याख्या में रूढिपथी मनोविश्लेषकों तथा नवीन मनोविश्लेषकों की विचार-धाराओं का समन्वय किया है। जहाँ तक मलोत्सर्जन के प्रशिक्षण का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में उसने नवीन मनोविश्लेषकों की तरह सांस्कृतिक वातावरण के महत्त्व को स्वीकार किया है; लेकिन फेनिकेल (Fenichel) की तरह उसने धारणा एवं निराकरण (Elimination) की दो संघर्षात्मक रीतियों पर भी जोर दिया है। सुषिरस्नायुओं के विकास के साथ-साथ बच्चा इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह अपने वातावरण में अपनी उस शक्ति का प्रदर्शन करने लायक हो जाता है। इस समय उसमें इतनी योग्यता हो जाती है कि वह अपने मनोनुकूल चीजों को पकड़ने, फेंकने, धक्का देने तथा कुछ दूरी पर रखने में समर्थ होता है। बच्चे की इन क्रियाओं की व्याख्या वह धारणात्मक—निराकरणात्मक रीतियों (Retentive Eliminative modes) के सूत्र के आधार पर ही करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इरिकसन ने बहुत ही खूबी के साथ गुदद्वारीय अवस्था की व्याख्या करने में उपर्युक्त दोनों विचार-धाराओं को समन्वित करने का प्रयास किया है।

लिंग-प्रधान्यावस्था (Phallic stage)

इसके पहले कि हम यहाँ लिंग-प्रधान्यावस्था का उल्लेख करें यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि कुछ विद्वानों ने गुदद्वारीयावस्था (Anal stage) और लिंग-प्रधान्यावस्था के मध्य में मूत्रनलिकावस्था (Urethral stage) का भी अलग उल्लेख किया है। लेकिन कुछ विद्वानों ने इसका उल्लेख अलग नहीं किया है, क्योंकि इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मूत्रनलिकावस्था लिंग-प्रधान्यावस्था में इस तरह सन्निहित रहती है कि उसका अलग उल्लेख करना समुचित नहीं है। तथापि इस स्थल पर हम लिंग-प्रधान्यावस्था के पहले उसपर सक्षिप्ततः प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं; क्योंकि ऐसा करने से विभिन्न अवस्थाओं को समझना पाठकों के लिए आसान हो जायगा।

इस अवस्था के सम्बन्ध में फेनिकेल प्रभृति विद्वानों का विचार है कि बच्चे को प्रधानतः मूत्रस्राव (Urination) से लैंगिक आनन्द मिलता है। जिस प्रकार गुदद्वारीय अवस्था में मल को धारण करने से बच्चे को सुखकर अनुभूति होती है उसी प्रकार इस अवस्था के द्वितीय चरण में मूत्र को रोकने से उसे उसी प्रकार का आनन्द मिलता है। प्रारंभ में मूत्रस्राव का आनन्द तो स्वयं कामोद्वेगी (Auto-erotic) स्वरूप का ही होता है, किन्तु बाद में वह आनन्द अन्य कल्पित पदार्थों एवं व्यक्तियों पर मूत्रस्राव करने से मिलने लगता है।

मूत्रनलिका-कामोत्तेजना (Urethral Eroticism) की अवस्था में बच्चा अपने मूत्राशय की सम्बद्ध स्नायु (Sphincter) को नियन्त्रित करना सीख लेता है; इसलिए उसमें आत्मप्रेमिक (Narcissistic) अहंकार की भावना भी मौजूद रहती है। मूत्राशय के सम्बद्ध स्नायु को नियन्त्रित करने से बच्चे को अहंकार होना स्वाभाविक है; क्योंकि नियंत्रण न करने पर माता-पिता उसे लज्जित करते हैं। इसलिए सम्बद्ध स्नायु को नियंत्रित करने के कारण उसे लज्जित नहीं होना पड़ता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार मौखिक अवस्था में बच्चे को अपने को खाये जाने का और गुदद्वारीय अवस्था मे अपने शरीर-घटक (Content of the body) के छिन जाने का भय प्रधान रहता है उसी प्रकार इस अवस्था मे उसे लज्जित होने का भय निरन्तर बना रहता है। इसलिए विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि बच्चा इस लज्जा से बचने के लिए बराबर अभिलषित एवं प्रयत्नशील रहता है।

तीसरे अथवा चौथे वर्ष में बच्चा लिंग-प्रधान्यावस्था में प्रवेश करता है।

इसलिए उसके जननांगों (Genitals) की अभिरुचियाँ उसके हस्त-मैथुन (Masturbation), दूसरों से, जिनमें प्रधानता विषमलिंगी (Opposite sex) व्यक्तियों की रहती है, शारीरिक सम्पर्क की इच्छाओं से अभिव्यक्त होती हैं। इस अवस्था में प्रदर्शन-वृत्ति (Exhibitionistic Tendency) की भी प्रधानता रहती है। यों तो जननांग-वृत्तियाँ (Genital Impulses) बच्चे में जन्म के समय भी मौजूद रहती हैं किन्तु उनकी प्रधानता इसी अवस्था में परिलक्षित होती है। अतएव बच्चे अपनी कल्पनाओं में भी हस्तमैथुन का अनान्द लूटते रहते हैं। लेकिन इस अवस्था में बालक अपने शिश्न से ही अपना आत्मीकरण (Identification) कर लेता है। वस्तुतः यह एक ऐसी अवस्था उसके जीवन मे आती है जब कि उसका शिश्न अत्यधिक सवेदनशील रहता है। इसलिए इस समय बच्चे में सक्रिय सुखेच्छु-वृत्तियों (Active pleasure seeking impulses) की प्रधानता रहती है। बच्चा शिश्न से अपना आत्मीकरण इस प्रकार कर लेता है कि उसे उसके खो जाने अथवा क्षतिग्रस्त हो जाने का बराबर भय बना रहता है। इस प्रकार के भय को मनोविश्लेषकों ने पुंस्त्वहरण-चिंता (Castration Anxiety) के नाम से अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार के पुंस्त्वहरण-चिंता के कारण को फ्रायड ने जातिगत परिपोषक अंगों (Phylogenetic predisposing factors) को माना है; लेकिन फेनिकेल ने इसकी व्याख्या टैलियन-सिद्धांत (Talion principle) के आधार पर की है; अर्थात् जिस अंग ने पापकर्म किया है उसे दण्ड मिलना अनिवार्य है। इस पुंस्त्वहरण-चिंता की व्याख्या हार्टमैन तथा क्रिस (Hartmann and kris) ने बहुत ही युक्तिपूर्ण एवं अच्छाई के साथ की है; लेकिन यहाँ हम उसपर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं समझते हैं।

बच्चे की पुंस्त्वहरण-चिंता का सामान्यीकरण भी होता है जिससे कई प्रकार की वस्तुएँ उसकी चिंता का कारण बन जाती हैं। दूसरे प्रकार का भय बच्चे को यह भी बना रहता है कि हस्तमैथुन, खतना (Circumcision) अथवा प्रौढ़ व्यक्ति के दीर्घाकार शिश्न के दृश्य से उसके शिश्न को हानि हो सकती है।

इस लिंग प्रधान्यावस्था में बालिकाओं में गुप्तांग लैंगिकता (Vaginal sexuality) की नहीं, बल्कि स्मरध्वज (Clitoris) की दैहिक (Physiological) एव शिश्न ईर्ष्या (Penis Envy) के मनोवैज्ञानिक सघर्ष की प्रधानता रहती है। इस काल में जननेन्द्रिय यंत्र का

स्मरध्वज ही एक ऐसा भाग होता है जो अत्यधिक संवेदनशील एवं लैंगिक उत्तेजना का मूल होता है। हस्तमैथुन-क्रियाओं का केन्द्र भी इस काल में यही रहता है।

जब बच्ची को जननेन्द्रिय (Genitalia) की शरीर-रचना का अन्तर ज्ञात होता है तब उसे शिश्न-ईर्ष्या उत्पन्न होती है। इस ईर्ष्या के फलस्वरूप उसमें यह विचार उत्पन्न होता है कि उसे शिश्न था, लेकिन अब वह नहीं है। इसलिए पुनः उसे धारण करने की भी इच्छा उसमें होती है। शिश्न का अभाव उसके दृष्टिकोण से किसी प्रकार के दण्ड का परिचायक होता है और वह हस्तमैथुन एव मूत्रस्राव के विचार से भी स्मरध्वज की अपेक्षा शिश्न को धारण करना श्रेयस्कार समझती है। इस सम्बन्ध में फेनिकेल का विचार है कि बालिकाओं की शिश्न ईर्ष्या में आगे चलकर सांस्कृतिक अनुभवो के कारण परिमाजन भी होता है।

इस अवस्था में हस्तमैथुन में अत्यधिक विवृद्धि होती है और जीवन में पहले पहल बच्चों में काल्पनिक चीजों का आविर्भाव होता है। हस्तमैथुन के द्वारा बच्चों को आनन्द-मात्र ही नहीं मिलता बल्कि इससे वे क्रमशः लैंगिक उत्तेजना के अनुभवों को नियन्त्रित करना भी सीखते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि हस्तमैथुन से आबद्ध बच्चों मे जो दोष-भाव तथा भय अंकुरित होते हैं, वे हस्तमैथुनिक क्रिया के कारण नहीं, बल्कि उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं के कारण भय एवं दोष-भाव के शिकार बन जाते हैं।

थाम्पसन ने तो लिंग-प्रधान्यावस्था में आंगिक आधार (Organic basis) के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि जबतक लड़का शरीर से अपने शिश्न को नियन्त्रित करने योग्य नहीं होता तब तक वह किसी प्रकार की अभिरुचि उसमें प्रदर्शित नहीं करता है। इस समय बच्चों को प्रधानतः दो समस्याएँ रहती हैं। पहली समस्या तो उनकी यह रहती है कि शिश्न से क्या काम होता है और दूसरी समस्या उनके सामने यह रहती है कि लड़कियाँ लड़कों से भिन्न क्यों होती हैं। इसी अवस्था में उन्हें उस सुखकर संवेदना का भी ज्ञान हो जाता है जो जननांगों के हस्त-व्यापार से प्राप्त होती है। जब लड़कियाँ बच्चों को अपने शिश्न को सीधा करके बहुत दूरी तक मूत्रस्राव करते देखती हैं तो उसी समय उनमें शिश्न-ईर्ष्या का आविर्भाव हो जाता है। थाम्पसन ने इसमें माता-पिता की मनोवृत्ति को भी स्थान दिया है। पुंस्त्वहरण के सम्बन्ध में भी उसने बच्चों के

माता-पिता की मनोवृत्ति को ही अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि उसका इस दिशा में यह कहना है कि जिन बच्चों को उनके माता-पिता जननांगों के साथ खेलने पर भयभीत नहीं करते उनमें लिंग-भिन्नता-मात्र से पुंस्त्वहरण-चिंता का आविर्भाव होना निश्चित नहीं है।

शिश्न ईर्ष्या के सम्बन्ध में हार्ने (Horney) के विचार भी कम महत्त्व के नहीं हैं। उसके अनुसार, विभिन्न संस्कृतियाँ पुरुष और स्त्री दोनों में विभिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न करती हैं। उसके अनुसार, शिश्न धारण करना अथवा पुरुष होने की अभिलाषा उन विशेषताओं के रखने की इच्छा की अभिव्यक्ति हो सकती है जिन्हें हमलोग अपनी सस्कृति मे पुरुषजातीय (Masculine) समझते हैं, यथा, बल, साहस, स्वतन्त्रता, सफलता, लैंगिक स्वतन्त्रता तथा व्याह करने का अधिकार। इसी प्रकार यह दमित इच्छाओ का छद्म रूप भी हो सकता है; लेकिन यह प्रारम्भिक बाल-काल का लैंगिक अनुभव कदापि नहीं हो सकता है। हार्ने के अनुसार अपने स्त्रैणभय के कारण ही 'नारीत्व - उड्डयन' (Flight from womanhood) होता है। हार्ने का यह नारीत्व-उड्डयन एडलर के पुरुषश्रेष्ठता-भाव (Masculine protest) के ही समान है जिसमें स्त्रियाँ अपनी हीन भावनाओं (Feelings of Inferiority) की प्रतिक्रियाएँ पुरुषों के समक्ष पुरुषजातीय विशेषताओं को धारण करने की कोशिश से करती हैं।

इरिकसन ने इस लिग-प्रधान्य-गति सम्बन्धी (Phallic-locomotor) अवस्था की विभिन्न विशेषताओं को समान क्रियाओं एवं कल्पनाओं के विभिन्न प्रकार के माध्यम से व्यक्त किया है। इस अवस्था की विशेषताओं को व्यक्त करते हुए उसका कहना है कि इस अवस्था मे बच्चे दूसरों के शरीर मे बलात प्रवेश शारीरिक आक्रमण द्वारा करना चाहते हैं। इसी प्रकार दूसरों के कान और मन में भी वे बलात प्रवेश आक्रामक संभाषण के द्वारा करना चाहते हैं। सभी प्रकार से सभी जगह वे अपना प्रवेश जबर्दस्ती ही करना चाहते हैं। प्रौढ़ों के लैंगिक कार्य को वे पारस्परिक आक्रमण के परिचायक समझते हैं। उनका यह भी विश्वास रहता है कि पारस्परिक लैंगिक कार्य मे पुरुष बलात प्रवेश करने का कार्य और स्त्री अन्तर्गत करने का कार्य करती है। इसी प्रकार इस अवस्था के अन्य पहलुओं का भी उल्लेख इरिकसन ने अपने ही ढंग से किया है जिनका पूरा उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है।

मातृ-प्रेम-ग्रन्थि (Oedipus Complex)

लिंग-प्रधान्यावस्था में बालक का प्रेम अपनी माता पर ही रहता है। वस्तुतः मातृप्रेम-ग्रंथि ही शैशव लैंगिकता की चरम सीमा है। यदि बालक मातृप्रेम-इच्छाओं का अतिक्रमण कर जाता है तब तो वह सामान्य लैंगिक जीवन प्रौढ़ावस्था में व्यतीत करता है; लेकिन यदि अचेतनतया उसका प्रेम माता पर ही रह जाता है तो आगे चलकर वह मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis) का शिकार होता है।

बालक का माता के प्रति प्रेम अचेतनतया लैंगिक स्वरूप का ही होता है। इसलिए लैंगिक प्रविक्तियों की संतुष्टि के लिए पिता, जो उसके रास्ते में काँटे के समान होता है, उसका निराकरण करना आवश्यक होता है; क्योंकि पिता के रहते पुत्र अपनी लैंगिक इच्छाओं को संतुष्ट नहीं कर सकता है। इसलिए वह कल्पना के द्वारा अपने पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार पिता के स्थान को ग्रहण करने को विद्वानों ने धनात्मक मातृ-प्रेम-ग्रन्थि (Positive oedipus complex) कहा है।* जब पुत्र पिता को प्यार करता है और माता को व्याघातक अग मानकर उसे घृणा करता है तब इसे निषेधात्मक मातृ-प्रेम-ग्रन्थि (Negative oedipus complex) कहते हैं। किसी व्यक्ति में मातृ प्रेम-ग्रन्थि का प्रकार उसके अनुभवों पर निर्भर करता है; अर्थात् जैसा जिस व्यक्ति का अनुभव होता हैं उसी के अनुसार उसकी मातृ - प्रेम - ग्रन्थि भी निर्धारित होती है।

यों तो बहुत से ऐसे अनुभव हैं जो मातृ-प्रेम-ग्रन्थि को प्रभावित करते हैं, परन्तु उन सबका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। अतएव यहाँ प्रधान अनुभवों को व्यक्त करने के लिए यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि पारिवारिक नैतिकता (family morals) मातृ-प्रेम-ग्रन्थि को कम प्रभावित नहीं करती है। इसलिए किसी परिवार का जिस प्रकार की मनोवृत्ति लैंगिकता, हस्तमैथुन आदि के प्रति होती है उसी के अनुरूप बच्चों मे इस ग्रन्थि का प्रकार और स्वरूप भी निर्धारित होता है। बच्चों के आघातजन्य अनुभव (traumatic experiences), यथा, माता-

---

* पुत्र का माता के प्रति लैंगिक प्रेम, पिता के प्रति घृणा और उसके मरने की इच्छा तथा पुत्री का पिता के प्रति लैंगिक प्रेम, माता के प्रति घृणा का भाव तथा उसके मरने की कामना को मनोवैज्ञानिक भाषा मे मातृ प्रेम-ग्रन्थि कहते हैं।

पिता के पारस्परिक लैंगिक कार्य का वास्तविक अथवा कल्पित निरीक्षण, किसी भाई या बहन का उत्पन्न होना आदि, भी उनकी मातृ-प्रेम-ग्रंथि को प्रभावित करते हैं। उसी प्रकार माता-पिता का अपने बच्चों के प्रति अचेतन लैंगिक-प्रेम भी उनकी मातृ-प्रेम-ग्रन्थि को निर्धारित करता है। माता-पिता का पारस्परिक संघर्ष अथवा बच्चे के लिए वाद-विवाद भी बच्चे की इस ग्रन्थि को प्रभावित करता हैं। जिस परिवार में एक ही बच्चा रहता है उसका भाव अपने माता-पिता के प्रति उन बच्चों से भिन्न होता है जिनके परिवार में और भी बच्चे रहते हैं। इसलिए एक मात्र संतान की मातृ-प्रेम ग्रन्थि भी अन्य बच्चों से पूर्णतः भिन्न होती है। इसी तरह अगर किसी बच्चे के माता-पिता मे से किसी एक पक्ष का अभाव रहता है तो उसको बहुत ही विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है और उसकी मनोवृत्ति भी अपने जीवित माता या पिता के प्रति विचित्र ही होती है। अतः उसकी मातृ-प्रेम-ग्रन्थि का प्रकार और स्वरूप भी उसकी इस परिस्थिति से प्रभावित होता है। इतना ही नहीं, बल्कि माता-पिता की सामाजिक परिस्थिति भी बच्चे की मातृ-प्रेम ग्रन्थि को प्रभावित करती है। दरिद्र परिवार में उत्पन्न और समृद्ध परिवार में उत्पन्न बच्चों की मातृ-प्रेम-ग्रन्थि में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक और आवश्यक है। इसी प्रकार बच्चों को जिस प्रकार के अनुभव होते हैं वे सभी अनुभव उनको इस मातृ-प्रेम-ग्रन्थि को न्यूनाधिक अंशों में प्रभावित करते हैं।

इस सम्बन्ध में फेनिकेल का यह कहना है कि मातृ-प्रेम-ग्रन्थि निश्चयात्मक रूप से पारिवारिक परिस्थिति से प्रभावित होती है। इसलिए इस परिस्थिति के परिवर्तन से मातृ-प्रेम-ग्रन्थि के स्वरूप में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। इसी को दृष्टिकोण में रखकर उसका कहना है कि विभिन्न संस्कृतियों और परिस्थितियों में उत्पन्न बच्चों की मातृ-प्रेम-ग्रन्थि भी विभिन्न प्रकार एवं स्वरूप की होती हैं।

लड़की में मातृ-प्रेम-ग्रन्थि भी बालक के ही समान होती है; किन्तु कुछ अंश में वह विषम स्वरूप की होती है। प्रारंभ में तो उसका भी सम्बन्ध अपनी माता से ही रहता है और उसी को वह प्यार भी करती है। तब प्रश्न यह है कि वह पिता को किस तरह प्यार करना आरंभ करती है और माता को क्योंकर घृणा करने लगती हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब लड़की को अपनी माता से निराशा हाथ लगती है तब वह उधर से अपना मुंह मोड़कर अपने पिता की ओर आकृष्ट होती है। यह परिस्थिति उस समय उपस्थित होती है जब कि लड़की का दूध छुड़ा दिया

जाता है या उसे कोई भाई-बहन उत्पन्न होता है। शौच-प्रशिक्षण के कारण भी लड़की को अपनी माता से निराशा मिलती है और इसके फलस्वरूप उसका प्रेम माता से पिता पर स्थानान्तरित हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि लड़की में यह विचार काम करने लगता है कि लड़कों की तरह उसे भी शिश्न (Penis) था जिसे कि उसकी मा ने लिया है। अपने इस विचार से वह माता से अत्यधिक विरक्त हो जाती है और उस खोए हुए शिश्न को प्राप्त करने के लिए अपने पिता को विशेष रूप से प्रेम करने लगती है। अपने खोए हुए अधिकार को प्राप्त करने की इच्छा उसे अपने पिता की ओर आकृष्ट होने के लिए वाध्य करती है और इस तरह उसका सम्बन्ध अपनी माता से टूट जाता है और पिता से स्थापित हो जाता है। वह कल्पना में शिश्न के स्थान पर शिशु की इच्छा करने लगती है। वह अपने पिता को प्रेम करने लगती है और पिता के द्वारा एक शिशु उत्पन्न करने की कामना करती है। इसी कामना के साथ-साथ माता के प्रति उसमें ईर्ष्या और घृणा के भाव भी बने रहते हैं। लेकिन, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारम्भ में, माता के प्रति, लड़की का जो प्रेम-सम्बन्ध था वह इस अवस्था में पूर्णत: नष्ट हो जाता है; क्योंकि अब भी उसके कुछ अंश लड़की में मौजूद रहते हैं। इसलिए उसमे अपनी माता के प्रति द्विभावशीलता (Ambivalence) बनी रहती है, जिसका लड़कों मे पिता के प्रति अभाव रहता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि यों तो सामान्यत: लड़कियो के पिता के प्रति प्रेम और माता के प्रति घृणा के भाव के लिए मातृ-प्रेम-ग्रन्थि ही का व्यवहार होता है; किंतु इसके स्थान पर वस्तुत: पितृ-प्रेम ग्रन्थि (Electra complex) का व्यवहार करना विशेष उचित जँचता है।

एडलर ने मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की व्याख्या अपने ढग से की है। उसका कहना है कि मातृ-प्रेम ग्रन्थि को बच्चे के परिपोषण के माध्यम से ही समझना ठीक है; क्योंकि प्रारम्भ में बच्चों की मनोवृत्ति माता या पिता की ओर समान रहती है। लेकिन, वाह्य परिस्थितियों से वाध्य होकर उसे अपनी अभिरुचि दोनों मे से किसी एक में लगानी पड़ती है। यदि बच्चा बहुत दिनों तक बीमार रहे और माता उसकी निरंतर सेवा करती रहे और पिता उससे दूर रहे तो बच्चे का माता को अधिक प्रेम करना स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार माता से अलग रहने और पिता से निकट रहने पर पिता को प्रेम की दृष्टि से देखना स्वाभाविक है। इसलिए मातृ-प्रेम-ग्रन्थि परिपोषित बच्चे के जीवन के कई पहलुओं में से एक के दिग्दर्शन-मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जहाँतक लैंगिक बीजतत्त्व के आविर्भाव का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में उसका कहना है कि बिगड़े बच्चों की इच्छाओं का माता-पिता कभी तिरस्कार नहीं करते हैं; इसलिए वे लैंगिक दृष्टि से अकाल-प्रौढ़ हो जाते हैं। वे सामान्य मात्रा से अत्यधिक लैंगिक कल्पनाओं एवं हस्तमैथुन में संलग्न रहते हैं। अतएव अपनी विकासशील लैंगिकता को अति उत्तेजित कर देते हैं। सेवा करनेवाली माता का अधिक चुम्बन भी इसकी विवृद्धि में सहायक होता है। माता के अधिक सन्निकट रहने के कारण बच्चे की लैंगिक कल्पनाओं की दिशा भी उसी ओर रहती है। इसलिए शक्ति-वृत्ति की प्रधानता रहने पर भी बच्चे को अपनी माता से लैंगिक सुख की अनुभूति होती है; किंतु यह सुख आकस्मिक होता है। अतएव माता के अत्यधिक लाड़-प्यार एवं परिपोषण के कारण बच्चे में मातृ-प्रेम-ग्रन्थि का आविर्भाव एव विकास होता है।

युंग की विचार-धारा मातृ-प्रेम-ग्रन्थि के सम्बन्ध में कम महत्त्व की नहीं है। वह वस्तुतः इसे एक धारण-ग्रन्थि (Possession complex) के रूप में मानता है। इस सम्बन्ध मे उसका कहना है कि जीवन के प्रारंभिक काल में जब बच्चों को लिंग-भेद का ज्ञान नहीं रहता तब उस समय वे (लड़के या लड़कियाँ) अपनी माता को अधिकृत करना चाहते हैं और पिता से अपनी निर्मुक्ति चाहते हैं; क्योंकि वे अपनी माता को ही प्रसन्नता, रक्षा एव भोजन आदि का साधन समझते हैं। क्रमशः कामोत्तेजना (Eroticism) का बीजतत्त्व अंकुरित होने लगता है और लड़की में अपने पिता के प्रति विचित्र प्रेम और माता के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा विकसित होने लगती हैं, जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा में पितृ-प्रेम-ग्रन्थि कहते हैं। पौगण्डावस्था (Puberty) के बाद जब बच्चे को पूर्णतः अथवा अंशतः अपने माता-पिता से निर्मुक्ति मिल जाती है तो उस समय कामोत्तेजना एक नवीन अवस्था का रूप धारण करती है। फ्रायड ने बच्चों में निषिद्ध-संभोगेच्छा (Incest desire) का जो आरोपण किया है उसके सम्बन्ध में युंग का कहना है कि फ्रायड का ऐसा कथन सांकेतिक-मात्र है। वस्तुतः बच्चे जीवन-स्रोत के मूल में या माता की गोद अथवा गर्भ में आराम या पुनर्जन्म के लिए पुनः लौट जाना चाहते हैं। फ्रायड ने, माता की गोद या गर्भ मे जाने की इस इच्छा को, सांकेतिक भाषा में निषिद्ध संभोगेच्छा के नाम से व्यक्त किया है।

मातृ-प्रेम-ग्रन्थि के सम्बन्ध में रैङ्क (Rank) भी युंग की विचार-धारा का प्रतिपादन करता है और उसी की तरह इसे पुनर्जन्म-कल्पना

(Rebirth fantasy) मानता है। लेकिन, अपने जन्म-आघात (Birth trauma) के सिद्धान्त पर बच्चे में अचेतन लैंगिक अभिलाषा का आरोपण भी वह करता है। रैंक के अनुसार जन्म के समय माता का शरीर बच्चे के लिए एक भय का साधन रहता है, इसलिए वह अपनी माता के जननेन्द्रिय को, जो उसके दुख का कारण होता है, सुख के साधन में परिणत कर देने की संभावना करता है। लेकिन, जन्म-आघात का सम्बन्ध उससे इस प्रकार आबद्ध रहता है कि वह उसे सुख-स्रोत में परिणत करने में पूर्णतः असमर्थ होता है।

मातृ-प्रेम ग्रन्थि की व्याख्या करने के लिए उसने पारिवारिक परिस्थिति पर भी काफी जोर दिया है। उसके अनुसार मातृ-प्रेम-ग्रन्थि को सम्पूर्ण परिवार और बच्चे के सम्बन्ध में समझना विशेष उचित है। किसी प्रकार की भी परिवारिक परिस्थिति में माता-पिता तथा बच्चे को तरह-तरह की आवश्यकताएँ रहती हैं। माता-पिता जिस प्रकार अपने वैवाहिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए अपने संघर्ष का भागी बच्चे को बनाते हैं उसी प्रकार बच्चा भी अपने निर्दिष्ट को प्राप्त करने के लिए उनके दोष-भाव (Guilt feeling) का उपयोग करता है। इसलिए परिवार के सदस्यों के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों से विभिन्न प्रकार की विषमताएँ उपस्थित हो जाती हैं। माता-पिता अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से वशीभूत होकर समलिंगी बच्चे की ओर विशेषतः आकृष्ट होते हैं ; किंतु जैव आवश्यकताएँ उन्हें विषमलिंगी बच्चे की ओर आकृष्ट होने के लिए प्रेरित करती हैं। उदाहरण के लिए, पिता पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी समझता है, इसलिए उसका विशेष झुकाव पुत्र की ओर होता है। लेकिन, पुत्र अपनी स्वतत्र सत्ता कायम रखने और पिता से उच्च होने की कामना से अपना मुँह पिता की ओर से मोड़कर माता का आश्रय लेता है और उसमें माता के प्रति अनुरक्ति विकसित होती है। इसी प्रकार लड़कियाँ माता से मुँह मोड़ लेती हैं और अपने पिता को अधिक प्रेम करने लगती हैं। इस प्रकार रैंक ने मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की व्याख्या करने में परिवारिक परिस्थिति को काफी महत्त्व दिया है।

हार्नै ने भी फ्रायड के मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की विचार-धारा का खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में उसका कथन है कि मातृ-प्रेम-ग्रन्थि का आविर्भाव बच्चों में जैव कारणों (Biological reasons) से नहीं अपितु, पारिवारिक सम्बन्धों के कारण होता है। उसका कहना है कि बच्चे में दो प्रकार के अंग काम करते हैं। माता-पिता अपने बच्चे को लाड़-प्यार करके

उसे लैंगिक उत्तेजना देते हैं। इसलिए ऐसी परिस्थिति में बच्चे का ध्येय प्यार पाना ही रहता है, और उसका सयोजन उसी से होता है जो उसके प्रति अधिक प्यार प्रदर्शित करता है। दूसरा अंग बच्चे में संघर्ष का काम करता है। बच्चे में परावलम्बी आवश्यकताओं और माता-पिता के प्रति विरोधी भावनाओं के बीच संघर्ष छिड़ा रहता है, इसलिए वह निरंतर चिंता-ग्रस्त रहता है। अतएव ऐसी परिस्थिति में अपनी सुरक्षा के लिए उसे अपनी माता या पिता जो अधिक बलशाली या भयावह रहता है, उसकी ओर झुकना पड़ता है। इस अवस्था में उसका एकमात्र ध्येय अपनी रक्षा करना रहता है। उसके इस झुकाव मे लैंगिकता का पुट होना सभव है; लेकिन अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार हार्नें ने इन दोनों अवस्थाओं को बाहरी उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया का प्रतिरूपक मात्र माना है। इसलिए मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की व्याख्या करने के लिए, हार्नें के अनुसार, जैवाधार पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि परिवारिक सम्बन्धों का आश्रय लेना आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की व्याख्या करने में उसने फ्रायड के जैव आधारों का पूर्णतः खण्डन किया है। लेकिन, जैसा कि अभी ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, उसने भी फ्रायड की लैंगिकता को पूर्णतः तिरस्कृत नहीं किया है। उसने स्पष्टतः उसकी संभावना को स्वीकार किया है। किंतु, उसे फ्रायड की तरह मातृ-प्रेम-ग्रन्थि का आवश्यक पहलू नहीं माना है, जैसा कि फ्रायड ने व्यक्त किया है।

फ्रॉम (Fromm) ने फ्रायड की मातृ-प्रेम-ग्रन्थि के तथ्य का प्रतिपादन किया है। लेकिन, वह भी फ्रायड की व्याख्या को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह फ्रायड की तरह बच्चों में लैंगिक इच्छाओं को स्वीकार करता है और इस बात को स्वीकार करता है कि बच्चे और माता पिता में स्थायी सम्बन्ध जुट जाता है। वह इसे भी स्वीकार करता है कि गृहपति की व्यवस्थावाले परिवार में पिता-पुत्र में संघर्ष रहता है। लेकिन, वह इसे नहीं मानता कि पिता-पुत्र का यह संघर्ष लैंगिक विरोध के कारण रहता है। उसके अनुसार मातृ-प्रेम-ग्रन्थि एक विश्व-जनीन व्यापार नहीं है और न तो जहाँ गृहपति-व्यवस्था का अभाव है वहाँ इस प्रकार का सघर्ष ही देखने मे आता है। इतना ही नहीं, वह तो यहाँ तक भी कहता है कि पुत्र का माता से जो सम्बन्ध रहता है, वह कदापि लैगिक नहीं होता; क्योंकि लैगिकता के लिए बच्चे को माता की ओर झुकने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। वह आवश्यकता तो स्वतः अन्य बच्चों के सम्पर्क तथा आत्म-लैगिक-वृत्तियों से संतुष्ट हो जाती है। पुत्र का माता से स्थिरीकरण (Fixation)

क्योंकर होता है, इसे व्यक्त करते हुए उसका कहना है कि माता की बलशाली मनोवृत्ति के कारण बच्चे निराश्रय होकर माता की ओर ही स्थिर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उससे प्यार पाने और अपनी रक्षा के लिए भी उन्हें अपनी माता से सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पुत्र का झुकाव माता की ओर अधिक रहता है।

पिता-पुत्र के संघर्ष की व्याख्या करते हुए उसका कहना है कि जिस समाज में गृहपति-व्यवस्था है, उस समाज में पिता अपने पुत्र को एक वाहक जानवर के समान समझकर उससे अपनी सभी इच्छाओ की पूर्ति चाहता है। पिता का पुत्र के प्रति ऐसा भाव पिता-पुत्र के सघर्ष का कारण होता है; क्योंकि मनुष्य स्वभावत: स्वतत्रता-प्रेमी होता है। इसलिए पिता की मनोवृत्ति जितनी ही अधिक कड़ी होती है, उतना ही अधिक सघर्ष भी दोनों में रहता है। लेकिन इन दोनों के संघर्ष में लैगिकता का समावेश बहुत ही कम रहता है।

सलिवन ने मातृ-प्रेम-ग्रंथि की व्याख्या अपने ढंग से सुपरिचय (Familiarity) तथा विचित्रता (Strangeness) के आधार पर की है। माता-पिता का अपने समलिंगी बच्चे के साथ परिचय, माता-पिता में अपने बच्चे के प्रति अधिकारी मनोवृत्ति (Authoritarian Attitude) उत्पन्न करती है जिससे बच्चे के मन मे भी अपने समलिंगी माता या पिता के प्रति विरोध एवं बैर भाव उत्पन्न हो जाता है। किंतु विषमलिंगी बच्चे के प्रति अधिक परिचय न रहने के कारण माता-पिता में ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होता ; इसलिए बच्चा अपने विषमलिंगी सरक्षक को प्यार की दृष्टि से देखने लगता है। चूँकि विषमलिंगी माता या पिता का बच्चे पर किसी प्रकार का दबाव नहीं रहता है, इसलिए बच्चे के मन से उस सरक्षक के प्रति अधिक प्रेम और आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुत्र का माता के प्रति और पुत्री का पिता के प्रति जो आकर्षण और प्रेम होता है, उसकी व्याख्या सलिवन ने जैवाधारों पर न करके बच्चे और माता-पिता के बीच जो सम्बन्ध भाव रहता है, उसके आधार पर की है।

इस स्थल पर थाम्पसन की विचार-धारा का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा; क्योंकि उसने भी मातृ प्रेम ग्रंथि की व्याख्या फ्रायड से पूर्णतः भिन्न, आन्तरिक पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर की है। उसका कहना है कि जब माता-पिता अपने बच्चे की किसी अभिरुचि को विकसित होने मे बाधा पहुँचाते हैं तो बच्चा उनसे क्षुब्ध होकर उनपर अधिकार प्राप्त करने के लिए आपस में झगड़ा लगा देता है। इस प्रकार वह

एक पक्ष पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। जब माता-पिता अपनी लैंगिक आवश्यकताओं को अभिव्यंजित करते हैं तो बच्चों में भी लैंगिकता का आविर्भाव हो जाता है। इसकी पुष्टि के लिए उसने साधारण जीवन की दैनिक घटनाओं का उदाहरण देते हुए कहता है कि जब बच्चे माता-पिता के सम्पर्क में आते हैं तभी वे यह जानने मे समर्थ होते हैं कि जननागों से भी सुखकर संवेदना उत्पन्न होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मातृ-प्रेम-ग्रन्थि की सत्ता सभी मनोविश्लेषकों ने स्वीकार की है। किंतु, उसकी व्याख्या के लिए उन्होंने विभिन्न आधारों का आश्रय लेकर फ्रायड के मौलिक आधार का खण्डन करने का प्रयास किया है।

अव्यक्तावस्था (Latency Period)

पाँचवे से लेकर सातवे वर्ष तक सामाजिक परिणामों के भय से शैशव लैंगिकता का दमन हो जाता है। इसलिए इसके बाद पाँच-छ वर्षों तक बच्चे चेतनतया लैंगिक विषयों मे भाग नहीं लेते। इस प्रकार का दमन सहसा नहीं, क्रमशः होता है तथा सर्वांशतः पूर्ण नहीं होता। लेकिन, इतना तो अवश्य होता है कि प्रतिक्रिया निर्माण (Reaction formation) इस दमन को मजबूत करता है। इस अवस्था में इच्छा-शक्ति-वृत्तियों (Libidinal urges) का शिक्षा के माध्यम से परिशोधन (Sublimation) होता है ; क्योंकि इस काल मे सभी बच्चो को पढ़ने के लिए पाठशाला जाना पड़ता है। इसी अवस्था में वे सामाजिक आदर्शों को सीखते हैं ; इसलिए वे समाज में व्यवहार करना भी जान जाते हैं। यद्यपि इस काल में कामोत्तेजना तथा आत्मप्रेम का ह्रास रहता है, तथापि माता-पिता, शिक्षक एवं मित्रों से उनका बिना किसी वाह्य व्यवहार-प्रदर्शन के लैंगिक सम्बन्ध बना रहता है। इस अवस्था मे छोटे बच्चे कभी भी अपने सहपाठियों को चुम्बन करने की कामना नहीं करते ; लेकिन उनकी इस इच्छा की संतुष्टि खेल आदि के द्वारा होती रहती है। यदि जनसमूह में उनके माता-पिता इस अवस्था में उनका चुम्बन करते हैं तो वे इस व्यापार से अत्यधिक घबड़ाते हैं। सामान्यतः उनमें समजाति लैंगिकता अथवा विषम जाति लैंगिकता के कुछ भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कुछ बच्चे इस अवस्था में भी अपने शैशव हस्तमैथुन का परित्याग नहीं करते और वे लैंगिकता की बहुत कुछ बातों को जानते तथा सोचते हैं। लड़कियों की भी यही अवस्था होती है, यद्यपि उनमें यह अवस्था कुछ बाद में आती है और लड़कों से पहले समाप्त भी

हो जाती है। इस अवस्था में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक प्रेमप्रवण होती हैं; क्योंकि वे पुंस्त्वहरण को स्वीकार कर लेती हैं; लेकिन बालकों मे यह चिंता बनी रहती है। हाँ, दमन की हुई लैंगिक शक्तियाँ अचेतन मानसिक संघर्ष का कारण बनती हैं; इसलिए उन्हे अचेतन रखने के लिए ही बच्चों में प्रतिक्रिया-निर्माण होता है। इस काल में बच्चे बहुत ही अच्छे बने रहते हैं और अपने माता-पिता की असामाजिक आदतों की आलोचना भी करते हैं।

अव्यक्तावस्था के सम्बन्ध में स्टर्बा (Sterba) तथा हेलेन ड्यूश (Hellene Deutsch) का कथन है कि शैशव लैंगिकता, जो इस अवस्था में प्रत्यक्षत: शान्त मालूम होती है, वस्तुत: वह शान्त एव सुषुप्त नहीं रहती। क्योंकि इस अवस्था में भी कुछ अशों में हस्तमैथुन, लैंगिक वृत्तियाँ एव पूर्वजननांग आवर्तन (Pregenital regression) प्रचलित रहते हैं। बोर्नस्टेन (Bornstein) ने इस पूर्वजननांग आवर्तन को प्रथम अव्यक्तावस्था का पहलू व्यक्त किया है। इस अवस्था के द्वितीय चरण की विशेषता को व्यक्त करते हुए उसका कहना है कि इस अवस्था में हस्तमैथुन के प्रलोभन को बच्चा पूर्णत: नहीं छोड़ता; लेकिन वह इस प्रलोभन के इतना विरुद्ध रहता है कि या तो वह उसका दमन कर देता है या उसको स्वीकार ही नहीं करता।

इस अवस्था में माता-पिता के प्रति प्रेम का परिशोधन हो जाता है और उसकी जगह भक्ति एव श्रद्धा का आविर्भाव होता है। माता या पिता के प्रति जो विरोधी भाव बच्चे में रहता है वह विलीन हो जाता है और वह समाज के अन्य लोगों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। बोर्नस्टेन (Bornstein) ने इस मनोवृत्ति को भी द्वितीय चरण की ही विशेषता बनायी है। उसके अनुसार आठ वर्ष का बच्चा अपने माता-पिता को अब सर्वशक्तिमान नहीं मानता और वह उनके अतिरिक्त अन्य बच्चों और प्रौढ़ व्यक्तियों से भी प्रभावित होता है। पहले चरण में बच्चों में उभय-भावशीलता रहती है; इसलिए कभी तो वे अपने माता-पिता की आज्ञा मानते हैं और कभी अवज्ञा कर देते हैं।

अन्नाफ्रायड (Anna Frreud) के अनुसार इस अवस्था में लड़के उन्हीं चीजों में अभिरुचि रखते हैं जिनकी वास्तविक एवं विधेयात्मक सत्ता होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि अब उन्हें बचपन की परियों की कहानियों में मजा नहीं मिलता, बल्कि राशिभूत (concrete) पदार्थों में मजा मिलता है। इसीलिए इन्हीं के विषय में वे सोचते भी हैं। ऐसा

वे इसलिए करते हैं कि इस अवस्था में वे अमूर्त (abstract) विषयों के चिंतन द्वारा पुन: अपने में लैंगिक संघर्ष उत्पन्न करने का खतरा मोल लेना नहीं चाहते हैं। इसके अतिरिक्त, उनकी बोधात्मा इतनी बलवती रहती है कि अब वे अमूर्त का चिंतन करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते हैं।

इस अव्यक्तावस्था के सम्बन्ध मे थाम्पसन का कहना है कि वस्तुत: इस अवस्था में बच्चे की शैशव लैंगिकता शान्त नहीं हो जाती, बल्कि उसका समाज पहले से बड़ा हो जाता है और उसे अब अपने माता-पिता की अस्वीकृति की भी चेतना हो जाती है; इसलिए वह अपनी लैंगिकता को अपने मे निहित रखकर अन्य साथियों की अभिरुचियों एवं अनुभवों में अपना हाथ बँटाता है। उसकी विचार-धारा है कि अव्यक्तावस्था हमारी सभ्यता की ही देन है। इसलिए उसका कहना है कि लैंगिकता की अस्वीकृति और दमन के कारण बच्चे की लैंगिक अभिरुचियाँ शान्त नहीं रहतीं, बल्कि उसका समाज अब इतना अधिक प्रशस्त हो जाता है कि उसे अन्य विभिन्न अभिरुचियो मे हाथ बँटाना पड़ता है। यही कारण है कि उसकी लैंगिक-अभिरुचि पहले की अपेक्षा कुछ निर्बल पड़ जाती है।

सलिवन ने इस अवस्था पर अपना विचार प्रकट करते हुए इसे बचपन काल (Juvenile Era) की संज्ञा दी है। इस अवस्था मे बच्चों को अपने अन्य समवयस्क बच्चों के साथ अन्तर-प्रतिक्रियाओ के करने की आवश्यकता पड़ती है। अब बच्चे को अपने प्रथम संतुष्ट वातावरण से शासक वयोवृद्धों के वातावरण में प्रवेश करना पड़ता है। उसे अपने साथी खिलौनो को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के समाज में मिलना पड़ता है। इसलिए यदि उसे खेलाड़ी साथी मिल जाते हैं तब तो वह उन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध बनाकर उनमें सार्थकता ढूँढ़ निकालता है और साथियों के न मिलने पर वह अपने काल्पनिक साथियो का निर्माण कर लेता है और उन्हीं के साथ वह तन्मय होकर खेलता है। उसमें सहयोग को भावना का उदय होता है और दूसरों के साथ खेलने से स्पर्धा करना और मेल रखना भी वह सीखता है।

पाठशालीय अनुभवों का बच्चे पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव की अच्छाई और बुराई बच्चे के प्रारंभिक पालन-पोषण पर निर्भर करती है। पाठशाला से बच्चे को कितने ही नवीन अनुभव प्राप्त होते हैं, क्योंकि वहाँ उसे अपने शिक्षकों के प्रति अभियोजन करना पड़ता है और प्रारंभ की प्रतिक्रियाएँ पाठशालीय वातावरण में अभियोजन करने के लिए सहायक प्रमाणित नहीं होती हैं। शिक्षक और बच्चे का पारस्परिक सम्बन्ध भी बच्चे

के व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करता है। इस काल में बच्चे अन्य साथियों द्वारा समाज से वहिष्कृत होने से भी डरते रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अव्यक्तावस्था की व्याख्या विभिन्न आधारों पर की है, पर सबों ने इतना स्वीकार किया है कि कारण चाहे जो कुछ भी हो, लेकिन इस अवस्था में शैशव लैंगिकता पहले की अपेक्षा निर्बल या सुषुप्त रहती है।

जननेन्द्रियावस्था (Genital stage)

अव्यक्तावस्था के बाद पौगण्डावस्था (Puberty) का आगमन होता है, जिसमे क्रमशः सभी शैशव लैंगिक अवस्थाओं का पुनर्जीवन (Revival) होता है। यों तो सामान्यतः लिंगप्रधान्यावस्था की प्रधानता रहती है; किंतु क्रमशः यह अवस्था वास्तविक जननेन्द्रियावस्था की अभिरुचियों में परिणत हो जाती है। वस्तुत. यह अवस्था स्वरूप मे लिंगप्रधान्यावस्था से कम शैशव लैंगिक होती है। इसी प्रकार मौखिक एवं गुदद्वारीय अवस्थाओं का भी पुनर्जीवन पौगण्डावस्था मे होता है। इसलिए बच्चे पुनः चुम्बन, गुदद्वारीय व्यवहार तथा कहानी आदि मे अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करने लगते हैं। लेकिन, इस समय भी बच्चो मे पुंस्त्वहरण-चिंता पूर्णतः खत्म नहीं हुई रहती है; इसलिए वे समलिंगी बच्चों को ही प्यार करते हैं। यही कारण है कि इस अवस्था में अधिकांश लड़के पारस्परिक एव सामाजिक हस्तमैथुनों में संलग्न रहते हैं। इस समलिंगी प्रेम का दूसरा कारण यह भी है कि इस अवस्था में कुछ सामाजिक नियम ऐसे हैं जिनके कारण लड़के और लड़कियों को अलग-अलग रहना पड़ता है। इस अवस्था के प्रारंभ में दोनों ही लिंग के बच्चों में विषम लिंगियो के प्रति अत्यधिक विरोधाभाव रहता है। क्रमश. समाज बच्चों को प्रौढ़ावस्था के लैंगिक व्यवहार प्रदर्शन मे किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करता और बच्चे मर्यादा के अन्तर्गत चुम्बन आदि की क्रियाएँ करना प्रारंभ कर देते हैं। किशोरावस्था (Adolescence) में तो गन्दे मजाकों की भरमार रहती है। बच्चे की इस अवस्था की प्रारंभिक प्यार-क्रियाएँ लिंगप्रधान्यावस्था के ही समान होती हैं; इसलिए वह अपने आपको अत्यधिक प्रेम करता है। किंतु वास्तविक जननेन्द्रिय अवस्था मे वह प्यार वास्तविक वस्तु पर चला जाता है और उसका सम्बन्ध प्रधानतः उसी प्रेमवस्तु से रहता है। किशोरावस्था में व्यक्ति दूसरे को प्रेम करना नहीं जानता, बल्कि अपनी लैंगिकता को ही संतुष्ट करता है। बालक हो या बालिका, दोनों ही अपने आप पर गौरव करते हैं। किंतु, इसके बाद अठारह से बीस वर्ष की अवस्था मे सामान्य विषम-लैंगिता का आविर्भाव होता है और समाज भी उसे परिवारिक

रूप में विषमलिंगी कार्य के लिए प्रोत्साहित करता है और व्यक्ति इस प्रकार अपना परिवारिक जीवन प्रारंभ करता है।

यहाँ ड्यूश (Deutsch) की विचारधारा का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। उसने लड़कियों की पौगण्डावस्था का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ किया है। उसके अनुसार इस अवस्था मे लड़कियाँ आक्रामक वृत्तियों (Aggression) तथा शैशव लैंगिकता से पूर्णतः स्वतन्त्र रहती हैं। उनकी विवृद्ध क्रियाओं की व्याख्या उसने वातावरण के नियन्त्रण एवं वास्तविकता के अभियोजन के आधार पर की है। लेकिन, स्पीजेल (Spiegel) ने उसका खण्डन उसी के प्रमाणों के आधार पर किया है।

किशोरावस्था में लड़कियो को इतना ज्ञान हो जाता है कि गुप्तांग (vagina) ही आनन्द प्राप्त करने का साधन है; लेकिन इसके पहले उनकी अभिरुचियाँ स्मरध्वज (clitoris) पर रहती हैं और वे लड़कों-सा कार्य करना चाहती हैं। पौगण्डावस्था मे वे औरतो की निष्क्रियावस्था और कार्यों को मान लेती हैं। जब उन्हें पहली बार रजस्वला होने का अनुभव होता है तो वे या तो बालोत्पत्ति, गर्भाधान आदि की कल्पनाएँ कर अपने स्त्रैण स्वरूप की पूर्णता स्वीकार कर लेती हैं या इनके भय से स्त्री-कार्य करना अस्वीकार हीं कर देती हैं। स्पीजेल का इस प्रथम रजस्वला होने के सम्बन्ध में कहना है कि वे इसे हस्तमैथुन का दण्ड और जननेन्द्रिय का आघात समझकर इससे अत्यधिक भयभीत हो जाती हैं। ड्यूश के अनुसार इस अवस्था में लड़कियाँ माता और प्रेमी दोनों का पार्ट अदा करती हैं; अर्थात् उनमे इस अवस्था मे उभयलिंगी भाव मौजूद रहता है। पौगण्डावस्था में लड़कियो में अपने चेहरा और उंगलियों के प्रति विशेष प्रेम होता है। इस अवस्था के दूसरे चरण मे लड़कियाँ विषमलैंगिकता मे अपनी अभिरुचि रखने लगती हैं और इस प्रकार एक परिवार का सृजन करती हैं। इसी तरह हेनकिन्स (Hankins) सलिवन तथा थाम्पसन ने भी किशोरावस्था एवं पौगण्डावस्था की लैंगिकता का वर्णन किया है। हम यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

लैंगिक विकृतियाँ (Sexual Perversions)

स्वरूप :—अगले पृष्ठों मे हमने मनोलैंगिक विकास का उल्लेख किया है और यह देखा है कि पुरुष और स्त्रियों में सामान्य लैंगिक विकास क्योंकर एवं किन-किन अवस्थाओं में होता है। सामान्य लैंगिक विकास होने पर वयस्क व्यक्ति में लैंगिक विकृतियों का आविर्भाव नहीं होता; क्योंकि वह लैंगिक आनन्द विषम लिंगी (Opposite sex) के साथ संभोग करके प्राप्त करता है। किंतु, लैंगिक विकृतियाँ मनुष्य में अपूर्ण लैंगिक विकास के फलस्वरूप होती हैं। इस कथन की पुष्टि कई प्रामाणिक अध्ययनों द्वारा हो चुकी है। यों तो विकृति पद का प्रयोग मनोवैज्ञानिक भाषा मे असाधारणता के अर्थ में होता है; लेकिन यहाँ हमने इसका व्यवहार किसी उपयुक्त पद के अभाव में भ्रंशता (Deviation from normal Sexuality) के ही अर्थ में किया है। और यहाँ उन्हीं असामान्य लैंगिकताओं (Abnormal sexualities) का उल्लेख करेगे जिनको कि मनुष्य असामान्य तरीकों से, अनुपयुक्त विषयों को अपने लैगिक आनन्द का विषय बनाकर, उसी प्रकार का लैगिक आनन्द पाता है, जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति विषमलिगी के साथ सामान्य तरीकों से संभोग करके आनन्द पाता है। अब यहाँ लैंगिक विकृति की व्याख्या करने के लिए हम कह सकते हैं कि जान-बूझकर इच्छापूर्वक सामान्य विधि और पदार्थ को छोड़कर असामान्य विधि से अनुपयुक्त पात्र या पदार्थ से लैंगिक आनन्द उठाना ही लैंगिक विकृति है। इस विषय का ज्ञान वैयक्तिक एव सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की मानसिक व्याधियों एवं असामान्य व्यवहारों में इसका अत्यधिक हाथ रहता है, जैसा कि कई विद्वानों ने अपने अन्वेषणों के द्वारा प्रमाणित कर दिया है।

यों तो विद्वानों ने इन विकृतियों का विभाजन कई आधारों पर किया है; लेकिन यहाँ हम किसी प्रकार के विभाजन के बखेड़े मे न पड़कर मुख्य विकृतियों पर ही सक्षिप्तत: प्रकाश डालेगे।

लैंगिक मौखिकता (Sexual oralism)

जब व्यक्ति अपने मुँह को लैंगिक इन्द्रिय (Sexual organ) पर लगाकर लैंगिक आनन्द को प्राप्त करता है तो इसे लैंगिक मौखिकता कहते

हैं। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति विषमलिंगी के साथ संभोग कर लैंगिक आनन्द की अनुभूति करता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति मे लैंगिक मौखिकता का दोष रहता है, वह अपने मुँह का व्यवहार लैंगिक इन्द्रिय पर करके आनन्द की अनुभूति करता है। जब स्त्री, पुरुष के शिश्न को अपने मुँह में रखकर या पुरुष, पुरुष के शिश्न को अपने मुँह में रखकर संभोग का आनन्द लेता है तो इसे पुरुष-मुख व्यभिचार (Fellatio ' कहते हैं। किंतु जब मुँह का व्यवहार स्त्री के गुप्तांग पर किया जाता है तो इसे स्त्री-मुख-व्यभिचार (cunnilingus) कहते हैं।

लैंगिक मौखिकता के कारण को व्यक्त करते हुए व्यवहारवादियों ने सम्बद्ध प्रत्यवर्तन का महत्त्व प्रदर्शित किया है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि चूसना बच्चो की सहज क्रिया है। इसलिए जो कुछ भी उनके मुँह से लगा दिया जाता है उसे वे चूसना प्रारंभ कर देते हैं और क्रमशः यह क्रिया आदत में परिणत हो जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रौढ़ होने पर व्यक्तियों में यह दोष बना रह जाता है। डैविडलेवी (David Levy) ने बच्चों पर प्रयोग करके यह प्रमाणित कर दिया है कि जब बच्चों को स्तनपान करने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता तो आगे चलकर उनमें शरीर के अन्य अगों को चूसने की क्रिया देखो जाती है। जे० जे० कार्लसन (J. J. Carlson) एव प्रोफेसर एच्० डी० गुडेल (H. D. Goodale) ने भी जानवरों पर प्रयोग करके इस कथन की सत्यता प्रमाणित की है। इसी प्रकार इस दोष के मूल में चूसने की सम्बद्ध प्रत्यावर्तन को प्रदर्शित करने के लिए और भी कई विद्वानों ने अध्ययन किया है।

फ्रायडवादियों ने इस व्यापार की व्याख्या अपने ढंग से दी है। उन लोगों ने पुरुष-मुख-व्यभिचार और स्त्री-मुख-व्यभिचार के अन्तरों को स्पष्टतः प्रदर्शित किया है। इस सम्बन्ध में मेलनी क्लाइन का कहना है कि जीवन के प्रारंभकाल में ही बच्चा स्तन और शिश्न का एकीकरण (Identification) कर लेता है और भविष्य मे स्तनपान की ही क्रिया, काल्पनिक अथवा वास्तविक, मुख व्यभिचार का कारण होती है। फेनिकेल ने भी इसकी व्याख्या कई आधारों पर की है। इस सम्बन्ध मे उसका कहना है कि यह व्यापार कई कारणो से आविर्भूत होता है। स्त्रियाँ पुरुषों से एकीकरण कर लेती हैं, इसलिए उनके शिश्न को अन्तर्गत करने के लिए ऐसा करती हैं या उनका यह व्यवहार पुरुषों से ईर्ष्या करने के कारण बदला लेने के ख्याल से भी होता है। इसी तरह और भी कई कारण इस व्यवहार के होते हैं। इस प्रकार इस विकृति के कारण जो कुछ भी हों, किंतु इतना तो निर्विवाद है कि

यह दोष स्त्रियों या पुरुषों में मौखिक सतह पर प्रत्यावर्तन (Regression) और स्थिरीकरण (Fixation) के कारण पाया जाता है। इसी को और भी स्पष्ट करने के लिए हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि लैंगिक मौखिकता का आविर्भाव अपूर्ण लैंगिक विकास एव परिपक्वता के कारण होता है।

लैंगिक गुदद्वार-प्रियता (Sexual Analism)

जब कोई पुरुष गुदाद्वार का इस्तेमाल लैंगिक आनन्द उठाने के लिए करता है तो उसके इस दोष को लैंगिक गुदाद्वारप्रियता कहते हैं ; क्योंकि कोई भी सामान्य व्यक्ति इस प्रकार के आनन्द के लिए स्त्रियों के गुप्तांग का प्रयोग करता है।

इस दोष की व्याख्या व्यवहारवादियों ने आकस्मिक या ऐच्छिक सम्बद्धता के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य गुप्तांग को छोड़कर किसी कारणवश गुदा-द्वारा लैंगिक आनन्द लेता है। पुनः सम्बद्धता के कारण वह इस दोष को करने का आदी हो जाता है। उनका यह भी कहना है कि इस दोष से लैंगिक आनन्द केवल सक्रिय व्यक्ति को ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि निष्क्रिय व्यक्ति को भी प्राप्त होता है। जहाँ तक औरत का काम करनेवाले व्यक्ति के आनन्द का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में क्राफ्ट एबिंग (Krafft Ebing) तथा हेवलाक एलिस (Havelock Ellis) का कहना है कि बहुत दिनो तक अभ्यास करने से निस्संदेह सक्रिय व्यक्ति को भी आनन्द मिलने लगता है; किंतु प्रारभ में उस व्यक्ति को कष्ट अवश्य होता है।

यह दोष समलिंगी ही नहीं होता, बल्कि विषमलिंगी भी होता है। जब एक पुरुष दूसरे पुरुष के साथ ऐसा करता है तो उसे समलिंगी दोष कहते हैं। किंतु, जब कोई पुरुष स्त्री के साथ, गुप्तांग को छोड़कर, उसके गुदाद्वार का व्यवहार करता है तो उसे विषमलिंगी गुदद्वारप्रियता कहते हैं। डाक्टर मोदी ने ऐसी दो घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें पति ने अपनी स्त्री के साथ इस प्रकार का दोष किया। एक पति ने तो अपने ऐसा करने का एकमात्र कारण जन्मनिरोध का विचार व्यक्त किया। लेकिन, यहां यह स्मरणीय है कि न तो जन्मनिरोध का यह मानवोचित तरीका माना जा सकता है और न स्त्रियों के साथ ऐसा करने का जन्मनिरोध का विचार एकमात्र विश्वव्यापक कारण ही माना जा सकता है। हाँ, एकाध स्थलों पर ऐसा संभव है; किंतु पुरुष का अपनी स्त्री या अन्य स्त्री के साथ ऐसा करना उसकी मानसिक विकृति का

ही द्योतक है। क्योंकि कोई भी सामान्य व्यक्ति ऐसा करने का साहस नहीं कर सकता।

जहाँ तक पुरुष का पुरुष के साथ इस दोष के करने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्त्री का अभाव या उससे किसी प्रकार का भय ऐसा करने का कारण होता है। लेकिन, ऐसा भी तो असामान्य मनुष्य ही कर सकता है, सामान्य मनुष्य नहीं। इसलिए इस दोष के उपर्युक्त कारण इसकी सतोषप्रद व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध मे समजाति-लैंगिकता का वर्णन करते समय काफी प्रकाश डाला जायेगा। अतएव यहाँ पर इसके विशद् वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने इस दोष की व्याख्या स्थिरीकरण (Fixation) तथा प्रत्यावर्तन (Regression) के आधार पर की है। उनकी विचारधारा यह है कि मनोलैंगिक विकास की दूसरी अवस्था में स्थिरीकरण या प्रत्यावर्तन होने के कारण बच्चा गुदामार्ग के स्पर्श से लैंगिक आनन्द लेना प्रारंभ करता है और आगे चलकर भविष्य में वह अचेतनतया इसी का अभ्यासी बन जाता है। उन विद्वानों ने इस दोष का सम्बन्ध समजाति - लैंगिकता (Homosexuality), ओडिपस - कम्प्लेक्स (Oedipus complex) तथा पुरुत्वहरण-चिंता (Castration fear) से बहुत ही घनिष्ठ व्यक्त किया है। यहाँ इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस दोष की व्यापकता समजाति-लैगिकता के रूप मे बहुत है और विषम-लिंगियों के रूप में बहुत ही कम। इसका कारण जो कुछ भी हो इतना तो मान्य ही है कि यह कार्य व्यक्ति की मानसिक विकृति का द्योतक है; क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कोई भी सामान्य एवं सभ्य व्यक्ति ऐसा करने का दुस्साहस नहीं कर सकता।

मलस्रावप्रियता (Coprophilia and Coprophagia)

मलस्राव-प्रियता (Coprophagia) का सारांश है मल अथवा स्राव का उपभोग करना। दूसरे शब्दों में, लैंगिक आनन्द के लिए मलस्राव-भक्षण करना मलस्राव-प्रियता है। वस्तुतः ऐसा करना व्यक्ति विशेष के लैंगिक कार्य में सहायक होता है। यह एक प्रकार की घृणित लैंगिक विकृति है जो बहुत ही कम मनुष्यों में पायी जाती है; लेकिन इसका सर्वथा अभाव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसके साथ-साथ अन्य प्रकार की विकृतियाँ भी पायी जाती हैं। शायद ही यह दोष अकेला किसी एक व्यक्ति में मिलता हो।

इसके पहले कि हम इसके कारणों पर प्रकाश डालें, यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि कुछ जानवरों या मनुष्य विशेषों में मल-स्राव खाने का व्यापार देखा जाता है। लेकिन, उनका ऐसा व्यवहार उनकी लैंगिक विकृति का द्योतक नहीं होता, बल्कि वे वैसा स्वाद की दृष्टि से करते हैं। क्लीफोर्ड एलेन (Clifford Allen) ने एस्कीमो तथा आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में नाक की गन्दगी को खाने की चर्चा की है और उसी स्थल पर यह भी स्पष्ट किया है कि ये लोग उसे स्वाद के ही ख्याल से खाते हैं। किसी सभ्य जाति के लिए ऐसा करना संभव नहीं है। अतएव उनका यह सामान्य व्यवहार है, इसे विकृति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

जहाँ तक इस विकृति के कारण का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह विचार है कि प्रारंभ में बच्चे किसी प्रकार की नवीन परिस्थिति मे अपनी जन्मजात एवं पूर्वार्जित प्रतिक्रियाओं के द्वारा ही अपने को अभि-योजित करते हैं। इसलिए प्रारभ में वे अपने मलस्राव की क्रियाओं से अवगत नहीं रहते हैं; क्योंकि ये क्रियाएँ स्वत होती रहती हैं। किंतु बाद में माताएँ उन्हें पात्र-विशेष से या स्थान-विशेष पर मल-मूत्र त्याग करने के लिए विवश करती हैं। ऐसी परिस्थिति में बच्चे जैसे अन्य चीजों को मुँह में डालने या निगलने के आदी होते हैं उसी तरह मल-मूत्र को भी मुँह मे डालते हैं। और बाद में उनकी वह प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती और वही मलस्रावप्रियता-विकृति के नाम से अभिव्यक्त होती है।

फ्रायड तथा उसके अन्य अनुयायियों ने इस विकृति की व्याख्या मौखिक एवं गुदद्वारीय लैंगिकता (Eroticism) के सम्मिलन के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि जब बच्चा लैंगिक आनन्द प्राप्त करने के मौखिक तरीकों से निमुक्त नहीं रहता उसी समय वह अपनी संतुष्टि के लिए गुदद्वारीय अवस्था के लैगिक आनन्द उठाने की रीति को भी अपना लेता है। यही कारण है कि बच्चे मल को पोतने, खाने आदि में आनन्द लेते हैं। इन दोनों अवस्थाओं की प्रतिक्रियाओं के सम्मिलन के फलस्वरूप बाद में व्यक्ति में मलस्राव-प्रियता की लैंगिक विकृति देखने में आती है। खैर, इस दोष का कारण जो कुछ भी हो; लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि यह दोष अत्यन्त घृणित है। इससे पीड़ित लोगो की संख्या अत्यल्प है तथा यह अन्य लैंगिक-विकृतियों के साथ देखी जाती है। अकेले इस दोष से पीड़ित कोई व्यक्ति नहीं होता।

४. परपीड़न-प्रीति (Sadism)

सामान्य व्यक्ति लैंगिक आनन्द लेते समय लैंगिक पात्र (Sexual object) को लाड़प्यार, चुम्बन आदि करता है। लेकिन जब किसी व्यक्ति में परपीड़न-प्रीति की विकृति पायी जाती है तो देखा जाता है कि वह निर्दयता एवं उत्पीड़न के कार्यों द्वारा ही लैंगिक आनन्द की अनुभूति करता है। उसका प्रेमपात्र समलिंगी हो या विषमलिंगी; लेकिन वह उसे कष्ट देकर ही लैंगिकता के आनन्द को उठाता है। यों तो यह विकृति किसी भी व्यक्ति में हो सकती है; लेकिन, इसकी अधिकता पुरुषों में पाई जाती है। बच्चों और जानवरों के प्रति भी परपीड़न-प्रीति का प्रदर्शन होता है।

इस दोष से पीड़ित व्यक्ति अपने लैंगिक पात्र को तरह-तरह से कष्ट देता है; किन्तु अधिकांशतः किसी अंश-विशेष को चोट पहुँचाने का व्यापार प्रधान रूप से देखा जाता है। ऐसा व्यक्ति जननेन्द्रिय को दाँत या किसी चाकू आदि से काट देता है, नितम्ब, स्तन या गाल को दाँतों से काट लेता है। कभी-कभी तो ऐसा व्यक्ति अपने प्रेमपात्र को जान से भी मार देता है, जिसे काम-हत्या (Lust murder) कहते हैं; किंतु ऐसी घटना जीवन मे बहुत ही कम सुनने या देखने में आती है। इस प्रकार की हत्या व्यक्ति किसी प्रतिकार के भाव के वशीभूत होकर नहीं करता है, बल्कि उसे ऐसा करने से लैगिक आनन्द की ही अनुभूति होती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने ऐसी एक कामहत्या की चर्चा अपने "यौन विज्ञान और वैवाहिक जीवन" नामक ग्रंथ में की है जिसकी सूचना उन्हे डा० यू० एस० गुप्त द्वारा मिली थी। कहने का अभिप्राय यह है कि परपीड़न के कार्यों से ही इस प्रकार के व्यक्ति को लैगिक सुख मिलता है।

जहाँ तक इस दोष के कारण का प्रश्न है, इसके विषय में विद्वानों में मतैक्य नही है। पहले तो यह विषय ही अछूता था और जब विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ तब उन्होंने इसकी व्याख्या दैहिक आधारों पर की। कैनन, शेरिंगटन प्रभृति विद्वानों ने मानसिक अवस्था, स्नायविक तनाव (Muscular Tension) तथा नलिकाविहीन ग्रंथियों के स्राव (Secretion of the ductless glands of the body) के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रदर्शित करते हुए इस व्यापार की व्याख्या की है। लेकिन, उनकी यह व्याख्या संतोषप्रद नहीं है; अतएव यह मान्य भी नहीं है।

एडलर ने परपीड़न-प्रीति की व्याख्या हीन-परिज्ञान ('Feeling of Inferiority) के आधार पर की है। इस सम्बन्ध मे उसका कथन है कि

जो व्यक्ति हीन-परिज्ञान से पीड़ित रहता है वह अपनी हीनता को छिपाने के लिए परपीड़न-प्रीति का पूर्त्यात्मक (Compensatory) व्यवहार करता है। उसे इस प्रकार का व्यवहार करने में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती; इसलिए वह आसानी से ऐसा कर बैठता है और अपने को श्रेष्ठ प्रदर्शित करता है। लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि एडलर की यह व्याख्या किसी व्यक्ति अथवा परिस्थिति के लिए भले ही उचित हो; किंतु सभी स्थलों पर यह संतोषप्रद नहीं हो सकती। अतएव उसकी यह व्याख्या पूर्णतः मान्य नहीं है।

इस विकृति के सम्बन्ध में उल्फेन (Wulffen) का कहना है कि जब किसी ग्रंथि (Gland) की कार्यवाही मे दोष रहता है तभी व्यक्ति बल-प्रयोग (Violence) का व्यवहार प्रदर्शित करता है। वह शराब से लैंगिक ग्रंथि स्राव की उपमा देते हुए यह कहता है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति मद्यपान की नशा मे लज्जा और भय से निर्मुक्त होकर बल-प्रयोग तथा हत्या-जैसे कामों को कर बैठता है उसी प्रकार जिस मनुष्य में लैंगिक ग्रंथि-स्राव की अधिकता रहती है, वह लैंगिक संभोग करते समय नशा के वशीभूत होकर प्रेमपात्र के साथ निर्दयता का व्यवहार करता है या उसे मार डालता है। यद्यपि उल्फेन की यह उपमा देखने में बहुत ही युक्तिपूर्ण प्रतीत होती है; किंतु गंभीरतया विचार करने पर ज्ञात होगा कि परपीड़न-प्रीति का यह कारण कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि यह व्यवहार ऐसे ऐसे व्यक्तियों में भी देखने में आता है जिनमें कि ग्रंथियों की अपर्याप्तता रहती है और जिनका स्वास्थ्य भी दयनीय ही रहता है। इस तरह उल्फेन की व्याख्या भी इस विकृति के कारण को समझाने के लिए पर्याप्त नहीं है।

इउलेनबर्ग (Eulenburg) के अनुसार परपीड़न-प्रीति एक वंशानुगत (Atavistic) विशेषता है। वह कन्दराओं में रहनेवाले प्राचीन लोगों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इस तथ्य पर जोर देता है कि उस समय विजयी व्यक्ति स्त्रियों का अपहरण बलप्रयोग करके ही करता था और तभी से यह विशेषता चली आती है। लेकिन, उसका यह कथन सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह वांशिक गुण तो तभी हो सकता है जब कि यह समान मात्रा में सभी व्यक्तियों मे मिले। किन्तु यह प्रीति तो बहुत ही कम लोगों में पायी जाती है। अतएव यह व्याख्या परपीड़न-प्रीति की संतोषजनक नहीं है।

इसी प्रकार जिन विद्वानों ने इसे जातीय विशेषता (Racial characteristic) उद्घोषित किया है, वे लोग भी इसकी संतोषप्रद व्याख्या

करने में असमर्थ हैं; क्योंकि यह दोष किसी जातिविशेष में ही नहीं पाया जाता, बल्कि सभी जातियों के कुछ व्यक्तियों में पाया जाता है। अतएव जातीय आधार पर इसकी व्याख्या करना संभव नहीं है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का परपीड़न-प्रीति के सम्बन्ध में यह कहना है कि यह मनुष्य की आक्रामकता (Aggression) का ही परिचायक है। जीवन के प्रारंभ मे ही बच्चों में जब दाँत जम जाते हैं तभी से वे अपनी इस वृत्ति की अभिव्यक्ति दाँतों से माता के स्तन को काटकर अथवा घायल करके करते हैं। बाद में सम्बद्धता (Conditioning) के कारण व्यक्ति अपने प्रेम-पात्र या पात्री के ही प्रति अपनी इस वृत्ति का प्रकाशन करने लगता है। वस्तुतः यह कारण परपीड़न-प्रीति का कुछ अंशों मे युक्तिसगत प्रतीत होता है; क्योंकि विचार करने पर मालूम होगा कि जो व्यक्ति परपीड़न-प्रीति से ग्रस्त रहता है, वह अपने ऐसे व्यवहार द्वारा अवसर मिलने पर अपनी आक्रामक वृत्ति (Aggressive Tendency) को ही परितृप्त करता है और उसे ऐसा करने मे एक प्रकार का संतोष होता है।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने इस दोष (विकृति) की भी व्याख्या अपने ढग पर निराली ही की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि सभी व्यक्तियों में जीवन एवं मृत्यु की दो प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts) होती हैं। जहाँ मनुष्य अपने जीवन की कामना करता है वहीं वह अपनी मृत्यु की भी कामना करता है। लेकिन जिस व्यक्ति में यह विकृति मिलती है वह व्यक्ति आत्समृत्यु की कामना न कर परमृत्यु की ही कामना से परपीड़न-प्रीति का व्यवहार करता है; क्योंकि उसकी मृत्यु की मूलप्रवृत्ति आत्मदिशा में प्रवाहित न होकर विधेयात्मक रूप से पर-दिशा में प्रवाहित हो जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि, इस सम्बन्ध में उन लोगों का यह भी कहना है कि ऐसे व्यक्ति की लैंगिकता शरीर के विभिन्न अगों एवं छिद्रों में भी स्थिर हो जाती है। इसीलिए परपीड़न-प्रीति का दोषी अपने लैंगिक पात्र के विभिन्न अंगों को चोट पहुँचाता या छिन्न-भिन्न करता है। इसी प्रसंग में उनलोगों ने यह भी व्यक्त किया है कि प्रारंभ में बच्चा अपनी परपीड़न-प्रीति का प्रकाशन मुँह के द्वारा, पुनः गुदा और मूत्रेन्द्रिय और बाद में जननेन्द्रिय अथवा अन्य अंगों के द्वारा करता है। परपीड़न-प्रीति-सम्बन्धी फ्रायड तथा उसके अनुयायियों की युक्ति पर गभीरतया विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः फ्रायड या उसके अनुयायियों ने परपीड़न-प्रीति का जो कारण व्यक्त किया है वह आक्रामक वृत्ति को व्यक्त करने का एक अन्य ढंग-मात्र के अतिरिक्त और

कुछ नहीं है ; क्योंकि हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि व्यक्ति परपीड़न प्रीति के द्वारा अपनी आक्रामक वृत्ति को ही संतृप्त करता है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि कुछ विद्वानों ने परपीड़न-प्रीति की व्याख्या चन्द्रमा की पूर्णता और अपूर्णता के आधार पर करने की कोशिश की है ; किंतु हम यहाँ उसका विशेष उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं। कारण, चन्द्रमा से इस व्यवहार का सम्बन्ध स्थापित करना पानी के लिए सूखे पर्वत को खोदने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

हाँ, निःसंदेह उन विद्वानों का प्रयास प्रशंसनीय है, जिन लोगों ने इस विकृति की व्याख्या दमनक्रांत बाध्यता (Obsession-Compulsion) के आधार पर करने की कोशिश की है। इस सम्बन्ध में उन लोगों का कहना है कि जिस प्रकार दमनक्रांत-बाध्यता से पीड़ित व्यक्ति एक ही विचार एवं क्रिया की पुनरावृत्ति करता रहता है और वैसा करते रहने में ही उसे सतोष होता है उसी प्रकार परपीड़न-प्रीति-ग्रस्त व्यक्ति एक ही बार दूसरे को कष्ट देने का प्रयास नहीं करता, बल्कि वह भी एक ही व्यवहार की पुनरावृत्ति करता रहता है। वस्तुतः गंभीर रूप से विचार करने पर यह व्याख्या उचित जँचती है और हम यहाँ निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित समझते हैं कि आक्रामक वृत्ति, हीन-परिज्ञान या मृत्यु-मूल-प्रवृत्ति के कारण भले ही किसी व्यक्ति-विशेष मे परपीड़न-प्रीति-विकृति हो ; किंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसमे इस प्रकार का मानसिक एव शारीरिक तनाव रहता है। जब तक वह परपीड़न-प्रीति का व्यवहार नहीं करता तब तक उसका वह तनाव बना रहता है। इसलिए, अपने उस तनाव से निर्मुक्त होने के लिए उसे बाध्य होकर परपीड़न-प्रीति का व्यवहार करना पड़ता है। अपने ऐसे व्यवहार से उसे शान्ति और संतोष मिलता है।

अब परपीड़न-प्रीति के विभिन्न कारणों का उल्लेख कर लेने के बाद इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना अप्रासगिक नहीं होगा कि सामान्यतः परपीड़न-प्रीति की मात्रा न्यूनाधिक अंशों में सभी व्यक्तियों में पायी जाती है। हम नित्य के जीवन में प्रायः ऐसा देखते हैं कि दूसरे को गाली देने, अपमानित करने, कपड़ा पर स्याही छिड़कने, किसी का बाल काट लेने, बीड़ी या सिगरेट से किसी का कपड़ा जला देने आदि में लोग आनन्द का अनुभव करते हैं। डाक्टर भी रोगियों के आपरेशन में आनन्द का ही अनुभव करता है। वस्तुतः ये सभी व्यवहार साधारण परपीड़न-प्रीति के ही द्योतक हैं। इसी प्रकार किसी के जलते हुए घर को देखने के लिए इकट्ठी भीड़ मे भी हमें इसी प्रीति का आभास मिलता है। किंतु ये सभी व्यवहार साधारण समझे

जाते हैं। इसलिए संभोग के समय किसी अंग-विशेष को चोट पहुँचाने या काट लेने अथवा प्रेमपात्र को जान से मार देने आदि के ही व्यवहार इस विकृति की प्रबलता के द्योतक हैं और वस्तुतः इस प्रकार का व्यक्ति मानसिक दोषों से ग्रस्त रहता है। अतएव हम थोड़े शब्दों में यह कह सकते हैं कि चाहे परपीड़न-प्रीति का जो कुछ भी कारण हो ; लेकिन इतना तो मान्य ही है कि यह व्यक्ति-विशेष की मानसिक असामान्यता का ही द्योतक है ; क्योंकि कोई सामान्य व्यक्ति ऐसा जघन्य कार्य करने की कल्पना तक भी नहीं कर सकता है।

आत्मपीड़न-प्रीति (Masochism)

आत्मपीड़न-प्रीति (Masochism) भी एक प्रकार की लैंगिक विकृति ही है और यह परपीड़न-प्रीति के पूर्णतः प्रतिकूल है ; क्योंकि जहाँ परपीड़न प्रीति का दोषी दूसरे व्यक्ति को आघात या क्षति पहुँचाकर लैंगिक आनन्द को लूटता है वहाँ आत्मपीड़न-प्रीति का दोषी व्यक्ति अपने आप कष्ट सहन करने में ही लैंगिक सुख का अनुभव करता है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह विकृति महत्व की नहीं है ; क्योंकि परपीड़न-प्रीति-ग्रस्त व्यक्ति की तरह आत्मपीड़न-प्रीतिवाला व्यक्ति न तो दूसरे को कष्ट ही देता है और न किसी की हत्या ही करता है। यह विकृति जिस व्यक्ति में पायी जाती है वह स्वयं तरह-तरह के कष्टों को झेलने में ही अनन्द की अनुभूति करता है।

इसके सम्बन्ध में विद्वानों का यह दृष्टिकोण है कि जिस प्रकार परपीड़न-विकृति पुरुषों में पायी जाती है उसी प्रकार यह दोष औरतों में ही पाया जाता है; किंतु उनका यह विचार दोषपूर्ण है। बात यह है कि न तो परपीड़न-प्रीति को एकमात्र पुरुषों की विकृति कहा जा सकता है और न आत्मपीड़न-प्रीति को स्त्रियों की विकृति कहा जा सकता है। इस दिशा में जिन विद्वानों ने काम किया है, उनके कामों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विकृति दोनों लिंगों में पायी जाती है। अतएव इसे मात्र औरतों का दोष कहना कदापि युक्तिसगत नहीं है।

इसके पहले कि हम इसके कारणों का उल्लेख करें यहाँ यह स्मरणीय है कि इसका विभाजन विद्वानों ने तीन वर्गों में किया है। इन्हें हम कामुक आत्मपीड़न-प्रीति (Erotogenic Masochism), स्त्रैण आत्मपीड़न-प्रीति (Feminine Masochism) तथा नैतिक आत्मपीड़न-प्रीति (Moral Masochism) के नाम से व्यक्त कर सकते हैं।

कामुक आत्मपीड़न-प्रीति (Erotogenic Masochism) से पीड़ित व्यक्ति को कष्ट सहन करने में ही लैंगिक आनन्द की अनुभूति होती है। जिस प्रकार दूसरे को कष्ट देकर परपीड़न-प्रीति का दोषी व्यक्ति लैंगिक आनन्द को लूटता है ठीक उसके विपरीत स्वयं दारुण कष्टों को सहन करने में ही कामुक आत्मपीड़न-प्रीति का दोषी व्यक्ति अपनी लैगिक इच्छा को संतुष्ट करता है। ऐसे व्यक्ति को जितना ही अधिक दूसरे से शारीरिक या मानसिक कष्ट मिलता है उतना ही अधिक उसमें लैंगिक उत्तेजना भी उत्तेजित होती है और उसका लैंगिक आनन्द इतना बढ़ जाता है कि अन्त में उसका वीर्यस्राव भी हो जाता है। इस प्रकार का व्यक्ति जिस स्त्री से प्रेम करता है उसे स्वयं को तरह-तरह का कष्ट देने के लिए बाध्य करता है ; क्योंकि शारीरिक कष्ट-सहन ही उसकी लैंगिक संतृप्ति का साधन होता है। शरीर के विभिन्न भागों के उत्पीड़न से उसे वास्तविक लैंगिकता का सुख मिलता है। कभी-कभी समलिंगी आत्मपीड़न-प्रीति का व्यापार भी देखने में आता है। और जब कभी दूसरा व्यक्ति कष्ट देना स्वीकार नहीं करता है तब ऐसा व्यक्ति स्वयं विभिन्न उपकरणों के द्वारा अपनी जननेन्द्रिय को कष्ट पहुँचाता है। डाक्टरों को अधिक तो नहीं, लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर मिलते हैं जब कि उन्हें रोगियों की जननेन्द्रियों में से बाहरी चीजों को निकालने के लिए विभिन्न यंत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। जननेन्द्रिय को पीड़ा देने के सम्बन्ध में विद्वानों का यह मत है कि किसी व्यक्ति का ऐसा व्यापार उसकी हस्तमैथुन-इच्छा (Desire for masturbation) का ही परिचायक है। इसके अतिरिक्त भी ऐसा व्यक्ति किसी ऐसे दोषभाव (Guilt-feeling) से पीड़ित रहता है जिसके लिए उसे दण्ड नहीं मिलता। अतएव वह स्वयं अचेतनतया दण्ड की इच्छा से ऐसा कर बैठता है। फलघम (Fulghum) ने एक नाई के बारे में लिखा है कि वह बार-बार अपने अण्डकोष (Scrotum) को लैंगिक इच्छा को संतुष्ट करने के लिए क्षतिग्रस्त करता था।

इस दोष से पीड़ित ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं रहा है जो अपने प्रेमपात्री या प्रेमपात्र से कोड़ा लगवाकर लैंगिक आनन्द का मजा लूटते रहे हैं। ऐसे लोगों में सेचरमैसोच (Secher-Masoch), जिसके नाम पर अँगरेजी भाषा में इस विकृति का नामकरण हुआ है, का नाम जगतप्रसिद्ध है। वह अपनी स्त्री को कोड़े लगाने के लिए विवश करता था और उसके ऐसा न करने पर अपनी दासी से कोड़े लगवाकर शान्त होता था। कभी-कभी तो कीलों को लगवाकर वह कोड़े लगवाया करता था और कहता था

कि ऐसा होने पर उसे लैंगिक और साहित्यिक उत्तेजना मिलती है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि ऐसा व्यक्ति कष्ट तथा भय से अपने को अधिक शक्तिशाली अनुभव करता है और जो कार्य वह सामान्यावस्था में करने में असमर्थ रहता है उसे भी वह कष्ट पाने पर कर लेता है। इस प्रकार का व्यक्ति किसी प्रकार का अपमान सहने के लिए तैयार रहता है और जिसको प्रेम करता है उसकी अधीनता स्वीकार करने में उसे आनन्द मिलता है। अपनी स्त्री को अन्य व्यक्ति के सहवास में देखकर प्रसन्न होना, प्रेमपात्र या पात्री का पैर दबाना, आत्मत्याग, सहनशीलता आदि विभिन्न व्यापार इसी प्रकार की विकृति के द्योतक हैं।

इस विकृति का दूसरा वर्ग स्त्रैण प्रकार के नाम से प्रख्यात है। यह औरतों में ही पाया जाता है। इससे ग्रस्त औरते तरह-तरह का कष्ट अपने पति या अन्य प्रेमपात्रों से पाकर अत्यधिक सतुष्ट होती हैं। जिस स्त्री का पति जुआरी, शराबी अथवा वेश्यागामी होता है और बार-बार उसे रुपया के लिए पीटता या घर से निकाल देता है और तब भी वह पति को नहीं छोड़ती तो उस स्त्री मे प्राय: यह विकृति मौजूद रहती है। जब सेचरमैसोच ने तरह-तरह की गलतियाँ कीं तब भी उसकी धर्मपत्नि ने उसका साथ नही छोड़ा। पत्नी का ऐसा व्यवहार निर्विवादत: उसकी इसी विकृति का परिचायक है। बहुत-सी स्त्रियाँ किसी अन्य के न मिलने पर स्वयं अपने विभिन्न अंगों को क्षतिग्रस्त कर देती हैं। उनका ऐसा करना उनके इसी दोष की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत-सी औरतें अपने पति द्वारा नाना प्रकार के कष्टों को भोगती हैं और तब भी पति का प्रेम नहीं छोड़तीं। इसी प्रकार स्त्रैण प्रकार की विकृति से ग्रस्त औरतें तरह-तरह के कष्टों को सहन करने में ही लैंगिकता के आनन्द को लूटती हैं।

तीसरे वर्ग की विकृति को जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, नैतिक आत्मपीड़न-प्रीति कहते हैं। सामान्यत: इस विकृति में किसी प्रकार की लैंगिकता की गध नहीं मिलती है। ऐसे व्यक्ति को ऐसा करने में आत्म-संतोप होता है। पाश्चात्य देशों में तो नहीं, किंतु भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वी देशों में इस प्रकार के अधिकांश व्यक्ति देखने में आते हैं। चन्द्रायण-व्रत के द्वारा शरीर को शिथिल बनाना, साधुओं का कुशासन पर सोना, एक पेर पर खड़ा होना, एक बाहु को सदा ऊपर उठाये रहना, लोहे की करधन पहनना आदि इस प्रकार की विकृति के परिचायक हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपने शारीरिक कष्टों मे ही आनन्द आता है। जहाँ सामान्य व्यक्ति इस प्रकार के कष्ट से छुटकारा पाने की कोशिश करता है वहीं इस विकृति से ग्रस्त

व्यक्ति ऐसे कष्टों का आवाहन करता है। महात्मा गाँधी के इस कथन में कि यदि कोई एक गाल पर तमाचा लगावे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो, इसी नैतिक विकृति की गध मिलती है। महात्मा बुद्ध, महावीर आदि इस दोष के शिकार थे। इस तरह का कष्ट ही उनके निर्माण का साधन था।

इस विकृति के कारण पर विचार करने से मालूम होता है कि इस सम्बन्ध में विद्वानो मे मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि जिन व्यक्तियों में शारीरिक कमजोरी और ग्रंथि-अपर्याप्तता (Glandular insufficiency) रहती है वे कष्ट द्वारा ही कामोत्तेजित होते हैं। जब तक लैंगिक ग्रंथि को पर्याप्त कष्ट नहीं पहुँचता तब तक उनमें उत्तेजना नहीं आती है। अतएव कामोत्तेजना का अनुभव करने के लिए व्यक्ति आत्मपीड़न-प्रीति का शिकार बन जाता है।

एडलर ने इस विकृति की व्याख्या अतिपूर्त्ति-प्रतिक्रिया (compensation) के आधार पर दी है। उसका कहना है कि जो व्यक्ति किसी प्रकार के अभाव से पीड़ित रहता है वह इस विकृक्ति के द्वारा अपने अभाव को दूर कर लेता है। उसका कथन कुछ स्थलों के लिए भले मान्य हो। किंतु, सभी स्थलों के लिए मान्य नहीं है। जो व्यक्ति किसी शारीरिक या मानसिक दोष (अभाव) से पीड़ित नहीं रहते हैं उनमें भी यह विकृति देखने में आती है। अतएव एडलर की विचार-धारा के आधार पर इसकी व्याख्या संतोषप्रद करना सभव नहीं है। इस कारण इसे भी मान्य नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या संबद्धता के आधार पर का है; किंतु उन्हें अपने प्रयास में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है।

फ्रायड का इस विकृति के सम्बन्ध में कहना है कि कामुक आत्मपीड़न-प्रीति का आविर्भाव पुरुषो मे माता के प्रति घृणा से होता है। जब पुरुष अपनी माता के प्रति घृणा व्यक्त करने में असमर्थ होता है तो वह दिशा बदलकर अपने पर घृणा करने लगता है। माता से एकाकार के भाव से प्रेरित होकर इस घृणा-भाव के कारण व्यक्ति में कामुक आत्मपीड़न-प्रीति का आविर्भाव होता है। स्त्रैण आत्मपीड़न-प्रीति के सम्बन्ध में फ्रायड का विचार है कि जब लड़कियाँ अपने मे शिश्न (Penis) की कमी अनुभव करती हैं तो वे अपनी माता से घृणा करने लगती हैं और उनके प्रति आक्रामक व्यवहार का प्रदर्शन करना चाहती हैं। किंतु जब उनकी आक्रामकता की अभिव्यक्ति माता के प्रति नहीं हो पाती तो उसकी दिशा बदल जाती है और वे स्वय

अपने प्रति आक्रामकता का प्रदर्शन करती हैं। इसी के फलस्वरूप उनमें स्त्रैण आत्मपीड़न-प्रीति का आविर्भाव होता है। किंतु हार्नें ने इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए इस विकृति में समाज तथा संस्कृति के प्रभाव को व्यक्त किया है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या परपीड़न-प्रीति की तरह बाध्यता (compulsion) के आधार पर की है। इस तरह जितने विद्वान हैं उतने विचार हैं; किंतु इतना तो सत्य ही है कि इस प्रकार की विकृति व्यक्ति-विशेष की विकृत मानसिक क्रियाओं का द्योतक है। वस्तुत: कोई भी व्यक्ति लैंगिक आनन्द या आत्मसतोष के लिए कष्ट उठाना नहीं चाहता है और जिसे कष्ट में ही मजा मिलता है वह अवश्य ही मानसिक विकृतियों का शिकार है।

स्पर्श-प्रीति (Frotteurism)

कोई व्यक्ति जब लैंगिक उत्तेजना का आनन्द किसी अन्य व्यक्ति के शरीर के स्पर्श द्वारा लेता है तो इस प्रकार की विकृति को स्पर्श-प्रीति कहते हैं। इस प्रकार की विकृति अधिकांशत: पुरुषों मे देखी जाती है। वर्ग-भवन में जब विद्यार्थी शिक्षक के संभाषण के लिए एकत्रित होते हैं तो यह विकृति देखने मे आती है। प्रायः एकाध विद्यार्थी सभी वर्गों में ऐसे देखने में आते हैं जो बराबर किसी अन्य विद्यार्थी से सटकर बैठना चाहते हैं। काफी जगह रहने पर भी उनका व्यवहार इस विकृति का परिचायक होता है। विभिन्न मेलों के अवसरों पर कुछ व्यक्ति ऐसा व्यवहार करते समय बराबर जन-समूह के निन्दा के पात्र होते हैं। यों तो यह व्यवहार सामान्य रूप से किसी असामाजिक व्यवहार का परिचायक नही समझा जाता है; किन्तु यदि यह बार-बार होता रहे तो अवश्य ही यह लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेता है। लेखक स्वयं एक ऐसे व्यक्ति को जानता है जो स्पर्श-प्रीति का शिकार है और भीड़ में पड़ने पर वह बराबर स्त्रियों के शरीर को स्पर्श करने का इच्छुक रहता है। वस्तुत: उसे ऐसा करने से कुछ अंशों में संतोष मिलता है। कुछ लोगों में यह विकृति इतनी प्रबल होती है कि दूसरे को स्पर्श करते ही वे इतना कामोत्तेजित हो जाते हैं कि शीघ्र ही उनका वीर्य-स्राव भी हो जाता है। यों तो पति-पत्नि के स्पर्श से उत्तेजित होना स्वाभाविक है; किंतु अन्य व्यक्ति के शरीर के स्पर्श-मात्र से कोई कामोत्तेजित होकर वीर्य-स्राव करता है तो वह अवश्य ही इस विकृति का शिकार है।

जहाँ तक इसके कारणों का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का ऐसा दृष्टिकोण है कि यह दोष स्वतंत्र रूप

से किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं पाया जाता है, बल्कि अन्य मानसिक दोषों के साथ-साथ पाया जाता है। व्यवहारवादियों ने इस व्यापार की भी व्याख्या सम्बद्धता के आधार पर करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि अति उत्तेजित होने पर मनुष्य शरीर स्पर्श करके लैंगिक आनन्द की अनुभूति करता है। जो लोग बहुत दिनों से वास्तविक लैंगिक आनन्द से बचे रहते हैं वे ही ऐसा व्यवहार करते हैं। फ्रायडवादियों ने इसके सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं कहा है। उनके अनुसार ऐसा व्यवहार दूसरे पक्ष को उत्तेजित करने के लिए किया जाता है।

नग्न-दर्शन (Scaptophilia)

जब दूसरे लोगों को नगे देखने-मात्र से किसी व्यक्ति को लैंगिक सुख मिलता है तो हम ऐसे व्यापार को नग्न-दर्शन कहते हैं। यह विकृति जिस व्यक्ति मे पायी जाती है वह दूसरो को नग्न देखने में ही रुचिकर भाव का अनुभव करता है। सामान्य जीवन में भी नदी या तालाब के घाटों पर औरतों को कपड़ा पहनते देखने में कुछ व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हैं। यह दोष स्त्री और पुरुष दोनों में पाया जाता है। जब तक किसी स्त्री-विशेष में समलैंगिकता की प्रवृत्ति (Homo-Sexual Tendency) प्रबल नहीं होती तब तक वह पुरुषों को ही नग्न देखकर कामोत्तेजित होती है और इस तरह उसे लैगिक सुख मिलता है। इसी प्रकार कुछ पुरुष भी नग्न औरतों को देखते हैं; किंतु जो पुरुष समलैगिक होता है वह अन्य पुरुषों को भी नग्न देखकर लैगिक सुख का अनुभव करता है। यह विकृति एक नगर के बहुत ही वृद्ध व्यक्ति में देखी गयी। वह स्वत: किसी प्रकार का लैंगिक व्यवहार करने में असमर्थ था और वह अपने मकान पर कई लड़के तथा लड़कियों को रखता था। वह उन्हें सम्भोग करने के लिए विवश करता था और जब वे आपस में ऐसा करते थे तो वह स्वय उनके कार्यों को देखकर सुखी होता था। कभी-कभी वह किसी बालक या बालिका को भी नग्न करके देखता था और ऐसा करने से उसे सतोष मिलता था। वह रईस वृद्ध मरते दम तक इस विकृति का प्रदर्शन करता रहा और कितने ही लड़के तथा लड़कियों को धन का लोभ देकर अवांछनीय कार्यों को करने के लिए विवश करता रहा। यो तो ऐसा व्यक्ति सामान्यत: जनता के ध्यान को आकृष्ट नहीं करता; किंतु यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो ऐसे कितने व्यक्ति हमलोगो में ही मिल जायेंगे जो वस्तुत: इस विकृति के शिकार हैं। इस तरह इस दोष से युक्त व्यक्ति या तो

नग्न स्त्री-पुरुषों को देखकर लैंगिक सुख का अनुभव करता है या उनके संभोग-व्यापार को देखने का इच्छुक रहता है।

जब हम इस दोष के कारण पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि इस सम्बन्ध में भी विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। व्यवहारवादियों के अनुसार जब बच्चे बहुत छोटे रहते हैं तभी से वे देखने और ताकने के इच्छुक होते हैं और जब वे बड़े हो जाते हैं तब उनकी वही प्रवृत्ति नग्न-दर्शन का रूप धारण कर लेती है। फलस्वरूप बड़े होने पर उनमें नग्न-दर्शन-विकृति का व्यापार दृष्टिगोचर होता है। फ्रायड तथा फेनिकेल (Fenichel) ने इसकी व्याख्या पुंस्त्वहरण (Castration) के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि नग्न शरीर को देखना पुंस्त्वहरण को अस्वीकार करने की अचेतन इच्छा के ही कारण होता है। किंतु अन्य विद्वानो ने इसका खण्डन किया है। क्लिफोर्ड एलेन (Clifford Allen) तथा अन्य विद्वानों के मत से यह व्यापार प्रेम का प्रदर्शन है। व्यक्ति जब किसी स्त्री को प्रेम करता है तो वह उसे नग्न देखकर अपने प्रेम का प्रदर्शन करता है। संभोग-व्यापार को देखना सभोग करने की दमित इच्छा का द्योतक होता है। जिस व्यक्ति की इच्छा सभोग से संतुष्ट नहीं होती वह अपनी इच्छा की संतुष्टि दूसरे को संभोग करता हुआ देखकर ही कर लेता है। यह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष लैंगिक संतोष है। वस्तुतः यही कारण इस विकृति की व्याख्या करने के लिए सतोषप्रद प्रतीत होता है; क्योंकि इसके आधार पर किसी प्रकार का नग्न-दर्शन, वह समलैंगिक हो अथवा विषम लैंगिक, युक्तिसंगत हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो अन्य विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर नग्न-दर्शन (Scaptophilia) की व्याख्या करने की कोशिश की है उन्हें अपने प्रयत्न मे पूरी सफलता नहीं मिल सकी है ; क्योंकि उन आधारों पर हम सभी स्थलों पर इव व्यापार की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। किंतु, अन्तिम आधार वस्तुतः मान्य है और हम इसके द्वारा किसी प्रकार के नग्न-दर्शन-व्यापार की किसी भी स्थिति में संतोषप्रद व्याख्या कर सकते हैं। अतएव नग्न-दर्शन का यही कारण विशेष मान्य है।

अग-प्रदर्शन (Exhibitionism)

जब कोई व्यक्ति लैंगिक आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने जननेन्द्रिय (Genitalia) का प्रदर्शन दूसरे को कराता है तो इस प्रकार की विकृति को अगप्रदर्शन कहते हैं। यों तो पुरुष-जाति में ही यह दोष अधिकांश मात्रा में पाया जाता है; किंतु कुछ विद्वानों ने औरतों के सम्बन्ध में भी इसका उल्लेख

किया है। प्रायः पुरुष अपने शिश्न को लैंगिक आनन्द के लिए औरतों को दिखलाता है; किन्तु जब किसी स्त्री मे यह विकृति पायी जाती है तो वह अपने स्तन के अग्र भाग को पुरुषों को प्रदर्शित करती है। कभी-कभी ऐसा प्रदर्शन समजातिक और बालजातिक (Infanto) भी होता है। ऐसा प्रदर्शन लैंगिक सुख का देनेवाला होता है और व्यक्ति इस क्रिया से उसी प्रकार स्खलित होता है जिस प्रकार की सामान्य व्यक्ति संभोग करते समय आनन्द की चरम सीमा पर पहुँचने पर। कोई-कोई व्यक्ति प्रदर्शन के बाद हस्तमैथुन करते हुए भी पाये जाते हैं। यों तो अधिकांशतः ऐसा व्यापार व्यक्ति एक नश्चित स्थान और निश्चित समय पर ही करता है; किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी देखने में आते हैं जिनके अंग-प्रदर्शन का कोई निश्चित काल या स्थान नहीं होता। ऐसे लोग वस्तुतः अपने प्रदर्शन के आवेग को नियन्त्रित करने में पूर्णतः असमर्थ होते हैं और इसलिए रंगे हाथों पुलिस या अन्य व्यक्तियों द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यों तो, जैसा कि अभी ऊपर व्यक्त किया गया है, प्रदर्शन करनेवाला प्रायः अपने आवेग को रोकने में समर्थ या असमर्थ होता है; लेकिन उसका प्रयास बराबर यही रहता है कि वह अपने को अन्य लोगों की आँखों से बचा ले। मन्मथनाथ गुप्त ने अपने 'यौन-विज्ञान और वैवाहिक जीवन' मे एक ऐसे धनिक-पुत्र की चर्चा की है जो अपने शिश्न का प्रदर्शन विद्यालय जानेवाली लड़कियों को अपने घर के एक ऐसे स्थान से करता था जिसे साधारणतः देखना कठिन था। लेकिन, जब इसकी चर्चा अधिक फैल गयी तो वह ऐसा करते हुए पकड़ लिया गया। अरीफ तथा रोतमन (Arieff & Rotman) ने भी ऐसे ही सौ व्यक्तियों का अध्ययन करके उनके विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डाला है; लेकिन उनका विशेष वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

हम जब इस विकृति के कारणों पर विचार करते हैं तो इस सम्बन्ध में भी हमें विचारों की एकता नहीं मिलती है; क्योंकि विभिन्न विद्वानों ने इसकी व्याख्या विभिन्न आधारों पर करने का प्रयास किया है। जब हम फ्रायड तथा उसके अनुयायियों के कार्यों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि उनलोगों ने इस विकृति की व्याख्या पुंस्त्वहरण-चिंता की अस्वीकृति के आधार पर की है। उनका इस सम्बन्ध में यह कहना है कि अपने शिश्न को दिखलाकर व्यक्ति सबको यह जना देना चाहता है कि उसके पास भी शिश्न है। इसके अतिरिक्त वह इस प्रदर्शन के द्वारा स्वयं औरतों के गुप्तांग को देखना चाहता है और यह व्यक्त करने का इच्छुक रहता है कि तुम्हारे पास जैसा अंग नहीं है वैसा मेरे पास है।

अब अगर हम फ्रायडवादियों की व्याख्या पर विचार करें तो मालूम होगा कि इस विकृति की व्याख्या इस विचारधारा के आधार पर सतोषप्रद नहीं हो सकती। पुंस्त्वहरण-चिंता की प्रबलता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती है; इसलिए इस विकृति की व्यापकता भी औरतों में ही होनी चाहिए, किंतु ऐसा नहीं है। अतएव कुछ स्थलो पर इस विकृति की व्याख्या इस आधार पर भले ही हो जाय; किंतु सभी स्थलों पर तो इसकी व्याख्या कदापि नहीं हो सकती है। इतना ही क्यों, इस आधार पर तो सम-जातिक (Homosexual) तथा बाल-जातिक (Infanto-sexual) प्रदर्शन की भी तो व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए फ्रायड की विचारधारा इस सम्बन्ध में पूर्ण सतोषप्रद नहीं है।

बेकर (Baker) ने एक प्रकार की गोह (Newt) की लैंगिक संतुष्टि की क्रिया-विधि का उदाहरण देते हुए इसकी व्याख्या जैवांग के आधार (Biological basis) पर की है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि गुप्तांगों का दिखाना और देखना कुछ जीवों में उनकी लैगिक इच्छा की सतुष्टि का साधन होता है। इसलिए हम अंगप्रदर्शन की व्याख्या यही कहकर कर सकते हैं कि लैंगिक इच्छा की सतुष्टि के लिए ही जीव ऐसा व्यापार करता है और उसके ऐसा करने का एकमात्र आधार जैव (Biological) ही है। किंतु उसके इस कथन में भी वही दोष है जो ऊपर पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। ऐसा व्यापार सभी व्यक्तियों में नहीं पाया जाता, इसलिए उसका आधार भी सर्वांग सुन्दर नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार, अरीफ (Arieff) तथा रोतमन ने सौ ऐसे व्यक्तियों के आधार पर इसका एकमात्र कारण जातीय आधार (Phylogenic basis) व्यक्त किया है। किन्तु, उन्हें भी अपने प्रयत्न में पूरी सफलता नहीं मिल सकी है; क्योंकि उन्होंने ऐसे व्यक्तियों के मानस-जीवन का पूर्णतः तिरस्कार किया है।

नेविल (Naville) तथा डुबॉयसफेरी (Dubois-ferriere) ने अंगप्रदर्शन को नौ वर्गों में विभक्त करते हुए विभिन्न प्रकार के शारीरिक या मानसिक कारणों को व्यक्त किया है। लेकिन, विचार करने पर उनका यह विभाजन सतोषप्रद प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि जिन दोषों को उनलोगों ने अगप्रदर्शन का कारण माना है उनसे अन्य दोष न होकर यही दोष क्योंकर होता है, यह विचारणीय है। इस प्रश्न का उत्तर उनलोगों ने नहीं दिया है। इसलिए विशद् विभाजन करने पर भी उन्हें अपने इस प्रयास में पूरी सफलता नहीं मिल सकी है।

रीकिल्स (Rickels) ने इस विकृति का कारण बाध्यता (Compulsion) को व्यक्त किया है और उसे अपने प्रयत्न में कुछ अंशों में सफलता भी मिली है। इस कारण से समुत्पन्न विकृति से पीड़ित व्यक्ति निश्चित स्थान और समय पर ही अपने अंग का प्रदर्शन करता है। अतएव कुछ अंशों में उसके कथन में सत्यता अवश्य ही है; किन्तु सभी ऐसे व्यक्तिय को इस प्रकार में नहीं रखा जा सकता है।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों को ध्यान में रखते हुए इस स्थल पर यही व्यक्त करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि प्रदर्शन की प्रवृत्ति सभी व्यक्तियों में मौजूद रहती है; किन्तु सामान्यावस्था में उसको दमन कर दिया जाता है। जब कभी उस दमन में लैंगिक इच्छा की प्रबलता, शारीरिक व्याधि अथवा मनोवैज्ञानिक नियंत्रण की कमजोरी के कारण शिथिलता आ जाती है तब पुनः वह प्रवृत्ति जागरूक हो जाती है और व्यक्ति अंगप्रदर्शन-विकृति का शिकार हो जाता है। अतएव दमन की शिथिलता ही इस व्यापार का कारण है।

समजाति-लैंगिकता (Homosexuality)

जब कोई पुरुष लैंगिक संतृप्ति के लिए किसी अन्य पुरुष के मलद्वार (Anus) का व्यवहार करता है तब उसके इस प्रकार के लैंगिक व्यवहार को समजाति-लैंगिकता कहते हैं। यह लैगिकता औरतों में भी पायी जाती है। एक स्त्री अपने स्मरध्वज (Clitoris) को दूसरी स्त्री के स्मरध्वज से घिसती है और इस प्रकार अपनी लैगिक इच्छा को वह संतुष्ट करती है। यहाँ पर हम स्त्रियों की समजाति-लैंगिकता पर प्रकाश न डालकर पुरुषों की इस विकृति पर ही प्रकाश डालेंगे।

इस विकृति का विभाजन हम तीन वर्गों में कर सकते हैं—सक्रिय समजाति-लैंगिकता (Active Homosexuality), निष्क्रिय समजाति-लैगिकता तथा मिश्रित समजाति-लैंगिकता (Mixed Homosexuality)। जिस व्यक्ति में पहले प्रकार की विकृति पायी जाती है वह हमेशा पुरुष का कार्य सम्पादित करता है। इसीलिए वह अपनी लैगिक इच्छा की संतुष्टि दूसरे पुरुष के मलद्वार द्वारा करता है। दूसरे वर्ग मे वे लोग आते हैं जो अपनी लैंगिक इच्छा को स्त्री का कार्य सम्पादित करके संतुष्ट करते हैं। ऐसे लोग लैंगिक कार्यों मे अपने मलद्वार का इस्तेमाल स्त्रियो के गुप्तांग की तरह करते हैं। तीसरे वर्ग के लोग बारी-बारी से स्त्री और पुरुष दोनों का ही कार्य करते हैं और ऐसे लोगो की संख्या अधिक होती है।

यों तो इस विकृति को समाज घृणा की दृष्टि से देखता है और इसे अपराध, पाप आदि कई नामों से व्यक्त करता है; लेकिन विभिन्न राष्ट्रों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह दोष मनुष्यों में ही कौन कहे, बल्कि बन्दर प्रभृति अन्य जानवरों में भी बहुत प्राचीन काल से चला आता है। कई देशों में तो इसे सामाजिक मान्यता भी प्राप्त है; किंतु ऐसे राष्ट्रों की भी कमी नहीं है, जहाँ इसे बहुत बड़ा अपराध माना गया है और इस दोष के लिए विभिन्न दण्डों की व्यवस्था की गयी है। भारतवर्ष में भी समजाति लैंगिकता के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण है और इस विकृति से दोषी व्यक्ति के लिए कारागार अथवा कालेपानी के दण्ड की व्यवस्था की जाती है। यही कारण है कि आज भी इस विकृति से युक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए उन बड़े-बड़े प्राचीन दार्शनिकों, कवियों, वैज्ञानिकों एवं राजनीतिज्ञों का नाम लेते हैं जिनमे कि यह विकृति मौजूद थी। लेकिन आज के युग में यह कर्म कदापि श्रेयस्कर नहीं समझा जाता चाहे यह साधारण व्यक्ति मे हो अथवा असामान्य व्यक्ति मे हो।

जब हम इसके आविर्भाव के कारण पर विचार करते हैं तो इस सम्बन्ध में भी हमे विद्वानों में मतैक्य नहीं मिलता; क्योंकि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इसके आविर्भाव के विभिन्न कारणों को व्यक्त किया है। इसलिए, इसके पहले कि इसके कारण के सम्बन्ध में हम निष्कर्ष-रूप मे अपना निश्चयात्मक विचार व्यक्त करें, उन विभिन्न विद्वानों के विचारों का विवेचनात्मक उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस दिशा में जेनकिन्स (Jenkins) द्वारा किये गये प्रयोग की चर्चा कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। उसने चूहों पर प्रयोग किया। इस प्रयोग का एकमात्र ध्येय यही था कि चूहों को चूहियों से अलग रख देने पर चूहों में किस प्रकार का लैंगिक व्यापार होता है। जब जेनकिन्स ने चूहों को चूहियों से बहुत काल तक अलग रक्खा तो चूहों में समजाति-लैंगिकता के व्यवहार का आविर्भाव हुआ और सभी चूहे क्रमश: समलैंगिक हो गये। पुन: जब उन्हें विषम-लिंगियों के साथ रहने की स्वतंत्रता दे दी गयी तो कुछ चूहों ने तो विषमलिंगी आनन्द लेना प्रारंभ किया; किंतु जो अधिक दिनों तक समलिंगियों के साथ रह गये थे उन्होंने उनमें किसी प्रकार की अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की और समलैंगिक ही बने रहे। अपने इस प्रयोग के आधार पर जेनकिन्स का कहना है कि यही नियम मनुष्यों पर भी लागू होता है। इसलिए समजाति-लैंगिकता के कारण के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि जब किसी पुरुष का सम्बन्ध किसी स्त्री से बहुत दिनों के लिए विच्छेद हो जाता है तो वह स्त्री के अभाव में अपनी लैंगिक तृप्ति के

लिए समजाति-लैंगिकता का आश्रय लेता है। इस प्रकार विषमलिंगी का अभाव ही समजाति-लैंगिकता का कारण है। अब यदि हम जेनकिन्स के इस कारण पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसका यह दृष्टिकोण कई स्थलों पर सत्य प्रमाणित हो सकता है ; किंतु, सभी स्थलों के लिए यह कदापि मान्य नहीं हो सकता है। जेलों मे जहाँ पुरुष स्त्रियों से वर्षों के लिए अलग रहते हैं या सेनाओं में जहाँ स्त्रियों का पूर्णत: अभाव रहता है वहाँ के लिए तो जेनकिन्स की विचारधारा पूर्णत: मान्य है। लेकिन, उसके आधार पर हम इसकी व्याख्या कदापि करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं कि कोई पुरुष निष्क्रिय-समजाति-लैंगिक (Passive Homo-Sexual) क्यों होता है। स्त्री के अभाव में तो सक्रिय-समजाति-लैंगिकता ही स्वाभाविक या सभव है, तब इसके दूसरे पहलू का क्या कारण है ? इसी प्रकार यदि विषमलिंगी (Opposite Sex) का अभाव ही इसका कारण होता तो यह दोष विवाहित पुरुषों में क्यो पाया जाता। इसलिए जेनकिन्स का कथन आंशिक सत्य का ही प्रतिपादन करता है पूर्ण सत्य का नहीं ; अतएव यह समजाति-लैंगिकता का सर्वमान्य कारण कदापि नहीं कहा जा सकता है।

जेनकिन्स की ही तरह विलियम क्रेग (William Craig) ने भी, पक्षियों पर प्रयोग करके, इस विकृति के सम्बन्ध मे अपना विचार व्यक्त किया है। उसका कहना है कि यदि जीवन के प्रारंभ में ही (नर पक्षियों) को (मादा पक्षियो) के साथ रख दिया जाय और उसी परिस्थिति में वर्षों रहने दिया जाय तो लैगिक आनन्द के लिए नर भी मादा का आसन ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार क्रेग ने स्त्रियों के सहवास को ही समजाति-लैंगिकता का कारण माना है। उसके इस कथन में भी सत्यता की गंध है; क्योंकि हमलोगों का दैनिक अनुभव यह प्रमाणित करता है कि जिन पुरुषों को जीवन के प्रारंभ से स्त्रियो के समाज में रहना पड़ा है, वस्तुत: उनमें स्त्रैण शील-गुणों (Faminine traits) का आविर्भाव हो जाता है। ऐसे शील-गुणों का आविर्भाव अनुकरण के ही द्वारा क्रमश: होता। बहुत-से ऐसे वयस्क एव वृद्ध व्यक्ति मिलते हैं जो निष्क्रिय-समाजाति-लैगिकता के इतना अधिक उपासक होते हैं कि जब तक वे किसी अन्य पुरुष के साथ स्त्री का कार्य सम्पादित नहीं कर लेते तब तक उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिलती है। मन्मथनाथ गुप्त ने अपने 'यौन-विज्ञान एवं वैवाहिक जीवन' में एक ऐसे ही पुरुष की चर्चा की है जिसने एक किशोर बालक को अपने साथ समलैंगिक कार्य करने के लिए राजी किया था। लेखक को भी एक ऐसे व्यक्ति के विषय में मालूम है जो स्वयं विवाहित है और जिसे दो सन्तानें भी हैं और

जिसकी अवस्था पचास वर्ष से कम नहीं है तथापि वह निष्क्रिय समाजाति-लैंगिकता में अत्यधिक अभिरुचि रखता है। स्वभाव से भी वह कई अंशों में स्त्रियो से मिलता-जुलता है और आज भी वह स्त्रियों के झुण्ड में गंगास्नान के लिए जाने, स्त्रियोचित गीतों को गाने, साड़ी पहनकर बनावटी स्तनों को बनाकर नाचने में गौरव का अनुभव करता है। इतना ही नहीं बल्कि किसी बहू-बेटी की विदाई के समय वह स्त्रियोचित सारे प्रबन्धों को खुशी-खुशी अपने हाथों में ले लेता है। इसलिए क्रेग का कारण तो ऐसी परिस्थिति और ऐसे व्यक्तियों में ही लागू हो सकता है, सभी स्थलों पर तो नहीं। निष्क्रियता की व्याख्या इस आधार पर सरलता के साथ हो सकती है; किंतु सक्रिय-समजाति-लैंगिकता की व्याख्या तो इस आधार पर संभव नहीं है। अतएव हम इस कारण को भी सर्वमान्य नहीं कह सकते हैं।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने जन्मनिरोध तथा आर्थिक अवस्था को समजाति-लैंगिकता का कारण उद्घोषित किया है; लेकिन उनका कथन भी सर्वांग सुन्दर नहीं है। संभव है कुछ पुरुषों को अपने बाल-काल में आर्थिक संकट से बचने के लिए निष्क्रिय-समजाति-लैंगिकता का आश्रय लेना पड़ा हो और बाद में वह आदत बन गयी हो। लेकिन, इस आधार पर तो हम निष्क्रिय पहलू की ही व्याख्या कर सकते हैं सक्रिय को नहीं। इसके अतिरिक्त भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो जन्म से दरिद्रता मे पले रहते हैं तथापि उनमें यह दोष नहीं पाया जाता है। तब तो अवश्य ही आर्थिक परिस्थिति के अतिरिक्त कोई अन्य कारण इस दोष के मूल मे है अन्यथा सभी दरिद्र व्यक्ति इस दोष के शिकार होते। इसी प्रकार जन्मनिरोध को भी इसका कारण व्यक्त करना कदापि युक्तिसगत नहीं है और यदि इसे क्षणमात्र के लिए मान भी लिया जाय तो भी हम इस आधार पर समजाति-लैगिकता की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते। अतएव आर्थिक परिस्थिति और जन्म-निरोध को समजाति-लैंगिकता का कारण हम नहीं मान सकते।

समजाति-लैंगिक (Homo sexual) व्यक्तियों को हर्शफेल्ड (Hirshfield) एक तीसरे ही वर्ग में रखता है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि समजाति-लैगिक व्यक्ति, स्त्री और पुरुष दोनों से ही लिंग के दृष्टिकोण से भिन्न होते हैं। इस तृतीय वर्ग की उत्पत्ति वह गर्भ-काल से ही व्यक्त करता है। उसके अनुसार गर्भ धारण करने के आठ सप्ताह बाद तक भ्रूण अथवा गर्भस्थ शिशु (Fetus) का लिंग निर्धारित नहीं होता। इस बीच हजारों प्रकार के भौतिक प्रभावों से गर्भस्थ शिशु प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप उसमें पुरुषोचित अथवा स्त्रियोचित विभिन्न विशेषताओं

का आविर्भाव होता है। अगर उस भौतिक प्रभाव के कारण पुरुष गर्भस्थ शिशु का विकास अर्द्ध-विकसित रह गया तो उसमें स्त्रियों की विशेषताओं का आविर्भाव होता है और वह समजातिलैंगिक हो जाता है। अगर मादा गर्भस्थ शिशु में स्मरध्वज (Clitoris) अत्यधिक विकसित हो जाता है तो वह पुरुषोचित विशेषताओं से युक्त होता है। इस प्रकार हर्शफेल्ड ने समजातिलैंगिक व्यक्तियों को एक तीसरे वर्ग में रक्खा है, जिनका निर्धारण गर्भकाल में ही हो जाता है।

डा० स्टेनाश (Dr. Steinach) का प्रयोग इस बात का साक्षी है कि समजाति-लैंगिकता तथा जननेन्द्रिय ग्रंथि के अन्तस्थ कोषो के स्राव (Secretion) में अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसने नवजात नर-चूहों का पुंस्त्वहरण (Castration) करने के बाद उनके नितम्बास्थ देश (Inguinal region) मे स्त्रीलैंगिक ग्रंथि (Gonads) का आरोपण किया, जिसके फलस्वरूप उन चूहों में स्त्रियोचित विशेषताओं का आविर्भाव एवं विकास हुआ और वे समजाति लैंगिक हो गये। इसी प्रकार चूहियों में पुरुषोचित लैंगिक ग्रंथि का आरोपण करने पर उनमें पुरुषों की विशेषताओं का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार डा० स्टेनाश ने लैंगिक ग्रंथि के ही महत्त्व को समजाति-लैंगिकता में स्वीकार किया है। उसके इस कथन की पुष्टि प्रोफेसर ब्रैण्डीस (Brandes) ने भी हरिणों प्रर प्रयोग करके किया है। डा० स्टेनाश के सम्बन्ध में यह भी प्रख्यात है कि उसने कितने ही समजाति-लैंगिक व्यक्तियों की लैंगिक ग्रंथियों का आपरेशन करके उन्हें लैंगिक दृष्टिकोण से सामान्य व्यक्तियों मे परिणत कर दिया है; लेकिन वह स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्त नहीं करता। अतएव यह कथन निश्चयात्मक रूप से सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता है; लेकिन इतना तो निश्चय है कि उपर्युक्त कथन में दैहिक पहलू पर ही सर्वांशतः जोर दिया गया है और मानसिक पहलू पर कुछ भी विचार नहीं किया गया है। इस स्थल पर हमें यह नहीं भूलना होगा कि व्यक्तित्व-निर्माण में दैहिक एवं मानसिक दोनों पहलुओं का हाथ रहता है। अतएव उपर्युक्त कारण पूर्णतः मान्य नहीं कहा जा सकता।

फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने समजाति-लैंगिकता में व्यक्ति के मानसिक पहलू पर विशेष जोर दिया है। इस सम्बन्ध में फ्रायड का कहना है कि बचपन मे माता की प्रधानता या पिता की कमजोरी अथवा अनुपस्थिति के कारण जिस बच्चे का अपनी माता से अत्यधिक लगाव हो जाता है प्रौढ होने पर, वह माता का लगाव दमन के द्वारा अचेतन-मन में कर दिया जाता

है। बच्चा अचेतनतया कालक्रम में अपनी माता से एकीकरण (Identification) कर लेता है और अपनेको उसके स्थान पर पाता है। इसलिए वह स्वयं अपने आपको प्रेम करने लगता है और चाहता है कि दूसरे पुरुष भी उसे प्यार करें। उसकी यह अचेतन इच्छा उसे समजाति-लैंगिक व्यक्ति में परिणत कर देती है। अपनी माता के प्रति अत्यधिक उलझे रहने के कारण वह अन्य स्त्रियो से घृणा करने लगता है और उनके साथ संभोग करना भी नहीं चाहता। अतएव फ्रायड के अनुसार यही मनोरचना (Mental Mechanism) समजाति लैंगिकता को जन्म देती है। फरेंजी (Farenzi) ने भी सक्रिय और निष्क्रिय समजाति-लैंगिकता के अन्तरों को व्यक्त करते हुए सक्रिय या निष्क्रिय होने के कारणों को प्रदर्शित किया है; लेकिन बहुत-से समजाति-लैंगिक व्यक्ति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, मिश्रित प्रकार के होते हैं और इनके सम्बन्ध में उसे सफलता नहीं मिल सकी है। फ्रायड के ही दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए फेनिकेल (Fenichel) ने भी चार ऐसी परिस्थितियों को व्यक्त किया है; जो समजाति-लैंगिकता को निर्धारित करने में सहायक होती हैं। उनपर अधिक प्रकाश न डालकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसके अनुसार, माता के प्रति विरोध, माता के प्रति अत्यधिक प्रेम, पिता के प्रति विरोध या ऐसे पिता के प्रति प्रेम, जो स्वय विषमलिंगी कार्यों में पर्याप्त अभिरुचि नहीं रखता है, की परिस्थितियाँ बच्चे को समजाति-लैंगिक बना देती हैं। ये परिस्थितियाँ समजाति-लैंगिक किसी बच्चे को क्योंकर बनाती हैं, इसकी विशेष जानकारी के लिए पाठक किसी प्रामाणिक ग्रंथ का अध्ययन कर सकते हैं। हमने ऊपर जो संकेत किया है, वह इन परिस्थितियों को समझने के लिए पर्याप्त है।

डा० विलहेल्म स्टेकेल (Dr. Wilhelm Stekel) यद्यपि फ्रायड के अनुयायियों में से है; लेकिन उसका विचार समजाति-लैंगिकता के सम्बन्ध मे फ्रायड से भिन्न है। उसके अनुसार, जो व्यक्ति अपने बचपन में ही अपने लैंगिक विकास में पूर्णता का अनुभव करता है वह भय, घृणा आदि के भावों को विकसित कर अपनी विषमलिंगी संभोग-इच्छा का दमन कर देता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें सामान्य लैंगिकता की इच्छा न रहकर असाधारण लैंगिकता की इच्छा हो जाती है और वह समजाति-लैंगिक बन जाता है। इस प्रकार स्टेकेल ने इस विकृति को समजाति-लैंगिक मनोस्नायु-विकृति (Homosexual Neurosis) की सज्ञा दी है।

एडलर (Adler) ने स जाति - लैंगिकता को मध्य स्थिति

(Compromise) तथा सुरक्षा का साधन (Safety-device) माना है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि मनोस्नायु-विकृति (Psycho-neurosis) से पीड़ित बच्चों में बचपन में ही अपने पौरुष (Virility) की पूर्णता में सन्देह होता है। इसलिए ऐसे बच्चे अपने को स्त्रियों के समान ही भीरु, आज्ञाकारी, दरिद्र आदि समझने लगते हैं; क्योंकि उनके विचार से स्त्रियों में इसी प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में बालक चेतनतया तो माता-पिता तथा शिक्षक का तो आज्ञाकारी होता है; लेकिन वह अपनी पुरुषेच्छा की अभिव्यक्ति एवं परितृप्ति स्वप्नों द्वारा करता है। बालक की ये उभय (Dual) इच्छाएँ उसके भावी जीवन में उसे कई प्रकार से प्रभावित करती हैं। उसकी पुरुषोचित विशेषताएँ उसे पूर्णतः स्त्रीवाले कार्यों को नहीं करने देती हैं; किंतु उसकी स्त्रैण विशेषताएँ भी उसे पूर्णतः पुरुषोचित कार्यों के करने में बाधक होती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में वह मध्यस्थिति को अपनाने और आत्मरक्षा के लिए स्त्रियोचित व्यवहारों का प्रदर्शन पुरुषोचित साधनों द्वारा करता है और इस प्रकार वह समलैंगिक बन जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों की समजाति-लैंगिकता की व्याख्या भी उसने की है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन की कठिनाइयों के भय से स्त्री या पुरुष समजाति-लैंगिक हो जाते हैं; क्योंकि कुछ पुरुषों ने स्त्रियों को दुखों का साधन तथा झंझटों का मूल माना है। उसी प्रकार औरतों ने भी पुरुषों को झंझट ही माना है। इसलिए ऐसे विचार के स्त्री-पुरुष समजाति-लैंगिक बन जाते हैं; लेकिन एडलर की इस विचारधारा को हम सर्वमान्य नहीं कह सकते। यदि हम इस विकृति को सुरक्षा का साधन और मध्यस्थिति भी मान लें तो भी हम समजाति-लैंगिकता के सभी पहलुओं की व्याख्या नहीं कर सकते। इसलिए इस सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि एडलर का दृष्टिकोण भी आंशिक सत्य का ही प्रतिपादन करता है। अतः यह विचार सर्वमान्य नहीं है।

अब तक हम समजाति-लैंगिकता के विभिन्न कारणों का उल्लेख करते आये हैं और यह भी देख चुके हैं कि सभी उपयुक्त दृष्टिकोण आंशिक सत्यता का ही प्रतिपादन करते हैं। इसलिए इन सभी का समन्वय करने के लिए हम निष्कर्ष-स्वरूप कह सकते हैं कि यह एक मनोस्नायुविकृति व्यापार (Psychoneurotic phenomenon) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारा यह निष्कर्ष उपयुक्त किसी कारण का तिरस्कार नहीं करता; बल्कि सबका समन्वय करता है। इस प्रकार किसी भी कारण को दूसरे के माध्यम से समझा जा सकता है।

इस प्रसंग में हमें यह भी भूलना नहीं होगा कि यह विकृति विश्वविख्यात कुछ महान पुरुषों मे पायी गयी है। यदि हम बड़े-बड़े दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा साहित्यकारों के जीवन-चरित्र का अध्ययन करे तो इस कथन की सत्यता स्वत: प्रमाणित हो जायेगी। यही कारण है कि कुछ समलैंगिक अपने इस दोष को अत्यधिक गौरव के साथ स्वीकार करते हैं और जर्मनी में तो कुछ विद्वानों ने इसे विहित बनाने के लिए विफल प्रयास भी किया है। लेकिन, सच्ची बात तो यह है कि यह विकृति कदापि श्रेयस्कर नहीं है। किंतु, इसका अभिप्राय यह नहीं हैं कि ऐसे व्यक्ति को समाज घृणा की दृष्टि से देखे या कानूनी दण्ड मिले। दण्ड या घृणा इस दोष से किसी को निर्मुक्त करने में समर्थ नहीं हो सकती। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे व्यक्तियों के साथ समाज सहानुभूति का व्यवहार करे और मनोचिकित्सक तथा डाक्टर उसकी मानसिक और शारीरिक परीक्षा करे। यदि किसी प्रकार की मानसिक भावनाग्रंथि (complex) या शारीरिक दोष मिले तो उसके निराकरण का आयोजन करना आवश्यक है। माता, पिता तथा शिक्षक को बच्चों के लालन-पालन मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है। जिसका यह दोष मनोचिकित्सक या डाक्टर निराकरण करने मे समर्थ न हों उसे ऐसे स्थान में रखना श्रेयस्कर है, जहाँ वह अपने विचारो और व्यवहार से अन्य व्यक्तियो को प्रभावित न कर सके।

विषमलिंगी वस्त्रधारण-प्रियता (Transvestism)

जब लैंगिक सन्तुष्टि के लिए पुरुष स्त्री के या औरत मर्द के कपड़ों को पहनती है तो इस दोष को विषमलिंगी वस्त्रधारण-प्रियता (Transvestism) कहते हैं। यह दोष स्त्री और पुरुष दोनों ही में पाया जाता है। यों तो इस विकृति का वैज्ञानिक अध्ययन १६१० ई० के पहले किसी विद्वान् ने नहीं किया था; किंतु इतिहास इसका साक्षी है कि यह दोष दोनों लिंगों में बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। यहाँ इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि किसी स्त्री या पुरुष में यह विकृति है कि नहीं, इसको निश्चित करने के लिए उस स्थान-विशेष के रहन-सहन तथा वेश-भूषा की समुचित जानकारी प्राप्त करनी अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त हमें यह नहीं भूलना होगा कि यद्यपि इस विकृति से पीड़ित स्त्री-पुरुष दोनों ही होते हैं; किन्तु कानून के फन्दे मे पुरुषों को ही फँसना पड़ता है। सामान्यत: स्त्रियाँ जब पुरुष का वेश धारण करती हुई पायी जाती हैं तो जब तक वे किसी अपराध की अपराधिनी नहीं रहती हैं तब तक अक्सर

उनपर किसी प्रकार की वैधानिक कार्रवाई नहीं की जाती है; लेकिन ऐसी सूचनाएँ भी कभी-कभी मिलती हैं कि अमुक स्त्री पुरुष के वेश मे अमुक महिला से व्याह करने के प्रयास या ठगने के अपराध में दण्डित हुई है।

इस विकृति के कारणो पर विचार करने से मालूम होगा कि इस सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अपनी अलग-अलग रायें व्यक्त की हैं; किंतु जो लोग इसका गंभीर अध्ययन नहीं कर सके हैं उनका कहना है कि यह दोष माता-पिता के पालन-पोषण के प्रकार पर निर्भर करता है। बहुत-से परिवारों में ऐसा देखने में आता है कि जब कोई लड़का उत्पन्न होता है और उस परिवार में लड़की की प्रतीक्षा रहती है तो माता-पिता अपनी इस इच्छा को सतुष्ट करने के लिए उस बच्चे को लड़की का ही कपड़ा वगैरह पहनाते, लम्बे-लम्बे बाल रखते या उसी स्वरूप का नामकरण भी कर देते हैं। वे दूसरों से भी कहते कि हमें तो लड़की का सुख भी इसी से लेना है। इस तरह वह लड़का लड़की का ही वस्त्र आदि पहनने का आदी हो जाता है और आगे चलकर सयाने होने पर उसका औरतों की पोशाक पहनने का व्यवहार लैंगिक विकृति के नाम से व्यक्त होता है। इसी प्रकार जिस लड़की के माता-पिता या अन्य संरक्षक किसी लड़के के अभाव में उसी को लड़के का वस्त्र पहनाने लगते हैं और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं तो वह लड़की सयानी होने पर भी पुरुषों का ही कपड़ा पहनती है। इस तरह हम देखते हैं कि कुछ विद्वानों ने इस विकृति मे माता-पिता जिस शैली से अपने बच्चों का लालन-पालन करते हैं उसी शैली को प्रधान कारण माना है। इसीको दूसरे शब्दों में विद्वानो ने आदत या सम्बद्धता (Conditioning) भी बतायी है। यदि हम इसपर विचार करें तो मालूम होगा कि यह विचार-धारा कई स्थलों पर सत्य प्रमाणित होती है; किंतु सभी स्थलो के लिए मान्य नहीं है।

पीटो (Peltow) ने इस विकृति की व्याख्या बाध्यता (Compulsion) के आधार पर करने की कोशिश की है; लेकिन जो अध्ययन इस दिशा में हुए हैं वे उसके इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं करते। फेसलर (Fessler) ने अन्तःस्रावी ग्रंथि (Endocrine glands) की विकृत कार्यवाही को इसका कारण बताया है और उसके अनुसार यह दोष जीवन के अन्तिम चरण में ही देखने में आता है; किंतु विचार करने पर उसकी व्याख्या भी कसौटी पर खरी नहीं उतरी है। क्लीफोर्ड एलन (Clifford Allen) ने इस विकृति के मूल में प्रदर्शन एवं वस्तु-पूजा-वृत्तियों (Exhibitionistic and Fetishistic tendencies)

के महत्त्व को व्यक्त किया है और विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से उसके कथन की सत्यता भी प्रमाणित होती है ; लेकिन इन बातों पर यहाँ अधिक विचार न करके यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि हर्शफेल्ड (Hirschfeld) ने इस विकृति के चार प्रकारों यथा, विषमलिंगी (Hetero-sexual), समलिंगी (Homo-sexual), आत्म-प्रेमिक (Narcissistic) तथा अ-लैंगिक (Asexual) को व्यक्त किया है। अन्य विद्वानों ने एक पाचवाँ प्रकार भी स्वीकार किया है, जिसे हम उभयलिंगी (Bisexual) की संज्ञा दे सकते हैं। यहाँ इन्हीं पाँच प्रकारों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालकर इस विकृति के सम्बन्ध मे हम अपना निष्कर्ष उपस्थित करेंगे।

विषमलिंगी स्वरूप की विकृति के सम्बन्ध में हर्शफेल्ड प्रभृति विद्वानों का कहना है कि ऐसे व्यक्ति मे स्त्री का वस्त्र धारण करना लैंगिक आनन्द का देनेवाला है। एक सैनिक उच्चपदस्थ इस विकृति का शिकार था ; लेकिन उसमें मानवोचित सभी गुण विद्यमान थे। जब वह अपनी स्त्री के साथ संभोग करता था तो उसे स्त्री-वस्त्र अधिक उत्तेजित करता था। हाँ, कभी-कभी वह ऐसे वस्त्रों को पहनकर घूमने-फिरने भी निकलता था। उसमें समजाति-लैंगिकता का दोष तो नहीं पाया गया ; किंतु अन्य प्रकार की असामान्यताएँ अवश्य मौजूद थीं ; किंतु ऐसा दोष बहुत ही कम स्त्री या पुरुषों मे मिलता है।

समजाति-विषम-लिंगी-वस्त्र-धारण-प्रिय जो व्यक्ति होता है वह अन्य पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए औरतों की पोशाक पहनता है। इसके फलस्वरूप जो उस स्वभाव के रहते हैं उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे लोग स्त्रियो से तो घृणा करते हैं; किंतु उनके वस्त्रों को धारण करने में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करते हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार ऐसे व्यक्ति अचेतनतया अपनी माता के गुणों को अपनाने के लिए और अन्य पुरुषों से समलैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्त्रियों का वस्त्र पहनते हैं। इसकी मात्रा अत्यधिक से लेकर अत्यल्प तक हो सकती, जो वातावरण पर निर्भर करती है। स्टेकेल ने इसपर काफी प्रकाश डाला है।

उभयलिंगी स्वरूप के व्यक्ति भी इस विकृति के शिकार होते हैं। उनमे दोनों लिंगो की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं; किन्तु इस स्वरूप और समलैंगिक स्वरूप की विषमलिंगी वस्त्रप्रियता में कुछ भिन्नता होती है।

आत्मलिंगी प्रवृत्ति (Narcissistic) को भी इस विकृति का कारण और प्रकार माना गया है ; लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि गंभीर

अध्ययन करने पर इसमें भी समजाति-लैंगिकता के बीज-तत्त्व प्राप्त होते हैं। इसलिए इसके सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि आत्मप्रेमिक प्रवृत्ति इस क्षेत्र में सहायक मात्र हो सकती है, प्रधान कारण नहीं।

अलिंगी विकृति का जहाँ तक प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि हर्शफेल्ड ने कुछ लोगों के सम्बन्ध में यह व्यक्त किया है कि ऐसे लोगों में किसी लिंग-विशेष की ओर आकर्षण नहीं होता, इसलिए यों ही बिना किसी भेद भाव के विषमलिंगी का कपड़ा पहन लेते हैं। लेकिन उसका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है ; क्योंकि जितने भी अन्वेषण हुए हैं उनसे स्पष्ट है कि ऐसा करने से व्यक्ति उत्तेजित होता है। ऐसी परिस्थिति में उसका यह प्रकार या कारण संभवतः किसी पुरुष या स्त्री-विशेष के ही सम्बन्ध मे लागू हो सकता है।

अब विभिन्न प्रकारों और कारणों का उल्लेख कर देने के बाद निष्कर्ष-रूप में यही कह सकते हैं कि विचार करने पर, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इसके मूल में वस्तुपूजा और प्रदर्शन (Fetishism and Exhibitionism) की वृत्तियाँ छिपी रहती हैं और जिन अवसरों पर हमें यह देखने को मिलता है कि कोई वयस्क स्त्री या पुरुष विषमलिंगी व्यक्ति का वस्त्र धारण करता है तो वहाँ प्रत्यावर्तन (Regression) की मनोरचना (Mental mechanism) मूल में छिपी रहती है। ऐसा व्यक्ति अपने बाल-जीवन के सुखद अनुभवों को दुहराना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विकृति में कई कारण काम करते हैं और अधिकांश स्थलों पर ऐसे व्यक्तियों में अन्य असामान्यताएँ भी पायी जाती हैं। स्त्रियों मे यह दोष तो उतना अवांछनीय वैधानिक दृष्टिकोण से नहीं है ; किन्तु पुरुषों में यह विकृति उनके दण्ड का कारण होती है।

बाल-लैंगिकता (Infanto Sexuality)

लैंगिक ध्येय को प्राप्त करने के लिए जब कोई व्यक्ति किसी अपरिपक्व (Immatured) लड़के या लड़की को अपना प्रेमपात्र बनाता है तो उसकी इस प्रकार की लैंगिकता को बाल-लैंगिकता (Infanto sexuality) कहते हैं। जैसा कि पद-मात्र से ही स्पष्ट है, इस विकृति में पुरुष अर्द्धविकसित बालकों के साथ समलैंगिक मैथुन करता है या अपरिपक्व बालिकाओं के साथ विषमलैंगिक मैथुन करता है। उसकी विकृति इसी में सन्निहित है कि वह प्रौढ़ स्त्री या पुरुष को अपना लैंगिक पात्र न बनाकर अविकसित बच्चों को अपना शिकार बनाता है। इस कारण ऐसे बच्चों का सम्यक व्यक्तित्व विकास

आगे नहीं होता है और न तो उनका सामाजिक अभियोजन ही उचित रूप से होता है। पकड़ाने पर ऐसे व्यक्ति को कड़ी-से-कड़ी सजा भी दी जाती है।

अब प्रश्न है कि कोई व्यक्ति प्रौढ़ पुरुष या नारी के साथ मैथुन न कर अपरिपक्व नारी या पुरुष के साथ मैथुन क्यों करता है या करना चाहता है? यदि इस प्रश्न के उत्तर पर गंभीरतया विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इसका उत्तर विद्वानों ने कई प्रकार से दिया है। अतएव इसके पहले कि अपना कोई निश्चयात्मक निष्कर्ष दिया जाय पाठकों की जानकारी के लिए उन विभिन्न विचारों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे जिज्ञासु पाठकों को किसी निश्चयात्मक निर्णय पर पहुँचने के लिए काफी सामग्री मिलेगी।

जहाँ तक फ्रायड के मत का सम्बन्ध है उसके विषय में इस स्थल पर इतना व्यक्त कर देना पर्याप्त है कि उसने इस विकृति के मूल में वाह्य या आन्तरिक निग्रह (Inhibition) को ही प्रधान माना है। उसका कहना है कि जब बच्चा प्रारंभ में यह समझता है कि उसकी माता लैंगिक दृष्टिकोण से अगम्य है तो सयाने होने पर उसमे सामान्य लैंगिकता का विकास नहीं होता है। इसी प्रकार जिन बच्चों का लालन-पालन ऐसे वातावरण में होता है, जहाँ कि लैंगिक कार्य को गन्दा या बुरा माना जाता है तो ऐसे वातावरण में लड़के छिपकर लैंगिक कार्यों को करते हैं और वे इससे सम्बद्ध (Conditioned) हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें बाल-लैंगिकता की विकृति देखी जाती है।

इसके अतिरिक्त इस विकृति में संवेग-स्थानान्तरण और एकीकरण (Transference of Emotion and Identification) का भी हाथ रहता है। जब किसी व्यक्ति का ऐसा संवेग-स्थानान्तरण माता से किसी बालिका पर होता है तो उसमें परपीड़न-प्रीति (Sadism) के बीज तत्त्व (Elements) भी मौजूद रहते हैं और वह अपरिपक्व बालिका के साथ मैथुन करता है; किंतु जब यह मैथुन बालक के साथ होता है तो उसमें एकीकरण (Identification) की मनोरचना (Mental Mechanism) काम करती है। ऐसे व्यक्ति को अपने पिता से या अन्य संरक्षक से स्नेह नहीं मिला रहता है; बल्कि कटुता मिली रहती है। इसलिए वह अपरिपक्व बालकों के साथ एकीकरण करके उन्हे वही स्नेह देता है जो उसे नहीं मिल सका था और इस प्रकार अपने आपको सतुष्ट करता है। विलफोर्ड एलेन इस मनोरचना को इस विकृति में बहुत ही प्रधान मानता है।

इसकी व्याख्या मनोविश्लेषकों ने आत्मप्रीति तथा पितृ-प्रेम के आधार पर भी की है। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि किसी परिपक्व स्त्री का संकेत वयस्क से रहता है, जिसका अर्थ या निर्देशन माता की ओर ही रहता है। इसलिए जब पितृ-प्रेम का पृथक्‌करण नहीं हुआ रहता है तो ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति वयस्क स्त्री के साथ मैथुन न कर अर्द्धविकसित बालिका के साथ करता है। यह लैंगिकता जब बालक के साथ की जाती है तो उसमें आत्मप्रेम का बीज-तत्त्व निहित रहता है। ऐसा व्यक्ति ऐसे बच्चे के साथ एकीकरण करता है, जिसके समान की वह स्वय सुन्दर होना चाहता है। इसलिए वह अपरिपक्व बालक के साथ मैथुन का अभ्यासी हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अपरिपक्व बालक और बालिकाओं के साथ ऐसा मैथुनिक कार्य सराहनीय नहीं यद्यपि कुछ अन्वेषकों ने इस व्यवहार की उपेक्षा की है। उनका ऐसा विचार है कि यह विकृति विशेष घातक नहीं है; लेकिन लेखक के दृष्टिकोण से इसे साधारण मानना कदापि उचित नहीं है। इसलिए इस दोष से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि जब संरक्षक किसी बच्चे मे किसी प्रकार की लैंगिकता की गंध पावें तो उसे दबा न दें; बल्कि उसे ऐसे वातावरण में रक्खें ताकि उसकी लैंगिकता दूसरी स्वस्थ दिशा में प्रवाहित हो और आगे चलकर वह इस विकृति का शिकार न हो सके।

पशुलैंगिकता (Bestio sexuality)

किसी जानवर को लैंगिक सुख के लिए प्रेमपात्र बनाना ही पशुलैंगिकता है। धार्मिक ग्रंथो में भी कहीं-कहीं इस प्रकार की पशुलैंगिकता का अप्रत्यक्षत: उल्लेख मिलता है। चीन के सम्बन्ध में भी ऐसी बाते प्रचलित हैं, जिससे वहाँ की राष्ट्रीय पशुलैंगिकता पर प्रकाश पड़ता है। हब्शी-जाति के बारे में ऐसी मनगढ़न्त कहानियाँ कही जाती हैं कि इस जाति की उत्पत्ति बन्दर और स्त्री के ही सयोग से हुई है। परियों की कहानियों मे इस प्रकार की विकृति के बीज-तत्त्व की चर्चा है। आज के युग में भी एक जाति-विशेष की स्त्रियों के बारे में कहा जाता है कि उनकी सतुष्टि पुरुषों से नहीं होती, इसलिए वे कुत्ते या घोड़ों को अपनी सतुष्टि के लिए पालती हैं। इसमें सर्वांश सत्यता है या आंशिक; लेकिन वे स्त्रियाँ प्राय: जानवरों को पालती हैं, यह निर्विवाद सत्य है। चम्पारण जिलान्तर्गत एक गाँव के बारे में ऐसी ही पशुलैंगिकता की कहानी प्रसिद्ध है और बड़े बूढों का कहना है कि उस पशु-जाति-विशेष के नाम पर ही उस गाँव का नामकरण हुआ है। लेखक को ऐसी कोई घटना देखने का सौभाग्य तो नहीं हुआ है; किंतु सुनने और पढ़ने का अवसर तो

अवश्य ही मिला है। श्री मनमथनाथ गुप्त ने भी अपनी पुस्तक में एक ऐसे नवयुवक मुसलमान का उल्लेख किया है जो इस प्रकार के अपराध में दिनदहाड़े पकड़ा गया और जिसपर कानूनी कार्रवाई भी की गयी। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस विकृति के शिकार बहुत ही कम लोग होते हैं या ऐसे लोग प्रकाश में बहुत ही कम आते हैं; किंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पशुलैंगिकता का सर्वथा अभाव नहीं है। एक मनोविज्ञान के विद्यार्थी ने भी लेखक को एक ऐसी घटना सुनायी, जिसमें एक युवक जो विवाहित और कई संतानोंवाला था एक कुत्ती के साथ ऐसा करते हुए पकड़ा गया। उसके पकड़ाने का एक मात्र कारण यही था कि वह अपने शिश्न को कुत्ती के गुप्तांग में प्रवेश तो कर सका; किंतु बाहर नहीं निकाल सका। अन्त मे वह वेहोश होकर गिर पड़ा और कुत्ती भी भागने के लिए चिल्लाने लगी। कई घण्टों बाद जब डाक्टर आया तो वह किसी तरह उन्हें एक दूसरे से अलग करने में समर्थ हो सका।

इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि कोई स्त्री या पुरुष सभी पशुओं के साथ लैंगिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है, किंतु गाय, वैल, घोड़ा, घोड़ी, कुत्ता, कुत्ती, गदही, मुर्गी आदि के साथ ऐसा हो सकता है। उपर्युक्त जानवर उतने खतरनाक नहीं होते कि कोई उन तक पहुँच ही न सके, इसीलिए अधिकांश इन्हीं जानवरों को लोग अपना लैंगिक पात्र बनाते हैं। दूसरी बात इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि पशु-लैंगिकता में कोई व्यक्ति मल-द्वार या गुप्तांग के अतिरिक्त कान, नाक या अन्य गहरे अगों का भी व्यवहार करता है। इसलिए यह विकृति किसी अग से भी आबद्ध हो सकती है। श्रीगुप्त ने एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा की है जो वैल की नाक में मैथुन करते हुए पाया गया था।

अब जहाँ तक इस विकृति के कारणों का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि कुछ अंशों में वही कारण यहाँ भी काम करते हैं जो बाल-लैंगिकता के मूल में पाये जाते हैं। निषेध (Prohibition), आन्तरिक या वाह्य, इस विकृति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जब किसी व्यक्ति को आन्तरिक भय या अरुचि के कारण सामान्य लैंगिकता में अभि-रुचि नहीं होती तो वह पशु-लैंगिकता का आश्रय लेता है। इसी तरह वाह्य कुरूपता या अन्य शारीरिक या मानसिक दोष वाह्य निषेध का कार्य करता है और व्यक्ति इस अवस्था में भी इस विकृति का शिकार होता है।

अवसर का भी कम हाथ इस विकृति मे नहीं रहता। जब ग्रामीण

चरवाहे चौपायों के साथ गाँव से बहुत ही दूर जगलों में अधिकांश समय व्यतीत करते हैं तो वे स्वत: उत्तेजित होकर पशु-लैंगिकता का आश्रय लेते हैं। वस्तुत: जिनका सम्पर्क चौपायों से अधिक रहता है उन्हीं ग्रामीणों में यह दोष अधिकांशत: पाया जाता है।

प्रारंभ में बच्चे अपने और पशुओं में किसी प्रकार का अन्तर समझने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए वे उन्हें अधिक प्यार भी करते हैं। पशु और मनुष्य मे अन्तर समझने की योग्यता तो उनमें बाद में शिक्षण और परिपक्वता (Maturation) के कारण आती है। अगर उनका स्नेह किसी जानवर के प्रति स्थिर बना रह गया तो ऐसे बच्चे सयाने होने पर पशु-लैंगिकता के शिकार हो जाते हैं। अतएव इसमें निवेशन या स्थिरीकरण (fixation) और अपरिपक्वता का हाथ भी रहता है।

किसी-किसी व्यक्ति में यह दोष उस देश के रीति-रिवाज के कारण भी देखा जाता है। जहाँ सामान्य लैंगिकता वर्जित है और जहाँ इसे घृणित समझा जाता है वहाँ के व्यक्ति विवश होकर छिपकर पशु-लैंगिकता का आश्रय लेते हैं, जैसा कि चीन के सम्बन्ध में कहा जाता है।

स्त्रियों में जब यह दोष पाया जाता है तो इसका यही मतलब है कि वे अपनी किसी कमी के कारण पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए अपनी संतुष्टि के लिए उन्हें पशुओं का आश्रय लेना पड़ता है। यदि उन्हें पुरुष सतुष्ट कर सकता तो उन्हें जानवरों का आश्रय लेना नहीं पड़ता।

इसके अतिरिक्त भी पितृप्रेम-परिस्थिति (oedipus situation) से निर्मुक्त होने के लिए व्यक्ति किसी पशु के साथ लैंगिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और वह इस दोष को करने का अभ्यासी हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विकृति में विभिन्न कारणों का हाथ रहता है ; लेकिन इस सम्बन्ध में लेखक का यह कहना है कि इसका जो कारण भी माना जाय; लेकिन ऐसा करना करनेवाले के विकृत मन का ही परिचायक है। कोई भी सामान्य व्यक्ति इस लैंगिकता की कल्पना भी नहीं कर सकता, करने की तो बात ही दूर है। इसलिए जिस किसी में भी यह विकृति मिले उसकी शारीरिक और मानसिक परीक्षा की जाय और कारण को जानकर उसे निर्मूल कर दिया जाय ताकि कोई भी व्यक्ति इस जघन्य कार्य का अपराधी न हो सके।

हस्तमैथुन (Masturbation)

जब कोई पुरुष या स्त्री-लैंगिक सुख की प्राप्ति के लिए अपने शिश्न (Penis) या गुप्तांग (Vagina) का व्यवहार करता है तो इसे हस्तमैथुन कहते हैं। कभी-कभी इसे आत्मलैंगिकता (Autosexuality) भी कहते हैं; क्योंकि व्यक्ति अपनी लैंगिक इच्छा की तृप्ति अपने ही लैंगिक अंग (sexual organ) से करता है। यों तो सामान्य मनोलैंगिक विकास की यह एक विशेषता ही है; किन्तु जब मनुष्य प्रौढ होने पर भी ऐसा करता है तो इसकी परिगणना लैंगिक विकृति के अन्तर्गत होती है।

अब प्रश्न यह है कि कोई हस्तमैथुन क्यों करता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसके कारण के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। इसपर गभीरतया विचार करने पर मालूम होगा कि इस दोष का आविर्भाव प्रौढ़ लोगों मे कई कारणों से होता है। अगर मूत्रेन्द्रिय के अगल-बगल व्यक्ति को खाज या दिनाय जैसे चर्मरोग हो जाते हैं और खुजलाने पर व्यक्ति उसे शान्त करने लगता है तो उसी बीच उसका अंग-विशेष उत्तेजित हो जाता है और वह उस सुखद संवेदना की मोह में हस्तमैथुन करने लगता है। अगर वह चर्मरोग बहुत दिनो तक बना रहे और व्यक्ति अवसर मिलने पर यह क्रिया करता रहे तो उसे इसकी आदत पड़ जाती है और वह इस विकृति का शिकार हो जाता है।

कभी-कभी धोती या पाजामे आदि के स्पर्श से भी शिश्न उत्तेजित हो जाता है और उस क्षणिक उत्तेजना के वशीभूत होकर मनुष्य को हस्तमैथुन करना पड़ता है। इस कथन की सत्यता को कितने ही हस्तमैथुनकारी अपने अनुभव के आधार पर प्रमाणित करते हैं।

मनुष्य जब एकान्त में विभिन्न मानसिक तनावो (Tensions) और संघर्षों का अनुभव करता है तो उस समय अपने मानसिक तनाव से छुटकारा पाने के लिए भी वह हस्तमैथुन का आश्रय लेता है। उसे ऐसा करने से थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो, मानसिक शान्ति मिलती है।

जब व्यक्ति का वैवाहिक जीवन लैगिक दृष्टिकोण से संतोषप्रद नहीं होता और उसे विषमलैंगिकता आदि का अवसर नहीं मिलता तो वह विवश होकर आत्मलैगिकता का आश्रय लेता है। ऐसा करने में उसे किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती है और वह स्वयं जब चाहता है तब अपनी इच्छा को संतुष्ट कर लेता है। इसलिए जब विवाहित स्त्री-पुरुषों मे यह व्यापार मिले तो समझना चाहिये कि उनका वैवाहिक जीवन संतोषप्रद नहीं है।

लैंगिक इच्छा की सामान्य तृप्ति के लिए विषमलिंगी साथी का होना आवश्यक है; लेकिन विवाह न होने के कारण या विषमलिंगी के अभाव में यदि इस इच्छा की संतृप्ति नहीं होती तो भी मनुष्य को हस्तमैथुन का ही आश्रय लेना पड़ता है। यह व्यापार अधिकांश स्त्री-पुरुषों मे मिलने का यही एकमात्र कारण है कि कोई भी व्यक्ति इसे आसानी से अवसर मिलने पर कर लेता है।

गर्मी, सूज़ाक आदि ऐसी भयावह व्याधियों से निर्मुक्त रहने के भाव से प्रेरित होकर भी मनुष्य कभी-कभी इस प्रकार की लैंगिकता का प्रदर्शन करता है। उसका ऐसा भ्रामक विचार होता है कि विषमलिंगियों का शारीरिक सम्बन्ध ही गर्मी-सूजाक का कारण होता है। इसलिए इन रोगों से दूर रहने के लिए वह आत्मलैंगिकता का उपासक बन जाता है।

इन उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने इसकी व्याख्या आत्मप्रीति (Narcissism) के आधार पर की है। इस सम्बन्ध मे उनका यह कहना है कि जिस मनुष्य में किसी कारण भी क्यों न हो, यदि आत्मप्रीति की प्रधानता रहती है तो वह दूसरे को प्रेम नहीं करता। इसलिए अपनी लैगिक वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए वह दूसरे की आवश्यकता का अनुभव भी नहीं करता और वह स्वय हस्तमैथुन का अभ्यासी हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हस्तमैथुन प्रौढ़ व्यक्तियों में विभिन्न कारणों से पाया जाता है; लेकिन अब प्रश्न यह है कि क्या इससे किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक हानि भी होती है? इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करने पर मालूम होगा कि इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। जो लोग पहली विचारधारा के पृष्ठपोषक हैं उनका कहना है कि यह आदत शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टिकोण से घातक और हानिप्रद है। ऐसा करने-वाले व्यक्ति का शारीरिक स्वास्थ्य चौपट हो जाता है और उसका चेहरा भी भयावह और बीभत्स हो जाता। मुखमण्डल पर किसी प्रकार की स्वाभाविक कान्ति नहीं रह जाती है। उसकी बौद्धिक योग्यता भी भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए उसकी स्मृतिशक्ति का ह्रास हो जाता है।

दूसरे पक्ष का इस सम्बन्ध में कहना है कि वस्तुतः यह आदत स्वयं हानिकर नहीं होती है; लेकिन इसके प्रति हमारी जो मनोवृत्ति रहती है उसी के चलते इससे हानि होती है। हमलोगों का कुछ संस्कार ही ऐसा होता

है कि हम इसे एक गन्दी और हानिप्रद आदत समझते हैं। इसलिए जब कभी ऐसा करते हैं तो करने के बाद हम शारीरिक एवं मानसिक कमजोरी का अनुभव भी करते हैं। इसी विचार के चलते कभी-कभी भयानक रोगों का भी शिकार होना पड़ता है और अन्त में मनुष्य को मृत्यु की गोद में जाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता है।

हस्तमैथुन के प्रति उपर्युक्त दोनों ही विचारधाराएँ आन्तिक (extremes) हैं। वस्तुतः निष्पक्ष भाव से देखने पर मालूम होगा कि यह एक गन्दी और अनुचित आदत है; किन्तु कभी-कभी व्यक्ति-विशेष के लिए उपकारी भी प्रमाणित होती है। जब मानसिक तनाव की प्रबलता रहती है या जब मनुष्य में लैंगिक इच्छा प्रधान रहती है और उसकी संतुष्टि का कोई साधन नहीं रहता है तो उस समय इससे बढ़कर आसान साधन और कोई नहीं मिलता है।

इसलिए ऐसी परिस्थिति मे आवश्यकता पड़ने पर यदा-कदा इसका आश्रय लेना न तो हानिकर ही है और न निन्द्य ही; किंतु अनावश्यक इसका अभ्यासी बनना तो कभी श्रेयस्कर नहीं है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने स्नायु-पुष्टि का इसे साधन भी माना है। जो कुछ भी हो, लेकिन इसके घातक परिणाम से बचने के लिए मनुष्य की मनोवृत्ति का परिवर्तन आवश्यक है और जिसमे इस दोष की प्रधानता और प्राबीनता हो उसे इससे बचने के लिए शारीरिक एवं मानसिक परीक्षाओं को कराकर कारण को निर्मूल कर देना ही श्रेयस्कर है।

शवलैंगिता (Necrophilia)

अभी तक जितनी लैंगिक विकृतियों का हमने उल्लेख किया है उन सबसे यह विकृति विचित्र है; क्योंकि इसमें व्यक्ति मरे हुए जीव के साथ लैंगिक मैथुन करता है। यद्यपि इस प्रकार की घटना बहुत ही कम देखने या सुनने को मिलती है और मनोचिकित्सकों के यहाँ भी ऐसे व्यक्ति चिकित्सा के लिए नहीं के बराबर ही आते हैं; लेकिन विभिन्न राष्ट्रों के प्राचीन सविधानों का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि यह लैंगिक असामान्यता बहुत प्राचीन काल से वर्तमान है। कुछ राष्ट्रों के सविधानों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि यदि किसी अमीर या राजघराने की सुन्दरी की मृत्यु हो जाय तो उसकी शव की रक्षा तीन-चार दिनो तक पुलिस-कर्मचारी या अन्य सरकारी कर्मचारी करें ताकि उसके सौन्दर्य का दुरुपयोग कोई न करे। इस

विधान के सारांश से यह स्पष्ट है कि शव-लैंगिकता उस समय भी मौजूद थी, जब कि विश्व आज के युग से बहुत ही पीछे था। लेखक के गाँव में भी एक नाई अवघड़ हो गया था और वह कभी-कभी अपने पूर्व परिचित लोगों से ऐसी शव-लैंगिकता की चर्चा अपने सम्बन्ध में किया करता था; किंतु लेखक स्वयं इसको निश्चयात्मक रूप से कहने में असमर्थ है कि उसके कथन में कितनी सत्यता थी। लंदन मे ऐसे एक व्यक्ति का रहस्योद्घाटन हुआ था जो इस विकृति का शिकार था। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि यह लैंगिकता बहुत ही कम पाई जाती है; किंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इसका सर्वथा अभाव है।

जब इसके कारणों पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि यह वस्तुपूजा (Fetishism) के कारण भी होती है। जैसा कि वस्तु-पूजा के सम्बन्ध में हम स्थल विशेष पर सकेत कर चुके हैं, यह व्यक्ति-विशेष की स्थानापन्नता (Substitution) का द्योतक होती है ; लेकिन वह स्थानापन्नता सामान्य लैंगिकता के पूर्णत: अयोग्य होती है। इस तरह यदि इसे वस्तुपूजा के फलस्वरूप हम पूर्णत: न मानें; लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इसमें वस्तु-पूजा का बीज-तत्त्व निहित रहता है।

इसी प्रकार विद्वानों ने आन्तिक परपीड़न - प्रीति (Extreme Sadism) को भी इसका कारण माना है ; लेकिन इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि परपीड़न-प्रीतिवाला व्यक्ति उसी समय तक अपने प्रेम-पात्र को पीड़ा देता है जब तक कि वह जीवित रहता है। मरने पर उसे पीड़ा नहीं देता ; क्योंकि ऐसा करने से उसे किसी प्रकार की लैगिक उत्तेजना नहीं मिलती है। हाँ, कभी-कभी कोई परपीड़न-प्रीति का उपासक मरने के बाद भी उसको अपनाता है। इसलिए ऐसे ही व्यक्तियों में से शव-लैंगिकता का करना भी संभव है। अतएव हम इसे कुछ अंशों मे परपीड़न-प्रीति के फलस्वरूप भी मान सकते हैं।

कभी-कभी यह दोष उपर्युक्त दोनों विकृतियो का परिचायक होता है। ऐसी परिस्थिति में दोनों अंग साथ-साथ काम करते हैं ; किंतु सच्ची बात तो यह है कि ऐसा व्यवहार किसी व्यक्ति के विकृत मन का ही परिचायक है। एक ऐसे सेनाधिकारी का अध्ययन हुआ है जो इस विकृति से पीड़ित था। अध्ययन करने पर मालूम हुआ कि वह और उसकी माता दोनों ही मनोविकृति (Psychosis) के शिकार थे। इस प्रकार निष्कर्ष-स्वरूप हम

यही कह सकते हैं कि ऐसी विकृति से पीड़ित व्यक्तियों का मन अवश्य ही असामान्य रहता है।

अन्त में हम यह भी कहना उचित समझते हैं कि यदि संयोगवश किसी व्यक्ति में यह दोष मिले तो उसे मनोचिकित्सक के संरक्षण में रखने की व्यवस्था करके उसकी मानसिक चिकित्सा करें।

उपर्युक्त लैंगिक विकृतियों के अतिरिक्त वर्जित लैंगिकता (Incest); बयोवृद्ध-लैंगिकता (Geronto sexuality) आदि और भी विकृतियाँ और असामान्यताएँ हैं; लेकिन उनपर यहाँ प्रकाश न डालकर हम इस अध्याय को समाप्त करना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

छठा अध्याय

दैनिक मनोविकृतियाँ

(Psychopathology of Everyday life)

विषय-प्रवेश

हम अपने जीवन के विभिन्न अवसरों पर कुछ ऐसी भूले कर देते हैं जिनके लिए बाद में आश्चर्य और कभी-कभी पश्चात्ताप भी होता है। यों तो ऐसी भूलों को करते समय उनकी हमें चेतना नहीं रहती ; लेकिन ज्योंही ऐसा होता है अधिकांशत: हमे उनका ज्ञान भी हो जाता है। हम किसी मित्र का नाम याद करना चाहते हैं ; लेकिन अधिक परिचित होते हुए भी उसका नाम लाख कोशिश करने पर भी स्मरण करने में असमर्थ होते हैं। किसी व्यक्ति-विशेष को सम्बोधित करना चाहते हैं और उसे किसी अन्य व्यक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं। लिखना चाहते हैं कुछ और लिख देते हैं कुछ। पुस्तक मे लिखा हुआ है कुछ और पढ़ लेते हैं कुछ और ही। इसी प्रकार कुछ ऐसी शारीरिक क्रियाएँ, यथा, नाक में उंगली डालना, पैर हिलाना, किसी अग-विशेष को चमकाना आदि भी हमारी क्रिया की भूलें हैं ; क्योंकि वस्तुत: इन्हें कोई जानते हुए नहीं करता और जब तक कोई बाध्यता (compulsion) न हो जाय तब तक कोई करना भी नहीं चाहता। इन क्रिया की अशुद्धियों को मनोवैज्ञानिक सांकेतिक क्रियाओं (symbolic actions) के नाम से पुकारते हैं। इन उपर्युक्त प्रकार के व्यापारों को तथा ऐसे ही अन्य को भी, जिनकी चर्चा स्थल-विशेष पर की जायगी, फ्रायड ने दैनिक मनोविकृतियों की सज्ञा दी है।

हमारे ऐसे व्यवहारों की व्याख्या फ्रायड के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने अनवधान (Inattention), संयोग (Chance), थकावट, मानसिक संघर्ष (Mental conflict), रक्त-प्रवाह का उपद्रव (Disturbances in the circulation of blood) आदि के आधारों पर की है ; लेकिन उन्हें अपने प्रयत्न में पूरी सफलता नहीं मिली है। संभवतः किसी ऐसे व्यवहार-विशेष की व्याख्या स्थल-विशेष पर उपर्युक्त आधारों में से किसी एक आधार पर सभव हो ; लेकिन सभी स्थलों पर ऐसा करना संभव नहीं है। जब हम किसी प्रकार की थकावट, मानसिक संघर्ष या अन्य

शारीरिक उपद्रवों से पीड़ित नहीं रहते तब भी ऐसी भूले हमसे हुआ करती हैं। इसीलिए फ्रायड का कहना है कि यद्यपि ऐसे व्यवहार सामान्य व्यक्तियों में देखे जाते हैं और उनमें सामान्यता की कई विशेषताएँ भी देखने में आती हैं तथापि ये हमारी मनोविकृतियों (Psychopathology) के ही परिचायक हैं। उनकी सामान्यता की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उसका कहना है कि ऐसे व्यवहार सामान्य इसलिए कहे जाते हैं कि उनको करनेवाला पूर्णत: मन से स्वस्थ रहता है। उसमें किसी प्रकार की मानसिक विकृति नहीं पायी जाती है। जिस समय ऐसे व्यवहार होते हैं उसी समय उनकी जानकारी भी कर्त्ता को ध्यान देने से हो जाती है। इतना ही नहीं, वल्कि ये भूले किसी क्षणिक क्रिया की गड़बड़ी के कारण होती हैं इसलिए उनका सुधार भी पुन: हो जाता है। और, चूँकि स्पष्टत: ऐसे व्यवहारों का कोई कारण नहीं मालूम होता, इसलिए हम इन्हें अनवधान या सयोग के मत्थे मढ़ देते हैं। लेकिन वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ये हमारी दैनिक मनोविकृतियाँ हैं; क्योंकि ये सामान्य मन की कार्यवाही (Functioning) की त्रुटियों को ही व्यक्त करती हैं। जिस प्रकार हमारी मनो-स्नायुविकृतियों के विभिन्न लक्षणों (Different symptoms of Psychoneuroses) के स्पष्ट कारण नहीं मालूम होते; लेकिन मनोविश्लेषण करने पर उनके कारण अचेतन-मन में मिलते हैं; उसी प्रकार इन मनोविकृतियों के स्रोत का मूल भी हमें उसी विधि के द्वारा अचेतन-मन मे ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार हमें असामान्य व्यवहारों के समय विभिन्न मनोरचनाओं (Mental mechanisms) की कार्यवाही मिलती है उसी प्रकार इन व्यापारों में भी वे मनोरचनाएँ कार्य करती हैं। अतएव हमारे ऐसे व्यापार असामान्य ही हैं और इनकी प्रेरणा (Motive) हमारे अचेतन-मन से ही मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमलोगों के सभी व्यवहारों में हमारे अचेतन मन का अत्यधिक हाथ रहता है। यहाँ तक कि जिन व्यवहारों के कारण हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते उनके भी कारण हमारे अचेतन मन मे मौजूद रहते हैं और वे व्यवहार उन्हीं से निर्धारित भी होते हैं। प्राय: ऐसा विचार है कि हमलोग अपने विभिन्न संकल्पों को चुनने में पूर्णत: स्वतत्र हैं; लेकिन मनोविश्लेषण का ज्ञान इस बात का साक्षी है कि वस्तुत: वह संकल्प भी हमारी अचेतन प्रेरणाओं (Unconscious motives) से ही निर्धारित होता है। इसका यहाँ विशद

वर्णन करना आवश्यक नहीं है ; अतएव दैनिक मनोविकृतियों के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करना ही अपेक्षित है।

जब हम दैनिक मनोविकृतियों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि फ्रायड ने उन मनोविकृतियों को कई श्रेणियों में विभाजित किया है। अतएव हम यहाँ उनपर क्रमशः प्रकाश संक्षेप रूप में डालेंगे।

विस्मृति (Forgetting)

विस्मृति के सम्बन्ध मे फ्रायड का कहना है कि विस्मृति में यद्यपि कई अग सहायक होते हैं; लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि दमन (Repression) विस्मृति के लिए अत्यधिक प्रबल है। जिस विस्मृति की व्याख्या हम अन्य आधारों पर करने में असमर्थ होते हैं वहाँ हमें दमन का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि इसके बिना हम उसकी व्याख्या करने में पूर्णतः असमर्थ हो जाते हैं। हमारे लिए जो स्मृतियाँ दुखद और अपमान-जनक होती हैं उन्हें हमारा मन दमन के द्वारा अचेतन में कर देता है और हम उन स्मृतियों को भूल जाते हैं। जब हम किसी दुखद स्मृति को भुलाना चाहते हैं और वह नहीं भूलती है तो इसका यही अभिप्राय होता कि हममें उसे दमन करने की क्षमता नहीं है या वह स्मृति किसी अन्य दारुण स्मृति को भुलाने के लिए हमारे मन में बनी हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब ऐसी स्मृतियाँ, जिन्हें कि हमें याद रखना चाहिए, भूल जाती हैं तो इसमें दमन का ही हाथ रहता है। हम अपने किसी चिर-परिचित मित्र का नाम भूल जाते हैं, जो अस्वाभाविक मालूम होता है। लेकिन, मनोविश्लेषण करने पर मालूम होगा कि वस्तुतः इस भूलने का कारण हमारे अचेतन मन में छिपा हुआ है।

ऐसी ही भूलो में किसी उद्देश्य या संकल्प (Intention) के भूलने की भी परिगणना होती है। लोग किसी निश्चित समय पर किसी काम को करने का सकल्प करते हैं; लेकिन उपयुक्त समय आने पर उसे भूल जाते हैं। इसी तरह एक घटना का उल्लेख अपने सम्बन्ध में इ० जोन्स ने किया है। जब वह किसी अस्पताल में एक सहायक के पद पर नियुक्त था तो उसके ऊपर के अधिकारी ने उसे एक ऐसे समय में अस्पताल का कार्य-भार संभालने को कहा जब वह उक्त समय पर किसी काम को करने का संकल्प कर चुका था ; लेकिन जब जोन्स को ऐसा करने को कहा गया तो उसने बिना आना-कानी किये उसे स्वीकार कर लिया। बाद में, उसका पहला और दूसरा संकल्प उसे क्रमशः याद आते रहे। वह किसी भी संकल्प की अवहेलना नहीं करना चाहता था ; लेकिन उपयुक्त समय पर, अधिकारी के आदेश

के अनुसार जो कार्य करने का संकल्प उसने किया था, उसे वह भूल गया। बाद में उसे बहुत ही झिड़कियाँ खानी पड़ीं और उसे पश्चात्ताप भी हुआ; लेकिन मनोविश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वह उसे नहीं करना चाहता था, इसलिए दमन के सहारे वह संकल्प अचेतन में चला गया।

इसी प्रकार जब कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका की किसी प्रार्थना को भूल जाता है तो इससे यही स्पष्ट होता है कि वस्तुतः प्रेमी का मन उस प्रेमिका की प्रार्थना के अनुसार करना नहीं चाहता था। यही कारण है कि प्रेमिकाएँ अपने प्रेमी की किसी प्रकार की उपेक्षा को सहन करने में असमर्थ होती हैं।

इसके पहले कि लेखक एकाध ऐसी शास्त्रीय भूलों (Classical Forgettings) का उल्लेख करे, अपने जीवन की ऐसी ही एक घटना का वर्णन करना आवश्यक समझता है। एक बार ऐसा हुआ कि कालेज जाने के पहले ही एक स्थानीय रईस से मिलने की आवश्यकतावश निश्चित कर चुका था। शाम को छ बजे वहाँ जाना आवश्यक था। कालेज में पहुँचने पर कालेज के बड़े बाबू ने एक शुभ संवाद सुनाते हुए अपनी प्रसन्नता प्रकट की और जैसा कि ऐसे अवसरों पर हुआ करता है उन्होंने मिठाई माँगी। लेखक ने तत्काल उन्हे उसी दिन शाम को छ बजे आने का साग्रह अनुरोध किया। उन्होंने आना स्वीकार भी कर लिया। चार बजे तक कालेज के काम मे व्यस्त रहने के बाद लेखक अपने अधिवास पर आकर नित्यकार्यों और जलपान करने के बाद उक्त रईस के यहाँ चला गया। उसे कुछ भी स्मरण नहीं था कि उसने किसी को आमंत्रित किया है। वहाँ जाने पर भी इस संकल्प का स्मरण न हुआ और वहीं दस बजे तक काम की बातें करता रहा। इधर कालेज के बड़े बाबू छ बजे शाम के बाद से नौ बजे रात तक लेखक के स्थान पर बैठकर प्रतीक्षा करते रहे और अन्त मे निराश होकर चले गये। जब लेखक वहाँ से लौटा तो भाई साहब ने उनके आने की सूचना दी। लेखक को अपनी इस भूल के कारण को समझने मे देर नहीं लगी।

इसी प्रकार, विरोधी विचारों के कारण मनुष्य किसी से ऋण लिया हुआ रुपया लौटाना या पत्रालय मे पत्र लगाना भूल जाता है। ऐसे उदाहरणों और घटनाओ की कमी नहीं है जब कोई मनुष्य किसी को निश्चित समय पर रुपया लौटाने की प्रतिज्ञा करता है; लेकिन उस तिथि के आने पर उसे रुपया लौटाने के संकल्प का कुछ भी स्मरण नहीं रहता है। इ० जोन्स ने पोस्ट आफिस में एक पत्र छोड़ने की घटना का उल्लेख किया है। पहले तो पत्र लिखने पर वह पत्र कई दिनों पक टेबुल पर पड़ा

रहा; क्योंकि उसे छोड़ना वह भूल गया। किन्तु, जब कई दिनों की कोशिश के बाद उसे अपने मित्र के नाम छोड़ा तो उसपर पता लिखना ही भूल गया। फलत: पत्र उसके यहाँ पोस्ट आफिस से लौटा आया। जब उसने तीसरी बार अपने मित्र को पत्र छोड़ा तो इस बार टिकट लगाना ही भूल गया। यद्यपि वह स्पष्टतया पत्र भेजने के विरोध में नहीं था; लेकिन बार-बार की विभिन्न भूलों ने स्वय उसकी पत्र भेजने की विरुद्ध-वृत्ति को व्यक्त कर दिया। जब कोई व्यक्ति अपने प्रिय मित्र या प्रेमिका की प्रार्थनाओं को भूल जाता है तब उसके अचेतन-मन की दबी हुई इच्छा को ही संतुष्टि होती है। भूलनेवाला वस्तुत: ऐसे व्यक्तियों के महत्त्व को अपने जीवन में स्वीकार नहीं करता; क्योंकि या तो वह अपने आपमें इतना तल्लीन रहता है या अपना इतना अधिक अत्यांकन (overestimation) करता है कि अन्य लोगों का महत्त्व ही उसके सामने कुछ नहीं रह जाता है।

कभी-कभी किसी व्यक्ति या स्थानविशेष के नाम को, जिससे कि हमलोग पूर्णत: परिचित रहते हैं, किसी निश्चित समय पर स्मरण करने में भूल जाते हैं। हमलोगों का ऐसा भूलना भी निरर्थक नहीं, अपितु पूर्णत: सार्थक होता है। फ्रांस-निवासी फ्रिक ने अपनी इस प्रकार की एक भूल का उल्लेख किया है। उसके किसी मित्र ने एक ऐसे स्थान के सम्बन्ध में पूछा जहाँ उसे कुछ आवश्यक सामग्रियाँ मिल सकें। फ्रिक स्थान से पूर्ण परिचित था। वहाँ से कई बार आवश्यक सामान को खरीद चुका था। उस स्थान का नाम पाण्ड (pond) था जिसका अर्थ हिन्दी में तालाब भी होता है। जब वह पुन: उस स्थान पर गया तो उसे आश्चर्य हुआ कि वह इसका नाम क्यों नहीं याद कर सका। मनोविश्लेषण पर उसे रहस्य का उद्‌घाटन हुआ। बात यह थी कि अपने बाल-काल में उसने भारतवर्ष के एक तालाब (pond) में अपने एक प्यारे कुत्ते को खेल के बहाने ढेला मारकर डुबो दिया था। उस तालाब के दु:खद अनुभव ने पाण्ड नामक स्थान को याद करने से रोक दिया।

लेखक को भी एक ऐसी भूल का बार-बार शिकार होना पड़ता है। वह जिस कालेज में अध्यापन का कार्य करता है उससे लगे ही पूर्व और पश्चिम में दो छात्रावास हैं। एक का नाम 'लंगटसिंह-छात्रावास' और दूसरे का 'ड्यूक-छात्रावास' है; लेकिन आज आठ वर्षों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहते हुए भी लेखक लंगट-सिंह छात्रावास के नाम को बार-बार भूल जाता है। अब तो इस भूल से कोई आश्चर्य नहीं होता; लेकिन पहले लेखक इस भूल से बहुत हैरान रहता था। बात ऐसी है कि लेखक ने जब पहले-पहल उस

कालेज में प्रथम वर्ष में प्रवेश किया था उसी समय एक नये विद्यार्थी से उसकी मित्रता हो गयी। वह विद्यार्थी था तो उच्च और समृद्ध परिवार का ; लेकिन अपव्ययी होने के कारण उसे रुपए की बराबर कमी रहती थी। पहले तो नहीं ; किन्तु बाद में लेखक समय-समय पर असत्य का आश्रय लेकर अपने संरक्षक से रुपया ले-लेकर उस मित्र को दिया करता था। लेकिन जैसा कि सभी विद्यार्थियों के साथ बन्धन रहता है वैसा ही लेखक के साथ भी था। परिणामतः मित्र से समय पर रुपया न मिलने के कारण लेखक का नाम सेकड ईयर में टेस्ट के ही समय कट गया। जब लेखक ने मित्र से सहायता माँगी तो उसे उलटे झिड़कियाँ अपने मित्र से सुननी पड़ीं। अन्त में लेखक को संरक्षक का आश्रय लेना पड़ा ; लेकिन परिवारवालों ने इस नादानी के लिए अत्यधिक भर्त्सना की। वस्तुतः यह घटना लेखक के लिए बहुत ही अपमानजनक थी और आज भी वह जब उस होस्टल का नाम किसी अवसर विशेष पर व्यक्त करना चाहता है तो उसे किसी मित्र या विद्यार्थी का आश्रय लेना पड़ता है। पाठकों को इस भूल का कारण समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि हम अभी ऊपर एक ऐसी ही भूल का उदाहरण दे चुके हैं।

इसी प्रकार व्यक्तियों के नाम, दिन के नाम या स्थान के नाम भूलने के अनेक उदाहरण दिये गये हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि जब कोई, किसी व्यक्ति या स्थान का नाम पूर्ण परिचित रहने पर भी बार-बार भूल जाता है तो इसका यही आशय है कि उस स्थान या व्यक्ति का साहचर्य किसी दुखद घटना से है, इसलिए मन उसे भुला देता है या उसका महत्त्व भूलनेवाले के जीवन में कुछ नहीं है। अतएव वह उसे याद रखने की आवश्यकता नहीं समझता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए व्यक्ति इतना उतावला हो जाता है कि यदि आगामी शनिवार को उसने मिलने का निश्चय किया है तो वह वृहस्पतिवार या शुक्रवार को ही मिलने के लिए प्रस्थान कर देता है। वह यह पूर्णरूपेण भूल जाता है कि आज शनिवार नहीं ; बल्कि वृहस्पतिवार या शुक्रवार ही है। उतावलेपन के ही कारण उसे समय और दिन की विस्मृति हो जाती है।

बोलने की भूलें (Slip of tongue)

अभी हमने ऊपर विभिन्न नामों और सकल्पो के भूलने के उदाहरणों का सकारण उल्लेख किया है। अब हम यहाँ बोलने की भूलों का सङ्क्षिप्ततः

उल्लेख करेंगे और देखेंगे कि इन भूलों में हमारे अचेतन-मन की कार्यवाही का क्या हाथ रहता है।

प्राय: ऐसा देखने में आता है कि हम बोलना कुछ चाहते हैं और बोल कुछ और ही देते हैं ; फलत: कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। भाषा की ऐसी अशुद्धियों की व्याख्या मेरिंगर, मेयर प्रभृति विद्वानों ने ध्वनियों की समानता के आधार पर करने का प्रयास किया है ; लेकिन उन्हें अपने कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली है , कारण सभी प्रकार के भाषा-दोषों की व्याख्या इस आधार पर करना असंभव हो जाता है। ऐसे स्थलों पर भी फ्रायड ने उपर्युक्त भूलो के समान अचेतन कारणों को ही व्यक्त किया है। उसका कहना है कि जब कोई व्यक्ति बोलना कुछ चाहता है और बोल कुछ और देता है तब निस्संदेह वह अपनी दबी हुई किसी दूसरी ही इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। कभी-कभी दबी हुई इच्छा और व्यक्त किये जानेवाले विचारों के सम्मिलन के अवसर से एक नये शब्द की भी रचना देखने में आती है। जिस प्रकार ऊपर की भूलों में दबी हुई अचेतन प्रेरणाओं का हाथ रहता है उसी प्रकार यहाँ भी ऐसी ही प्रेरणाएँ काम करती हैं। विरोधी इच्छा के अतिरिक्त कभी-कभी वक्ता को साहचर्य के द्वारा दूसरे विचारों का स्मरण हो आता है ; जिसके फलस्वरूप वह जिसे कहना चाहता है उसे न कह कर अचेतनतया साहचर्यित भावों को व्यक्त कर देता है।

एक बार एक महिला ने एक दूसरी विवाहिता महिला को 'कुमारी' कहकर सम्बोन्धित किया। विश्लेषण करने पर मालूम हुआ कि सम्बोधित करनेवाली महिला दूसरी महिला को विवाहिता देखना नहीं चाहती थी। बात यह थी कि जिससे वह स्वय विवाह करना चाहती थी उसी व्यक्ति से उसने अपनी शादी कर ली थी। यद्यपि वह इस घटना को अच्छी तरह जानती थी ; लेकिन उसका अचेतन-मन इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इसीलिए जानते हुए भी उसने 'श्रीमती' न कहकर 'कुमारी' के ही नाम से सम्बोधित किया।

शेक्सपीयर के कामों से प्रभावित होकर एक व्यक्ति ने अपना विचार व्यक्त किया। यद्यपि वह कहना चाहता था कि मैं उसकी रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हूँ ; लेकिन उसने यह न कहकर अपनी रचनाओ से प्रभावित होना व्यक्त किया। वस्तुत: वह शेक्सपीयर की रचनाओं से इतना अधिक प्रभावित था कि वह स्वय उन रचनाओ का रचयिता न होने के कारण अपने मन मे ईर्ष्या कर रहा था। शेक्सपीयर के स्थान को ग्रहण करने की अचेतन इच्छा ही उसके इस कथन मे भूल का कारण थी।

एक सभा के सभापति ने सभा का उद्घाटन करते हुए यह व्यक्त किया कि 'मैं अब सभा को समाप्त करता हूँ' जब कि उसे 'आरंभ' कहना चाहिए था। आरभ के बदले समाप्त होने कहने का एक मात्र ध्येय यही था कि वह सभापति उस सभा की कार्यवाही प्रारंभ होने से उसका समाप्त होना ही अच्छा समझता था। उसे इतना निश्चय था कि उस सभा में विवाद के अतिरिक्त कोई रचनात्मक कार्य की रूपरेखा नहीं बन सकेगी। इसीलिए उसका अचेतन-मन सभा के कार्यारंभ को नहीं चाहता था। अतएव जो विपरीत दबी हुई इच्छा थी उसे अचेतनतया उसने व्यक्त कर दिया।

एक व्यक्ति जो समजाति-लैंगिक (Hamo sexual) था निरतर कानून, कारागार आदि के विचारों से भयभीत रहता था। एक दिन उसने अपने दो महिला-मित्रों को थियेटर देखने के लिए निमंत्रित किया। उन महिलाओं ने उसे एक ऐसे चित्र में जाने को कहा जिसमे कारागार के सम्बन्ध का दृश्य था। वह उन महिलाओं की इच्छा का निरादर नहीं कर सकता था; लेकिन अनजाने उसने टैक्सीवाले को उस स्थान का नाम न व्यक्त कर दूसरे ही स्थान का नाम व्यक्त कर दिया। उसकी इस भूल का ज्ञान सभी को तब हुआ जब वे दूसरे स्थान पर पहुँच गये। अब वहाँ से लौटना भी संभव नहीं था; क्योंकि बहुत बिलब हो चुका था; अत: वहीं सबको चित्र देखना पड़ा। उस थियेटर में भी एक ऐसे दृश्य का प्रदर्शन था, जिसमें एक लड़की ने अपने स्वार्थी पिता को उल्लू बनाकर अपना काम निकाला था। उस चित्र को देखने जाने की इच्छा भी उस व्यक्ति के लिए कम महत्त्व की नहीं थी; क्योंकि उसके मन में भी अपने पिता के प्रति द्वेष भाव ही था। अत· उसके मन ने उस भयावह चित्र को न देखकर अपने अनुकूल चित्र को ही देखना पसन्द किया।

एक बार एक होटल के नौकर ने अपने मालिक का दरवाजा खटखटया। जब मालिक ने पूछा कि कौन है तो इसके उत्तर में नौकर ने कहा, "स्वामी, मेरे नौकर"; लेकिन वह कहना चाहता था "नौकर, मेरे स्वामी।' वास्तविकता यह थी कि वह नौकर बहुत पुराना था और कई बार उसके मन में उस होटल के स्वामी होने की इच्छा हुई थी। अवसर पाकर वह दबी हुई इच्छा भाषा द्वारा अभिव्यक्त हुई। इसी प्रकार भाषा-दोष सम्बन्धी दैनिक मनोविकृतियों से हमलोगों के अचेतन की छोटी-छोटी असतृप्त इच्छाओं की संतुष्टि होती है।

लिखने की भूलें (Slip of pen)

बोलने की भूलों की तरह लिखने की भूलों की परिगणना भी दैनिक मनोविकृतियों के अन्तर्गत होती है। ऐसे अवसरों की कमी नहीं है जब हम लिखना कुछ चाहते हैं; किंतु लिख कुछ और ही देते हैं। उपर्युक्त भूलों की तरह लेखनी की भूले भी हमारे अचेतन-मन की दबी हुई इच्छाओं को व्यक्त करती हैं।

चौदह दिसम्बर, १९५३ ई० की घटना है। कालेज की एक सोसाइटी के सभापति ने नोटिसबोर्ड पर एक सूचना लटकायी। बात यह थी कि तीसरे वर्ष के एक विद्यार्थी का निर्वाचन मंत्री पद के लिए निर्विरोध हुआ था। सभापति ने लिखा "अमुक विद्यार्थी तृतीय वर्ष, रोल नम्बर अमुक, निर्विरोध अमुक सोसाइटी का मंत्री निर्वाचित हुआ है।" विद्यार्थी का नाम तो ठीक था; लेकिन रोल नम्बर एक दूसरी छात्रा का था। सभापति इस भूल को नहीं जान सके; लेकिन कालेज के विद्यार्थियों में इसका बड़ा तहलका मचा। संयोग से उस विषय के विद्याथियों का क्लास भी उस सभापति के साथ दूसरे दिन पड़ा। क्लास में हाजिरी लेते समय उस मत्री ने अपने नये रोल नम्बर और पुराने रोल नम्बर दोनों पर हाजिरी बोली। प्राध्यापक ने जब इसका कारण पूछा तो उस लड़के ने हँसते हुए कहा, महाशय, मेरा पहला रोलनम्बर तो बादवाला ही है; लेकिन शायद आपने कल से मेरा रोल नम्बर अमुक कर दिया है। इसपर क्लास के सभी विद्यार्थी ठहाका मारकर हँस पड़े और शिक्षक को अपनी भूल मालूम हुई। इस भूल का कारण जैसा कि लेखक को मालूम है यह है कि सभापति महोदय वस्तुत: अचेतनतया उस लड़के के बदले उस लड़की को ही मंत्री के रूप में देखना चाहते थे; लेकिन निर्वाचन के इस युग में वह विद्यार्थी ही मत्री-पद के लिए निर्वाचित हुआ। अत: सभापति के अचेतन-मन की इच्छा की संतुष्टि लेखनी द्वारा ही हुई।

किसी महिला के एक मित्र ने उसे यह लिखते हुए पत्र समाप्त किया कि 'आशा है, तुम अच्छी और असंतुष्ट होगी।" वस्तुत: वह लिखना 'संतुष्ट' चाहता था, लेकिन लिख दिया 'असंतुष्ट'। उसकी इस लेखनी भूल का कारण यह था कि उसका वह मित्र स्वय उससे ब्याह करना चाहता था; लेकिन उसका सम्बन्ध दूसरे पुरुष से हो गया था। इसलिए वह यह नहीं चाहता था कि वह स्त्री उस पुरुष के साथ सानन्द रहे। यही कारण था कि उसने अपनी अचेतन-इच्छा की अभिव्यक्ति लेखनी-दोष के द्वारा की।

एक बार एक अविवाहिता युवती ने एक डाक्टर को पत्र लिखा, लेकिन

लिफाफे पर पता लिखते समय वह "डाक्टर" न लिखकर भूल से "डीयर" (Dear) लिख दिया। उसका ऐसा लिखना निरर्थक नहीं था; क्योंकि वह उस डाक्टर से प्रेम करती थी और इसलिए उससे व्याह-सम्बन्ध जोड़ना चाहती थी। किंतु, दोनों का यह सम्बन्ध किसी को मालूम नहीं था। उसने लिफाफे पर "डीयर" शब्द लिखकर अपनी इच्छा को सभी को व्यक्त कर दिया। इससे सभी को उन दोनों का सम्बन्ध मालूम हो गया। इसी प्रकार और भी लिखने की भूलों का उल्लेख किया जा सकता है; लेकिन यहाँ उनका वर्णन करना आवश्यक नही है।

मुद्रण-दोष (Misprint)

यद्यपि मुद्रण-दोष लेखक, कम्पोजिटर, प्रूफरीडर, सम्पादक तथा मुद्रक किसी से भी हो सकता है और निश्चयात्मक रूप से किसी व्यक्ति-विशेष की अचेतन-इच्छाओं को नहीं व्यक्त किया जा सकता है; लेकिन ऐसी अशुद्धियों में भी वे ही अचेतन प्रेरणाएँ काम करती हैं। इस प्रकार की अशुद्धियों की चर्चा फ्रायड तथा अन्य विद्वानों ने पर्याप्त रूप से की है; लेकिन हम यहाँ एक-दो उदाहरण देकर ही इसे समाप्त करेंगे।

सन् १६३१ के बाइबिल के संस्करण में 'तुम व्यभिचार अवश्य ही मत करो' के बदले 'तुम व्यभिचार अवश्य करो' छप गया। यद्यपि इस अशुद्धि का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति के मत्थे मढ़ना कठिन मालूम होता है; लेकिन अधिकारियों ने इसे आकस्मिक कहकर संतोष नही किया। इसके लिए सम्पादक को अत्यधिक आर्थिक दण्ड दिया गया। यदि सम्पादन के समय उसके मन में इस तरह के विचारो का ताँता चेतनतया या अचेतनतया न रहता तो कदापि उससे इतनी बड़ी गलती नहीं होती।

इसी प्रकार एक अँगरेजी समाचार-पत्र में एक बार प्रकाशित हुआ कि सभा में उपस्थित माननीय व्यक्तियों में 'क्लाउन प्रिंस" (विदूषक राजकुमार) भी थे। पुन: दूसरे दिन अपनी गलती के लिए पश्चात्ताप प्रकट करते हुए और उसे शुद्ध करते हुए सम्पादक ने निकाला कि हमारा अभिप्राय "क्लाउन प्रिंस" से नहीं बल्कि 'क्रो-प्रिंस" (कौए राजकुमार) से था, जब कि वह "क्राउन प्रिंस" लिखना चाहता था। इस प्रकार की भूलों की पुनरावृत्ति से उस राजकुमार के प्रति उस समाचार द्वारा आबद्ध कर्मचारियों का द्वेष और घृणा-भाव ही व्यक्त होता है अन्यथा बार-बार ऐसी अशुद्धि कदापि नहीं होती।

टाइपराइटिंग की भी अशुद्धियाँ टाइप करनेवाले के कुछ ऐसे ही विचारों की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए इसपर विशेष प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है।

पहचानने की भूलें (Mistakes in Recognition)

पहचानने की भूलों को अन्य विद्वानों ने कई आधारों पर समझाने की कोशिश की है ; लेकिन फ्रायड ने इन्हें भी मनोविकृतियों के ही अन्तर्गत रखा है और उसका ऐसा करना पूर्णतः उचित भी है। ऐसी अशुद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं। पहली प्रकार की गलती तो वह है कि एक चीज को हम दूसरी चीज समझ जाते हैं। प्रायः ऐसा देखने मे आता है कि जब हम किसी प्रिय मित्र से मिलने के लिए उत्सुक रहते हैं और उसके आने की प्रतीक्षा में रहते हैं तब उससे भिन्न आदमी को भी अपना मित्र ही समझ लेते हैं। मित्र से मिलने की प्रबल इच्छा की संतुष्टि इस प्रकार की अशुद्धियों से होती है। २२-१२-५३ की बात है। लेखक परीक्षा भवन में निरीक्षण कर रहा था। उसके एक दिन पहले वह एक द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी को कुछ आवश्यक कागजों को लेते आने का आदेश दे चुका था ; किंतु बारह बजे तक उसका कोई पता नहीं चला। अतः उसे खोजने के लिए लेखक विभिन्न परीक्षा-भवनों में देखने लगा। फलस्वरूप वह एक विद्यार्थी के पास गया और प्रश्न कर बैठा "क्या हमारी चीजें लायी हैं ?" प्रश्न करने के तुरत बाद लेखक को अपनी गलती मालूम हुई और उधर वह विद्यार्थी भौचक्का हो गया। लेखक ने उससे कहा "आप अपना काम करें मुझसे गलती हो गयी। मैं किसी दूसरे को समझ रहा था।" इस गलती का कारण स्पष्ट है। लेखक विद्यार्थी से मिलने के लिए उत्सुक था। फलतः उससे पहचानने की गलती हुई।

पहचानने की दूसरी तरह की भूल वह है, जब किसी चीज के मौजूद रहने पर भी हमलोग उसे नहीं देखते हैं। प्राय. ऐसा देखने में आता है कि जब हमें किसी व्यक्ति को देखने की इच्छा नहीं रहती है तो उसे हम नहीं देखते हैं। एक कर्मचारी को अपने अधिकारी के यहाँ आफिस का हिसाब उपस्थित करना था। हिसाब करने में कई प्रकार की गलतियो की संभावना थी। इसलिए वह उन्हें ठीक करने के बाद उपस्थित करना चाहता था। अधिकारी ने बार-बार उपस्थित करने को विवश किया और कर्मचारी को हिसाब पेश करना पड़ा। जिस समय कर्मचारी अपनी फाइलों के साथ आफिस में घुसा उस समय वहाँ कई लोग थे। अधिकारी को न देख उसने एक आदमी से पूछना प्रारंभ किया। जब कर्मचारी ने देखा कि जिस आदमी से वह पूछ रहा है वह उसका अधिकारी ही है तब उसे अपनी गलती के लिए बहुत आश्चर्य और लज्जा हुई। पहचानने की इस गलती के कारण

को पाठक स्वयं समझ सकते हैं; क्योंकि ऊपर इसका उल्लेख कर दिया गया है।

किसी को न देखने का ही कारण है कि जब दो मित्र एक ही सड़क से आते-जाते हैं और जब एक कहता है कि वह दूसरे को नहीं देख सका तब उसकी उस गलती को सहन करना दूसरे के लिए असह्य हो जाता है। वस्तुत: जिनसे मिलने की हमें इच्छा नहीं रहती, उन्हें हम नहीं देखते हैं। पुस्तक में या समाचार-पत्र में किसी शब्द के रहने पर भी उसे न पाना या उसके बदले दूसरे शब्द को पढ़ लेना, इन सब में इसी प्रकार की अचेतन-इच्छाएँ काम करती हैं।

वस्तुओं को बेजगह रखना (Mislaying of objects)

हमलोग वस्तुत: किसी चीज को वेजगह सयोगवश नहीं रखते; बल्कि ऐसा करने में भी हमारे अचेतन-मन की प्रेरणाओं का हाथ रहता है। वेजगह रखने और उसे भूल जाने में हमारी असंतुष्ट अज्ञात इच्छाओं की अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है।

जोन्स ने स्वय एक ऐसे उदाहरण का उल्लेख किया है। जब कभी उसे खाँसी की शिकायत होती थी तब वह अपने स्मोकिंग पाइप को ऐसी जगह रख देता था कि उसे कई दिन तक खोजना पड़ता था; लेकिन खाँसी कम होते ही उसे मिलने में भी देर न होती थी। पाइप को वेजगह रखने और उस जगह को भूलने में सिगरेट न पीने की इच्छा का ही हाथ रहता था।

किसी के उपहार को वेजगह रखने या खोने पर यही समझना चाहिए कि उपहार देनेवाले के प्रति द्वेष, घृणा या अपमान की भावना काम कर रही है। फ्रायड ने एक ऐसे उदाहरण का उल्लेख किया है, जिसमे पत्नी ने अपने पति को एक पुस्तक पढ़ने को दी; लेकिन पति का मनोभाव पत्नी के अनुकूल नहीं था। उसने उस पुस्तक को ऐसी जगह रख दी जो महीनो वहीं पड़ी रही। इसी अवधि मे उसकी स्त्री ने उसकी रुग्णा माता की इतनी परिचर्या की कि वह उसकी कृतज्ञता के भाव से दब गया और उसे प्यार भी करने लगा। उसके मनोभाव के बदलते ही उसे पत्नी द्वारा दी हुई पुस्तक बिना किसी कष्ट के मिल गयी।

किसी चीज को रास्ते में या गाड़ी में भूल जाने का मतलब होता है उस चीज से पिण्ड छुड़ाने की प्रबल इच्छा। लेकिन, यदि हम कोई चीज किसी मित्र या डाक्टर के पास या स्थान-विशेष पर छोड़ते हैं तो इसमे हमारा सम्बन्ध ही व्यक्त होता है। उपर्युक्त व्यक्तियों के यहाँ किसी सामान को

छोड़ने का मतलब होता है वहाँ जाने की इच्छा। हम डाक्टर के यहाँ अपनी छड़ी इसलिए छोड़ते हैं कि हम वहाँ पुनः जाना चाहते हैं। लेखक पन्द्रह वर्षों बाद अपने गाँव के घर गया था। जब पहली बार वह आठ जुलाई सन् १९५३ ई० को जाकर बारह जुलाई सन् १९५३ ई० को लौटा तो अपने बालिस्तों को भूलता आया और जब दूसरी बार दशहरा के अवसर पर गया तो तकिये का खोल और सभी समानो को भूलता आया। इनकी याद उसे यहाँ आने पर ही हुई। इस भूलने का कारण लेखक को स्पष्ट है। यद्यपि लेखक बहुत दिनो बाद अपने गाँव के लोगों से मिला था, लेकिन वहाँ का वातावरण इतना आडम्बर-विहीन था और लोग लेखक को इतना मानते थे कि वहाँ जाने पर उसे दिन-रात व्यतीत होते नहीं मालूम हुआ। वहाँ का जीवन उसे इतना सरस और आकर्षक मालूम होता था कि उसका मन वहाँ से आना नहीं चाहता था; लेकिन कालेज खुलने की तिथि से पहले ही उसे चल देना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में लेखक का कुछ भूल जाना स्वाभाविक ही था। उसका यह भूलना अपने घर के प्रति अनुराग और वहाँ पुनः जाने की इच्छा का ही परिचायक है।

क्रिया-अशुद्धियाँ (Erroneously carried out Actions)

हमलोगो के कार्य करने में जो गलतियाँ होती हैं वे भी दमित इच्छाओं के कारण होती हैं। जिस क्रिया को हम करना चाहते हैं उसे केवल अंशतः या पूर्णत गलत ही नहीं करते, बल्कि कभी-कभी उसके बदले दूसरी क्रिया कर देते हैं, जो दबी हुई इच्छा के पूर्णतः अनुकूल होती है।

एक बार जोन्स ने सिगरेट का नया डब्बा मँगाया; लेकिन उस समय अभी पुराने डब्बों में कुछ पहलेवाले सिगरेट पड़े हुए थे। इच्छा तो नये सिगरेट को पीने की हुई; लेकिन मितव्ययिता के विचार से वह उस डब्बे को दूर रखकर पुराने डब्बे के सिगरेट को ही समाप्त करने का निर्णय कर पढ़ने में तल्लीन हो गया। उसी बीच नया डब्बा खोलकर उसने एक सिगरेट भी पी लिया, जिसका ज्ञान उसे पीने के बाद हुआ। उसे इस गलती का कारण जानने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

सन् १९३९ ई० की घटना है। लेखक के एक मित्र की धर्मपत्नी अपने मायके जाना चाहती थीं। मित्र ने बहुत ही अनुनय-विनय उनसे न जाने के लिए किया; लेकिन उसकी कुछ नहीं चली। अन्त में मित्र ने उनके फटकारों को सुनकर उन्हें (अपनी स्त्री को) फिर मुँह न दिखाने का सकल्प किया और उन्हे विदा कर दिया। वहाँ जाने पर धर्मपत्नी ने पत्रों के ताँता लगा दिये;

लेकिन मित्र ने किसी का उत्तर नहीं दिया। अपने मित्रों के कहने पर वह पत्र लिखने को राजो हुआ। लेकिन जिस समय उसने अपनी पत्नी को पत्र लिखा उसी समय लेखक को भी पत्र लिखा; लिफाफा बन्द करते समय उसने स्त्री के पत्रवाले लिफाफे पर लेखक और लेखकवाले लिफाफे पर स्त्री का पता लिखकर छोड़ दिया। लेखक को जब पत्र मिला तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा और उसने दूसरी डाक से वह पत्र मित्र को वापस कर दिया। वह उस पत्र को पुन अपनो धर्मपत्नी को भी नहीं छोड़ सका था कि सहसा विष से उसकी मृत्यु हो गयी। इस तरह लेखक का मित्र जब तक जीवित रहा, उसने अपनी स्त्री को मुँह नहीं दिखलाया और जब विवश करने पर उसने पत्र भी लिखा तो उसे वह नहीं छोड़ सका। क्या क्रिया क' यह भूल अचेतन की दबी इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है ?

इसी प्रकार किसी ताला को दूसरे ताले की कुंजी से खोलना या नौकरों का बर्तनों को बराबर तोड़ना-फोड़ना ऐसी क्रिया की अशुद्धियाँ हैं। लेखक जब स्वय मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला के डिमान्स्ट्रेटर-पद पर काम कर रहा था तो उस समय प्रयोगशाला की आलमारी को खोलने के लिए कुंजी लगाने में बराबर गलती हो जाया करती थी। वस्तुत: लेखक का अचेतन-मन बराबर वैसे काम की बगावत करता था। इसीलिए बराबर ताला खोलने में उससे गलती हुआ करती थी।

सांकेतिक क्रियाएँ (Symptomatic Acts)

प्राय: हमलोग बहुत-सी क्रियाओं को यत्रवत अचेतनतया किया करते हैं। हमें तो इनका ज्ञान नहीं रहता; लेकिन दूसरे के पूछने पर कह देते हैं कि यह आकस्मिक है। यों तो इन क्रियाओं में प्रत्यक्षत: किसी तरह की सार्थकता नहीं प्रतीत होती; लेकिन यहाँ भी विश्लेषण करने पर यही मालूम होता है कि इन सांकेतिक क्रियाओं (Symbolic-actions) की अभिव्यक्ति (Expression) किसी अचेतन-इच्छा की संतुष्टि के लिए होती है। ऐसी सांकेतिक क्रियाएँ किसी व्यक्ति-विशेष मे कभी-कभी किसी मौके पर देखने में आती हैं; लेकिन ऐसी कुछ क्रियाएँ अभ्यासजन्य (Habitual) क्रियाओं की तरह किसी व्यक्ति के व्यवहार-विशेषत्व (Mannerism) का परिचायक होती हैं। दाढ़ी या मूँछ को बार-बार हाथ से सवारना, बटन को खोलना या बन्द करना, हाथ की अँगूठी को बार-बार निकालना और पहनना, जेब मे हाथ डालकर पैसो को बजाते रहना, कुंजी के गुच्छे को हाथ में नचाते रहना आदि इस प्रकार की क्रिया के उदाहरण हैं। कहने

का अभिप्राय यह है कि अपने हाथ को विभिन्न क्रियाओं में लगाये रहने से मनुष्य अपने ऐसे दबे विचारों को व्यक्त करता है, जिनकी उसे स्वय भी चेतना नहीं रहती है।

अगर कोई विवाहिता स्त्री अपने पति द्वारा समर्पित अँगूठी को बार-बार उँगली से निकालती और पहनती है तो इसका अभिप्राय है कि वह अपने पति से निर्मुक्त होना चाहती है और इन दोनों का भावी वैवाहिक सम्बन्ध कल्याणकारी नहीं होगा। ऐसी कई घटनाओं का वर्णन फ्रायड तथा अन्य विद्वानों ने किया है।

किसी वस्तु-विशेष को संग्रह करने की परिगणना भी सांकेतिक क्रियाओं के अन्तर्गत होती है। कोई व्यक्ति-विशेष चित्र, टिकट या अन्य किसी चीज को एकत्रित करने के बड़े शौकीन होता है। उसका इस प्रकार का कार्य इस तथ्य का उद्‌घाटन करता है कि वस्तुत: इस संग्रह-कार्य से वह व्यक्ति अपने अचेतन-मन की किसी आवश्यकता की परिपूर्ति करता है। जब मनुष्य का अचेतन-मन किसी कमी का अनुभव करता है तो वह उस कमी की पूर्ति संग्रह-कार्यों के द्वारा करता है। कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि कोई विद्यार्थी नाना प्रकार की पुस्तकों के संग्रह करने का आदी होता है; लेकिन उसी प्रकार उन्हें पढ़ने का आदी नहीं होता। वस्तुतः इस प्रकार का विद्यार्थी अपने बौद्धिक अभाव की पूर्ति अचेतनतया पुस्तकों के सग्रह द्वारा करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमलोगों का कोई भी विचार या इच्छा रहस्यमयी नहीं रहती; बल्कि उसका प्रकाशन विभिन्न साधारण क्रियाओं द्वारा होता ही रहता है।

दैनिक मनोविकृतियों की व्याख्या पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

हम ऊपर विभिन्न प्रकार की दैनिक मनोविकृतियों और उनके अचेतन कारणों का उल्लेख कर चुके हैं; लेकिन सभी विद्वान फ्रायड की इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सभी विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं; इसलिए जब कभी वे ऐसे व्यवहारों की व्याख्या करने लगते हैं तब उसकी व्याख्या में वैयक्तिक तथा आत्मगत (Subjective) बीज-तत्वों (Elements) का अधिक हाथ रहता है; अतएव ऐसी व्याख्याएँ विश्वसनीय नहीं हैं। लेकिन, विद्वानों की ऐसी आलोचना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। आज मनोविश्लेषण-विधि से विभिन्न विद्वान स्वप्न (Dream), पागलपन (Insanity), मनोस्नायु-विकृति (Psy-

choneurosis) की व्याख्या और उनके कारणों पर जो अपना निर्णय देते हैं उनके निर्णयों मे अत्यधिक समरसता (Uniformity) रहती है। अतएव उसी विधि से यदि ऐसे व्यवहारों की व्याख्या की जाती है और उनके कारणो पर प्रकाश डाला जाता है तो उसमें किसी तरह की संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती है।

स्वतंत्र-साहचर्य (Free association) के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की सत्यता पर जो प्रकाश पड़ा है उसे कोई अस्वीकार नहीं करता, इसलिए दैनिक मनोविकृतियों की व्याख्या को सदेहास्पद समझना युक्तिसंगत नहीं है।

प्रारंभ मे जो व्यवहार हमलोगों को असगत और दुर्बोध प्रतीत होते थे वे ही आज सुगम और बोधगम्य हो गये हैं। अब हम पैर हिलाने या मूँछों पर हाथ फेरने को निरर्थक या आकस्मिक नहीं कहते ; बल्कि जब ऐसा किसी को करते देखते हैं तो शीघ्र ही उसके ऐसे व्यवहार की सार्थकता को भी समझने का प्रयास करते हैं।

इतना ही क्यों जीवन के विभिन्न पहलुओं में फ्रायड के इस सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित होती है। जब कोई पति अपनी पत्नी की माँगी हुई चीज को बाजार से लाना भूल जाता है तो उसका वह भूलना पत्नी के लिए असह्य हो जाता है। अगर उसे इसकी आकस्मिकता और निरर्थकता में विश्वास होता तो भला वह इतना क्यों रंज या दुखी होती? उसके लिए असह्य होने का एक ही कारण रहता है और वह यह कि वह अच्छी तरह समझ जाती है कि उसके पति का ऐसा व्यवहार उसके प्रति उपेक्षा का ही द्योतक है अन्यथा ऐसा वह नहीं करता।

जो लोग हमारे ऐसे व्यवहारों को निरर्थक और बिना किसी कारण के समझते हैं उनके ऐसा समझने का भी कारण युक्तिसगत नहीं है। उनमें भी कुछ ऐसी ही इच्छाएँ दबी हुई हैं, जिनकी संतुष्टि ऐसा समझने में ही होती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हम ऐसे व्यवहारों की व्याख्या सभी स्थलों पर संवेगात्मक तनाव (Emotional Tension), भ्रम आदि के द्वारा नहीं कर सकते; क्योंकि ऐसा न रहने पर भी हम अचेतनतया कुछ व्यवहार ऐसा कर दिया करते हैं जिनका तत्काल कारण जानने मे असमर्थ होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे व्यवहारों की व्याख्या के प्रति जो आपत्तियाँ उठाई गयी हैं वे दोषरहित नहीं हैं। हम भी तो यदि कभी ऐसा व्यवहार अचेतनतया कर देते हैं तो बाद मे विचार करने पर अपनी अचेतन-

इच्छा को ही इसका कारण खोज निकालते हैं। अतएव फ्रायड की दैनिक-मनोविकृतियों की व्याख्या अचेतन-इच्छाओं के आधार पर करना युक्तिसंगत तथा मान्य है।

दैनिक मनोविकृतियों की असामान्य मनोविज्ञान मे उपयोगिता

अब तक हम विकृतियो के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करते आये हैं। अतएव अब इसके अध्ययन के महत्त्व को व्यक्त कर इस अध्याय का समाप्त करेंगे।

इसकी उपयोगिता का वर्णन करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब तक फ्रायड ने इस प्रकार की दैनिक मनोविकृतियों के अचेतन कारणों पर प्रकाश नहीं डाला था तब तक इनके अध्ययन की कोई विशेष महत्ता नहीं थी और जब कोई इस प्रकार का व्यवहार करता था तो लोग उसके ऐसे व्यवहार को आकस्मिक या अनवधान (Inattention) के कारण कहकर टाल देते थे; किंतु जब से फ्रायड ने इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है तब से लोग अचेतन-मन की कार्यवाहियों से परिचित हो गये हैं। इसलिए हमारी छोटी-छोटी भूलों का अध्ययन स्वप्न मनोविज्ञान को समझने में बहुत सहायक हुआ है। अब स्वयं लोग ऐसी गलतियों का अध्ययन आत्म-विश्लेषण (Self-Analysis) के लिए करने लगे हैं।

उपर्युक्त मनोविकृतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन मनोस्नायुविकृतियों (Psychoneuroses) की चिकित्सा करने में भी सहायक सिद्ध हुआ है; क्योंकि ऐसी-ऐसी छोटी भूलो का अध्ययन रोग के प्रधान कारणों और उनके दवे हुए विचारों को समझने में सहायक होता है। रोगी के ऐसे व्यवहारों के निरीक्षण से उसकी प्रधान कठिनाई को समझने मे मदद मिलती है।

जिस प्रकार मनोस्नायुविकृति का रोगी अपने लक्षणों से अवगत नहीं रहता उसी प्रकार ऐसे व्यवहारों का करनेवाला भी उनसे अवगत नहीं रहता; लेकिन जो मनोरचनाएँ इन दोनों मे काम करती हैं उनका ज्ञान चिकित्सक को छोटी-छोटी भूलो के अध्ययन से हो जाता है। अतः उन मनोरचनाओं को वह मनोविश्लेषण के द्वारा नियंत्रित करने की कोशिश करता है और उसे अपनी चिकित्सा में सफलता भी मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक मनोविकृतियों का अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान के लिए कम महत्त्व का नहीं है।

सातवाँ अध्याय

मनोस्नायुविकृतियाँ (Psychoneuroses)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

आज से बहुत पहले की बात है। लोग सभी प्रकार के रोगों का कारण दैहिक मानते थे। मानसिक रोगियों को धनिकों के मनोरंजन का साधन समझा जाता था। ऐसे लोगों को तरह-तरह की तकलीफें दी जाती थीं। वस्तुतः लोग मानसिक रोगियों के साथ पशुता का व्यवहार करते थे। सहानुभूति के साथ व्यवहार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी; लेकिन जमाने ने पलटा खाया और लोगों ने मानसिक रोगों की भी सत्ता को स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप चौदहवीं शताब्दि में लन्दन में मानसिक अस्पताल की स्थापना हुई। एक ओर अमरीका में आजादी की लहर लहरा उठी और दूसरी ओर मानसिक अस्पतालों में सुधार के कार्य प्रारंभ हुए। इस प्रकार मानसिक रोगों की चिकित्सा स्वतंत्र रूप से होने लगी।

चिकित्सा-मनोविज्ञान के इतिहास में मनोस्नायुविकृतियों (Psychoneuroses) का जन्म बहुत बाद मे हुआ। सर्वप्रथम शार्को ने इन रोगों का अध्ययन सामूहिक रूप मे किया। शार्को ने मनोवैज्ञानिक प्रभावो का अध्ययन तो अवश्य किया ; लेकिन यह नहीं समझ सका कि बीमारियों की जड़ में ये ही कारण हैं। रोगियों को अच्छा करने में उसने संसूचन और सम्मोहन को अपनाया और उसे काफी सफलता भी मिली। जैने ने अपनी पुस्तक 'दी मेजर सीम्पृम्स ऑव हिस्टिरिया' में मनोस्नायुविकृत्यात्मक उपद्रवों का अध्ययन बहुत ही व्यवस्थित ढंग से किया है। उसने इन रोगों को दो वर्गों मे विभक्त किया है। इसके बाद इस दिशा में हम फ्रायड के कार्य को पाते हैं, जिसने इस प्रकार के रोगों के ज्ञान को अत्यधिक बढ़ाया है। आज नवीन फ्रायडवादियों में हार्ने (Horney) का नाम विशेष उल्लेखनीय है और उसने चिकित्सा-क्षेत्र को अपनी खोजों से बहुत कुछ दिया है। भविष्य में इस क्षेत्र मे और विकास की सम्भावना की जा सकती है।

मनोस्नायुविकृति क्या है ?

मानसिक रोगो के अध्ययन का विकासात्मक विवरण संक्षेप में दे देने के बाद इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मानसिक

व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं जिन्हें क्रमशः मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis or neurosis) तथा मनोविकृति (Psychosis) कहते हैं। मनोविकृति का उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा। अतएव यहाँ हम मनोस्नायुविकृति के स्वरूप पर ही संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

इसके स्वरूप का जब हम अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि यह साधारण कोटिका मानसिक रोग है, जिसमें मनुष्य आन्तरिक सघर्षों का शिकार होने से सामाजिक सम्बन्ध उचित रूप से रखने में समर्थ नहीं होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका आविर्भाव व्यक्तिमें कुण्ठा (Frustration), सघर्ष तथा संवेगात्मक तनाव (Emotional Tension) के कारण होता है और इसकी चिकित्सा भी मनोवैज्ञानिक विधियों से ही सफलतापूर्वक होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण कोटि की मानसिक बीमारियों की परिगणना मनोस्नायुविकृति के अन्तर्गत होती है।

इसके स्वरूप के समुचित ज्ञान के लिए यदि हम इसकी विशेषताओं का अध्ययन करते हैं, जैसा कि अगले पृष्ठों में विभिन्न मानसिक रोगों के उल्लेख से स्पष्ट होगा, तो देखते हैं कि मनोस्नायुविकृतियों को आविर्भूत करने में मानसिक एवं वंशानुक्रमिक अंगों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है; लेकिन रासायनिक एव स्नायुदैहिक (Neurophysical) अंगों का हाथ नहीं के बराबर रहता है।

इसमें चिंतन एवं भाषण की क्रियाएँ पूर्णतः संयत एवं युक्तिसगत होती हैं। व्यामोह (Delusion) और विभ्रम (Hallucination) का अभाव रहता है। इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं। पाठक विभिन्न मनोस्नायुविकृतियों का अध्ययन करते समय स्वतः इस कथन की सत्यता समझ जायँगे।

मनोस्नायुविकृति के रोगी का सम्बन्ध वास्तविकता से बना रहता है और उसका व्यवहार भी सामाजिक आदर्शों के अनुरूप होता है। वह आत्म-सयम और आत्मनिर्भरता में अधिकांश अंशों मे सफलमनोरथ होता है। वह घातक बहुत ही कम स्थलों पर प्रमाणित होता है।

रोगी का व्यक्तित्व सामान्य व्यक्ति के ही समान होता है या बहुत ही कम अंशों में परिवर्त्तित होता है। इसलिए वह सामान्य ही प्रतीत होता है। रोगी को अपनी अवस्था की सूझ रहती है, इसलिए वह अपनी कमी को भी जानता है। वह चिकित्सा के लिए उत्सुक रहता है और चिकित्सक को अपना सहयोग भी देता है। उसकी अवस्था विभिन्न मनोचिकित्सा-विधियों से

पूर्णतः सुधर भी जाती है । इन विधियों में संसूचन, सम्मोहन, मनोविश्लेषण, पुनर्व्दर्शिण आदि की प्रधानता रहती है ।

मनोस्नायुविकृतियों के लक्षण अधिक होते हैं और रोगी में ह्रास बहुत कम दृष्टिगोचर होता है । मृत्यु-संख्या बहुत ही कम होती है । ये ही मनोस्नायु-विकृति के रोगियों की प्रधान विशेषताएँ हैं ।

मनोस्नायुविकृति-प्रकार

हमने शीर्षक मे 'मनोस्नायुविकृतियाँ' पद का व्यवहार किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि यह एक मानसिक रोग नहीं, वल्कि कई मानसिक रोगों का द्योतक है । इसलिए, हम इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना आवश्यक समझते हैं कि मनोस्नायुविकृति पाँच प्रकार की होती है, जिन्हें हम क्रमशः मनो-स्नायु-दौर्बल्य (Neurasthenia), चिंतामनो-स्नायुविकृति (Anxiety Neurosis), बाध्यता-मनोस्नायुविकृति (Obsessive-compulsive Neurosis), चिंताउन्माद (Anxiety Hysteria) तथा उन्माद (Hysteria) कहते हैं । इन्हीं का उल्लेख अगले पृष्ठों में संक्षिप्ततः किया जायेगा । मनोस्नायुविकृति के विभिन्न प्रकार नीचे की सारिणी से और भी स्पष्ट हो जायेंगे ।

मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis)

मनोस्नायु-दौर्बल्य (Neurasthenia)	चिंतामनो-स्नायुविकृति (Anxiety Neurosis)	बाध्यता-मनो-स्नायुविकृति (Obsessive-compulsive Neurosis)	चिंता-उन्माद (Anxiety Hysteria)	उन्माद (Hysteria or conversion Hysteria)

मनोस्नायु-दौर्बल्य (Neurasthenia)

स्वरूप :—मनोस्नायु-दौर्बल्य (Neurasthenia) का व्यवहार पहले किसी प्रकार के मानसिक संघर्ष के स्थानान्तरण या दैहिक व्यतिक्रमों (organic ailments) के अर्थ में होता था ; लेकिन आजकल इसका व्यवहार उस मानसिक एवं शारीरिक अवस्था को व्यक्त करने के

लिए होता है, जिसमें व्यक्ति निरन्तर अपनी मानसिक एवं शारीरिक थकावट और शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में लोगों से शिकायत करता रहता है। वस्तुत: इस रोग में रोगी शारीरिक और मानसिक थकावट मे निरन्तर पीड़ित रहता है। इस पद का पहले-पहल व्यवहार बीयर्ड (Beard) नामक अमरीकन विद्वान ने सन् १८८० ई० में स्नायविक परिश्रम (Nervous Exertion) के अर्थ मे किया था; लेकिन अन्य औपचारिक विद्वानों ने उसके दृष्टिकोण का खण्डन किया और इसका व्यवहार उस मानसिक असामान्यता के अर्थ में किया जो व्यक्ति की मानसिक एव शारीरिक थकावट का परिचायक है। तब से आज तक इसी अर्थ में इसका व्यवहार होता आया है और सभी चिकित्सक इसे एक मनोस्नायुविकृति का प्रकार मानते हैं, लेकिन इधर कुछ विद्वानों में ऐसी प्रवृत्ति विकसित हुई है कि वे इसे एक स्वतन्त्र मानसिक व्याधि न मानकर एक लक्षण-समूह (group of symptoms) मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि विभिन्न प्रकार के रोगियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से शारीरिक और मानसिक थकावट के लक्षण रोगियों में मिलते हैं। इसलिए यह रोग का लक्षण ही है स्वतन्त्र व्याधि नहीं; लेकिन चूँकि अभी तक यह विषय विवादग्रस्त है और अधिकांश विद्वान इसे एक स्वतन्त्र मनोस्नायुविकृति मानते हैं; अतएव हम भी इसका उल्लेख यहाँ एक स्वतन्त्र मानसिक व्याधि के रूप में ही करेंगे।

हमने अभी ऊपर कहा है कि इस रोग में रोगी मानसिक और शारीरिक थकावट का अनुभव करता है, इसलिए इसके स्वरूप के समुचित ज्ञान के लिए इसको सामान्य थकावट से अलग कर देना आवश्यक है।

सामान्य थकावट आराम करने के बाद दूर हो जाती है; लेकिन इस रोग की थकावट पर विश्राम का कोई असर नहीं पड़ता है। इस रोग का रोगी जब रात के बाद सोकर उठता है तो सबेरे अत्यधिक थकावट का अनुभव करता है और ज्यों-ज्यों शाम होने लगती है त्यों-त्यों उसकी थकावट में कमी आती है। किशोरावस्था में इस रोग की बहुलता रहती है; लेकिन सामान्य थकावट में यह बात लागू नहीं होती है। सामान्य थकावट निरतर नहीं रहती; बल्कि शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने के बाद ही होती है; जब इस रोग की थकावट काम न करने पर भी बराबर बनी रहती है। सामान्य थकावट का सम्बन्ध स्नायुओं (Nerves) से रहता है; लेकिन यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर देखा गया है कि इस व्याधि की थकावट का सम्बन्ध स्नायुओं से नहीं रहता। यह निष्कर्ष हार्टेनबर्ग (Hartenberg)

के अध्ययन पर आधारित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस रोग की थकान और सामान्य थकान में आकाश-पाताल का अन्तर है ; अतएव दोनों एक कदापि नहीं हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यह रोग कुछ अंशों में चिंता-मनोस्नायुविकृति (Anxiety Neurosis) तथा चिंताउन्माद (Anxiety Hysteria) से भी मिलता-जुलता है, इसलिए इसका विश्लेषण बहुत सावधानी से करना आवश्यक है। यदि रोगी में भय और चिन्ता की प्रबलता हो तो समझना चाहिये कि वह या तो चिन्ता-उन्माद या चिन्ता - मनोस्नायु-विकृति से पीड़ित है, अन्यथा वह मनोस्नायु-दौर्बल्य का रोगी है।

प्रकार तथा लक्षण:—मनोस्नायु-दौर्बल्य का वर्गीकरण चिकित्सकों ने दो भागों मे किया है। एक को वे तीव्र या गौण (acute or secondary Neurasthenia) कहते हैं और दूसरे को स्थायी या प्राथमिक (chronic or primary Neurasthenia) कहते हैं। तीव्र मनोस्नायु-दौर्बल्य में किसी प्रकार का मानसिक व्यतिक्रम नहीं पाया जाता है। जो व्यक्ति कमजोर करनेवाली अथवा विषोत्पादक बीमारी का शिकार होता है वही इस प्रकार के दौर्बल्य से भी पीड़ित होता है। उन व्यावसायिक व्यक्तियों में भी, जो निरन्तर आराम छोड़कर काम करने मे व्यस्त रहते हैं, इस रोग का आविर्भाव होता है। जो औरतें निरन्तर रोगी की सेवा में रहती हैं वे भी इस प्रकार की व्याधि का शिकार हो जाती हैं। तीव्र मनोस्नायु-दौर्बल्य सैनिकों में भी अधिक देखने में आता है। इसका आक्रमण सहसा नहीं, अपितु क्रमशः होता है।

स्थायी मनोस्नायु-दौर्बल्य लोगों में प्रायः पाया जाता है और यह तीव्र मनोस्नायु-दौर्बल्य से कई बातों में भिन्न होता है। इसमें उपयुक्त अवक्षेपक (precipitating) कारण देखने में नहीं आता है। कुछ लोग अति-कार्य (overwork), चिन्ता आदि को इसका कारण मानते हैं ; लेकिन उनके ऐसा मानने का कोई अकाट्य आधार नहीं है। विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से इन कारणों का महत्त्व नहीं के बराबर मिलता है। कभी-कभी किसी घातक बीमारी का प्रमाण मिलता है ; किन्तु व्यक्ति इतिहास (case-history) से उस बीमारी का हाथ नहीं मिलता ; बल्कि अन्य अंगों का ही महत्त्व दृष्टिगोचर होता है।

इन दोनो प्रकारों के रोगों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि तीव्र मनोस्नायु-दौर्बल्य में अनिद्रा, भूख की कमी, चिड़चिड़ापन, कार्यदक्षता में कमी दृष्टिगोचर होती है। रोगी इतना शक्तिहीन अपने को महसूस करता है कि

वह किसी काम को करने में असमर्थ होता है। थोड़ा-सा परिश्रम भी रोगी को शक्तिहीन बना देता है। रोगी में संवेगात्मक नियन्त्रण की कमी होने से वह चंचल, चिड़चिड़ा और छिद्रान्वेषी (fault-finding) बन जाता है। स्मृति क्षीण हो जाती है और किसी काम में ध्यान लगाने में भी वह असमर्थ हो जाता है। माथा भारी मालूम होता है और अनिद्रा की भी शिकायत रहती है। रोगी में लैंगिक इच्छा की कमी हो जाती है; लेकिन शिश्न के उत्तेजित न होने पर भी वीर्यस्राव होता है। सम्भोग करने पर सफलता नहीं मिलती; क्योंकि उत्तेजना के पहले ही वीर्यस्खलन हो जाता है। इस थोड़े से परिश्रम से रोगी अत्यधिक थकावट का अनुभव करता है। नाड़ी की गति कभी तो तीव्र और कभी कमजोर हो जाती है। हृदय की धड़कन और स्वेद-प्रवाह में अधिकता आ जाती है।

स्थायी मनोस्नायु-दौर्बल्य का रोगी हमेशा खिन्न रहता है और थकावट की हमेशा शिकायत करता है। रात मे अधिक देर तक सोने पर भी रोगी थकावट का अनुभव करता है और पुन: सोने पर भी उसकी अवस्था में किसी प्रकार का सुधार नहीं होता है। सबेरे वह अत्यधिक थकावट का अनुभव करता है। सिर-दर्द, पीठ का दर्द या शरीर के अन्य हिस्सों के दर्द की प्रधानता रहती है। रोगी आत्मकेन्द्रित और चिड़चिड़ा होता है और कभी-कभी हस्तमैथुन भी कर लेता है। वह लैंगिक कार्य में असमर्थ होता है। उसके पेशाब के साथ धातु भी गिरती है। ऐसा रोगी अपने शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अत्यधिक चिंतित रहने के कारण वैद्य और डाक्टरों का दरवाजा खटखटाया करता है और अन्त मे जब किसी चिकित्सा से उसे लाभ नहीं होता है तो पेटेण्ट औषधियों की शरण लेता है और अपना घर औषधियों से भर देता है। इसके अतिरिक्त कोष्ठबद्धता और साधारण उत्तेजना से अत्यधिक प्रभावित होने की विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। रोगी अपनी व्याधि के सम्बन्ध में दूसरों को सुनाने में एक प्रकार के सन्तोष का अनुभव करता है। अपनी व्यथा न सुना पाने पर वह कभी कभी बेचैन भी हो जाता है।

कारण :—मनोस्नायु-दौर्बल्य के कारण के सम्बन्ध में सभी विद्वानों का एक मत नहीं है। प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने इस रोग का कारण अतिकार्य को बताया; लेकिन अधिक दिनों तक यह विचार मान्य नहीं रहा। आराम देने पर रोगियो की अवस्था में कुछ भी सुधार देखने में नहीं आया, इसलिए विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को पूर्णत: अस्वीकृत कर दिया।

इसके बाद कुछ विद्वानों ने वंशानुक्रम को इस रोग का कारण माना। लेकिन, रोगियों का अध्ययन करने पर यह विचार-धारा भी अकाट्य प्रमाणित नहीं हो सकी। इसलिए इसे भी इसका कारण मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त विद्वानों के एक समूह ने आत्ममादकता (Auto-intoxication) को इस रोग का कारण उद्घोषित किया; लेकिन जैव रासायनिक (Biochemical) अध्ययन इस बात को पुष्ट नहीं करता है। अतएव मनोस्नायुदौर्बल्य का यह कारण भी मान्य नहीं है।

जैने (Janet) ने केन्द्रीय नाड़ीतन्त्र की निर्बलता (Weakness of the central nervous system) को मनोस्नायु-दुर्बलता का कारण माना। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि इसी कमजोरी के कारण मानसिक जीवन की कार्यवाही में अव्यवस्था आ जाती है और रोगी थकावट, कमजोरी या असतोष आदि का अनुभव करता है; लेकिन आज के युग में जैने के इस विचार को मानना युक्ति-संगत नहीं है।

ह्वाइट (White) ने मनोस्नायु-दौर्बल्य को कम काम करने (Underwork) का फल माना है। उसका कहना है कि जब मनुष्य किसी प्रकार का काम नहीं करता तो वह आलसी होकर निष्क्रिय बैठा रहता है। उसे अपनी शक्ति के बचाव और अपने आप पर विचार करने का मौका मिलता है। इसलिए ऐसी अवस्था में जरा-सा परिश्रम का काम करने पर भी वह अपनी थकावट को अतिरंजित करता है। अतएव जब कभी भी वह थोड़ा-सा काम करता है तो थकावट का अनुभव करने लगता है और इस तरह थकावट का विचार उसमें घर कर लेता है और सभी शारीरिक लक्षण आविर्भूत हो जाते हैं।

कोरिआट (Coriat) का सिद्धान्त इस रोग के कारण के सम्बन्ध में यह है कि असामान्य थकावट या सवेगात्मक अनुभव के कारण मनुष्य का मानसिक विच्छेद हो जाता है और उसमे बराबर थकावट का विचार काम करने लगता है। इसलिए शारीरिक थकावट न रहने पर भी वह थकावट का रोगी बन जाता है जिसे हम मनो-स्नायु दौर्बल्य कहते हैं। इस प्रकार उसके अनुसार मानसिक विच्छेद ही इस रोग का कारण है।

उल्फ (Wolfe) ने मनोस्नायु-दौर्बल्य का कारण अरुचिकर परिस्थिति से छुटकारा पाने की इच्छा को माना है। उसका कहना है कि जब मनुष्य ऐसी परिस्थिति से घिर जाता है, जिसमें उसका अभियोजन असभव हो जाता है तो

ऐसी दशा में वह मनोस्नायु-दौर्बल्य का रोगी होकर अपने उत्तरदायित्व से निमुक्त होता है। उक्त का विचार कुछ अंशों में मान्य भी है।

लेकिन, फ्रायड और उसके अनुयायी इसकी व्याख्या दूसरे ही आधार पर करते हैं। फ्रायड के अनुसार उत्तेजना (Excitation) की कमी और वीर्यस्खलन की अधिकता इस रोग का कारण है। आगे उसने बताया है कि हस्तमैथुन या किसी अन्य प्रकार का मैथुन ही इसका कारण नहीं है, प्रत्युत यह विचार कि ऐसा करना बुरा है, इस रोग को जन्म देता है; क्योंकि ऐसा होने से उसके मन में अपनी आदत या इच्छा तथा इस विचार के बीच एक द्वन्द्व खड़ा हो जाता है, जिसका समाधान मनोस्नायु-दौबल्य में होता है।

अन्य मनोवैज्ञानिक मानसिक संघर्ष को इसका कारण मानते हैं; लेकिन लैंगिकता को प्रधानता न देकर आत्मस्थापन और हीन-परिज्ञान भाव की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इन दोनों वृत्तियो के संघर्ष-स्वरूप मनुष्य इस रोग का शिकार होता है।

इसी प्रकार कुछ विद्वान संवेगात्मक तनाव एवं संघर्ष को इसका कारण मानते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की प्रधानता ही इस रोग को उत्पन्न करती है।

इस तरह हम देखते हैं कि इसके कारण के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। इसलिए विभिन्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्षस्वरूप हम यही कहना उचित समझते हैं कि जब व्यक्ति किसी प्रकार की कठिनाई के कारण वातावरण में अभियोजित करने में असमर्थ होता है और हीन-परिज्ञान का शिकार बन जाता है तो ऐसी परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए वह मनोस्नायु-दौर्बल्य के लक्षणों को विकसित कर लेता है। उसकी यह कठिनाई लैंगिक, सामाजिक या व्यक्तिगत किसी प्रकार की भी हो सकती है।

उपचारः—प्रथम प्रकार के मनोस्नायु-दौर्बल्य के उपचार के लिए यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि जब तक रोगी अच्छा न हो जाय तब तक उसकी शक्ति को व्यय न होने दें। इसके लिए रोगी को आराम देना और उत्तेजित करनेवाली उत्तेजनाओं से स्वतत्र रखना जरूरी है। पौष्टिक पदार्थों का सेवन कराना भी लाभप्रद होता है। भोजन के पहले शुभ संवाद के द्वारा रोगी को प्रसन्न-चित्त कर देना चाहिए। सोने के लिए सम्मोहन और संसूचन का आश्रय लेना भी हितकर होता है। फलस्वरूप रोगी तीन-चार महीनों में पूर्णतः स्वस्थ हो जाता है।

स्थायी मनोस्नायु-दौर्बल्य में किसी प्रकार की चिकित्सा लाभप्रद नहीं होती है। इसलिए किसी औषधि का सेवन कदापि नहीं कराना चाहिए। यदि

किसी तरह के मादक द्रव्य के सेवन की आदत हो तो उसे छुड़ा देना चाहिए। हाँ, इसके प्रारंभ में रोगी के मानसिक संघर्ष का अध्ययन करके उस संघर्ष को निमूर्ल कर देने से रोगी स्वस्थ हो जाता है। इसके लिए सम्मोहन, स्वतंत्र साहचर्य, मनोविश्लेषण की विधियाँ विशेष रूप से लाभप्रद प्रमाणित होती हैं। इस स्थिति में पुनर्शिक्षण, विश्राम आदि का कुछ भी हितकर प्रभाव नहीं पड़ता है।

चिन्तामनोस्नायु-विकृति (Anxiety Neurosis)

चिन्तामनोस्नायु-विकृति (Anxiety Neurosis) मनोस्नायु-विकृति का वह प्रकार है, जिसमें मनुष्य चिन्ता से घिरा रहता है; लेकिन इस स्थल पर इसके स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान के लिए दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि वर्त्तमान भयावह परिस्थिति से डरना या चिंतित होना सामान्य अनुभव है। इसलिए सामान्य चिन्ता और इस चिन्ता के अन्तरों को ध्यान में रखना आवश्यक है। दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि 'चिन्ताउन्माद' (Anxiety hysteria) में भी, जिसके सम्बन्ध में आगे चलकर प्रकाश डाला जायगा, मनुष्य चिंतित रहता है। इसलिए इस चिंता और चिंताउन्माद के अन्तरों को भी जान लेना अप्रासगिक नहीं होगा।

सामान्य चिंता या भय व्यक्ति में किसी वस्तु या परिस्थिति-विशेष के प्रति होता है, जिसके फलस्वरूप उससे निमुर्क्त होने के लिए वह भयात्मक प्रतिक्रिया करता है। स्वतत्र हाथी को अपने सामने दौड़ते और आते देखकर भयभीत होना या भागना सामान्य चिन्ता के फलस्वरूप है। ऐसी भयावह परिस्थिति की सूझ व्यक्ति में रहती है और उसी के अभियोजन के लिए वह किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। सामान्य चिन्ता में व्यक्ति का सम्बन्ध वर्त्तमान भयावह परिस्थिति से रहता है; लेकिन असामान्य चिन्ता, जिसका उल्लेख हम कर रहे हैं, सामान्य चिन्ता से पूर्णतः भिन्न है। व्यक्ति चिन्तित या भयभीत तो रहता है; लेकिन उसकी चिन्ता का विषय सामान्य चिन्ता के समान नहीं रहता। उसको अपनी चिन्ता की सूझ नही रहती, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उसकी चिन्ता पदार्थ-विहीन (Objectless) होती है। उसे अपनी चिन्ता का ज्ञान नहीं रहता है। इसलिए वह अपने विभिन्न शारीरिक उपद्रवों को ही व्यक्त करता है। वस्तुत. उसे अपनी मानसिक गड़बड़ी का ज्ञान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त भी उसकी चिन्ता का सम्बन्ध बराबर भविष्य से रहता है वर्त्तमान से नहीं; इसलिए उसमें निराकरणात्मक प्रतिक्रियाएँ भी

सामान्य चिन्ता की तरह नहीं देखने में आती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य चिन्ता बाहरी भयावह परिस्थिति की प्रतिक्रिया है; लेकिन असामान्य चिन्ता आन्तरिक भयावह परिस्थिति की प्रतिक्रिया है।

इसी प्रकार जब हम चिन्ता-मनोस्नायु-विकृति (Anxiety neurosis) तथा चिन्ताउन्माद (Anxiety Hysteria) का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इन दोनों में भी अन्तर है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, असामान्य चिन्ता में रोगी को अपने भय के कारण का ज्ञान नहीं रहता है; लेकिन चिन्ताउन्माद में रोगी अपनी चिन्ता या भय ऐसी परिस्थिति के प्रति व्यक्त करता है जो वस्तुतः सामान्य व्यक्ति के लिए चिन्ता का विषय नहीं रहता। ऊँचे या रिक्त स्थान से चिन्तित होना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता; लेकिन चिन्ताउन्माद का रोगी ऐसी परिस्थितियों से अत्यधिक चिन्तित होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चिन्ताउन्माद में रोगी अपनी आन्तरिक कठिनाइयों को वाह्य परिस्थिति में प्रक्षेपित (Project) कर देता है; लेकिन चिन्ता का रोगी ऐसा नहीं करता। इस प्रकार और भी कई अन्तर इन दोनों में हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं। इसलिए रोग को निश्चित करने के लिए रोगी के व्यक्ति-इतिहास को जानना निहायत जरूरी है; क्योंकि रोगी के पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किये बिना रोग का पता लगाना कठिन हो जाता है।

चिन्तामनोस्नायु-विकृति के रोगी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि वह अपनी चिन्ता के कारण को नहीं जानता है; लेकिन अपने भय या चिन्ता को युक्ति-संगत प्रमाणित करने के लिए निरंतर प्रयास करता रहता है। अन्त मे एक संभावित कारण को भी खोज निकालता है, जो मनगढ़ंत रहता है। इसके स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए इसके लक्षणों का उल्लेख कर देना जरूरी है।

लक्षण:—इस रोग मे मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं।

मानसिक लक्षण में भय और आशंका की प्रधानता रहती है; लेकिन इसका कोई स्पष्ट और निश्चित रूप रोगी के मन में नहीं रहता है। यद्यपि रोगी अपने विचार के सम्बन्ध में किसी प्रकार की युक्ति देने में असमर्थ रहता है; लेकिन उसे बराबर यही विश्वास बना रहता है कि सन्निकट भविष्य में कोई बहुत बड़ी अवांछित दुर्घटना होने जा रही है। कभी-कभी वह अपने सगे-सम्बन्धियों की दुःखद मृत्यु की भी आशंका करने लगता है। इस प्रकार का विश्वास उसके मन में इस तरह जम जाता है कि उससे उसकी सभी

क्रियाओं में बाधा पड़ती है। इस चिंता से या तो वह अनिद्रा (Insomnia) का शिकार हो जाता है या नींद लगने पर वह तुरत टूट जाती है। मृत्यु, अपमान आदि सम्बन्धी भयावह स्वप्नों की भी प्रधानता ऐसे रोगियों में पायी जाती है। जब चिंता कुछ कम अंश में रहती है तो उस समय रोगी में अनभिरुचि (Disinterest) विद्यमान रहती है; इसलिए वह कुछ करने में उत्साहित नहीं रहता और यही सोचता है कि यह सब करना बेकार है। उसमें थकावट और श्रान्ति (Exhaustion) के भाव भी बने रहते हैं। भविष्य में कुछ करने का विचार भी उसे दुखदायी मालूम होता है। इस प्रकार वह दुखी और मलिन बना रहता है। वह अन्तर्मुखी स्वभाव का बन जाता है; इसलिए उसके स्वभाव में स्वार्थपरता की गंध मिलती है। स्वभाव भी कुछ चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अपना अनुराग प्रायः किसी चीज में सामान्य व्यक्ति की तरह नहीं रखता है। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति सदा चिंता-संसार में ही तल्लीन रहता है।

शारीरिक लक्षणों में हृदयगति (Heart beat), रक्तचाप (Blood pressure), साँसगति, पाचन और रसस्राव की क्रियाओं में परिवर्त्तन देखा जाता है। रक्तप्रवाह (Blood stream) में एड्रेनलिन के प्रभाव से जो पाचन-क्रिया में परिवर्त्तन होते हैं उनके कारण पट्टीय स्नायुओं (Striped Musculature) में तनाव आ जाता है। इसलिए रोगी अपने को शिथिल बनाने मे असमर्थ पाता है और इसीको अपनी अनिद्रा या थकावट का कारण भी समझता है। इस प्रकार रोगी शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के उपद्रवों से पीड़ित रहता है।

प्रकार:—हम चिंतामनोस्नायु-विकृति को दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं। पहले प्रकार को हम तीव्र चिंता (Acute Anxiety) कह सकते हैं। जब रोगी में उपर्युक्त लक्षणों का आविर्भाव सहसा और तीव्र रूप में होता है तो हमें इस प्रकार की चिंता का उदाहरण मिलता है। लक्षण इतने उग्र रूप धारण कर लेते हैं कि आतंक की परिस्थिति उपस्थित हो जाती है। ऐसे रोगियों का उल्लेख विभिन्न यूरोपीय एव अमरीकन मनोचिकित्सकों ने किया है। कुछ लोगों में चिंता निरंतर बनी रहती है। ऐसी चिंता को स्थायी चिंता (Chronic Anxiety) की संज्ञा विद्वानों ने दी है। यह पहले प्रकार-सी दारुण या आकस्मिक बहुत ही कम अवसरों पर होती है। ऐसी हालत में रोगी बराबर अज्ञात भावी दुर्घटनाओं की चिंता से घिरा रहता है। ऐसे रोगी भावी दुर्घटनाओं की चिंता से किसी प्रकार की क्रिया करने की हिम्मत नहीं करते। ऐसे रोगी

अपनी जीवनशैली और वातावरण में किसी प्रकार का नवीन परिवर्त्तन, चिंता के कारण नहीं चाहते हैं। विद्वानों ने इस प्रकार की चिंता को दो उपविभागों में बाँटा है। जिस चिंता के विषय में रोगी को कारण का कुछ भी आभास नहीं रहता ; लेकिन वह बराबर बेचैन बना रहता है, उसे मुक्ताचारी चिंता (Free Floating Anxiety) कहते हैं। लेकिन, रोगी जब अपनी चिता का सम्बन्ध किसी परिस्थिति-विशेष से प्रस्थापित कर देता है तो उसे निश्चित चिंता (Channeled or bound Anxiety) कहते हैं। प्रारंभ में चिंता, मुक्ताचारी प्रकार की ही रहती है ; लेकिन क्रमशः वह स्थायी रूप धारण करने लगती है और तब हम इसे निश्चित चिता कहते हैं।

कारण (Etiology) :—विभिन्न रोगियों का अध्ययन करके इस रोग के कारण के सम्बन्ध मे फ्रायड का कहना है कि चिंता का कारण लैंगिक इच्छा का दमन है। जब किसी व्यक्ति की लैंगिक शक्ति (libido) अत्यधिक उत्तेजित हो जाती है ; लेकिन उसे सतुष्टि नहीं होती हैं या उसका उपयोग नही होता है तब वही चिंता का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार लैंगिक शक्ति का अस्रवित (undischarged) रहना ही इस रोग का कारण है। अगर किसी स्त्री का पति लैंगिक कार्य के लिए असमर्थ हो या स्त्री मे ही ऐसा दोष हो कि उसमें लैंगिक उत्तेजना हो लेकिन, क्रियात्मक स्राव (Motor discharge) न हो तो वह चिंता-रोग से पीड़ित हो सकती है। इसी प्रकार पुरुष भी अपनी असमर्थता या स्त्री के दोषी होने के कारण इस रोग से पीड़ित हो सकता है। इस कारण के उदाहरणस्वरूप हम हिजरों को ले सकते हैं। फ्रायड ने, इस चिता को उत्पन्न करने मे आदर्शात्मा के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार उसके अनुसार लैगिक इच्छा का दमन और सघर्ष ही इस रोग का कारण है।

यद्यपि फ्रायड ने अपना निष्कर्ष अपने अध्ययनों के आधार पर आधारित किया है ; किंतु सभी विद्वान उससे सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में गार्डेन का कहना है कि इस रोग का कारण लैगिक इच्छा का दमन और उसका प्रतिबन्ध ही नहीं है, बल्कि यह किन्हीं दो सवेगों के सघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकता है। इसी विचार-धारा का समर्थन मेकडुगल ने भी किया है।

एडलर का इस सम्बन्ध में कहना है कि मनुष्य में आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल होती है ; कितु जब बचपन मे अनुशासन की शिथिलता के कारण व्यक्ति की बोधात्मा (Ego) का विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता

है तो वह हीन-परिज्ञान के भाव से पीड़ित रहने लगता है और उसकी आत्म-अस्थापन की प्रवृत्ति का दमन हो जाता है। अतएव व्यक्ति चिंता रोग से पीड़ित हो जाता है।

इसी प्रकार ओकेली (O'kelly) के शब्दों में इस रोग का कारण मानसिक संघर्ष (Conflict) तथा कुण्ठा (Frustration) है। यह संघर्ष और कुण्ठा किसी कारण से भी उत्पन्न हो सकती है। विभिन्न विद्वानों के विचारों को देखते हुए हमें ओकेली की यह उक्ति ही मान्य प्रतीत होती है। इस संघर्ष और कुण्ठा का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। इसका सम्बन्ध लैंगिक शक्ति या इच्छा से रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता है।

उपचार:—इस रोग के उपचार के लिए अधिकांश चिकित्सक संसूचन (Suggestion) का व्यवहार करते हैं और उनको अपने प्रयत्न मे क्षणिक सफलता भी मिलती है। बाद में पुनः लक्षण आविर्भूत हो जाते हैं और रोगी की दशा पूर्ववत हो जाती है। इसलिए स्वतंत्र साहचर्य के द्वारा रोगी की दमित इच्छाओं को जानकर उन्हे निर्मूल कर देने से यह रोग समूल नष्ट हो सकता है। पुनर्शिक्षण भी इसके उपचार में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त, रोगी को ऐसे वातावरण में रखने की व्यवस्था करनी चाहिए कि उसे अपनी चिंता का कम शिकार होना पड़े।

वाध्यता-मनोस्नायुविकृति

(Obsessive-compulsive Neurosis)

स्वरूप:—प्रारम्भ में विद्वानों का ऐसा दृष्टिकोण था कि कल्पनाग्रह (obsession) और वाध्यता (compulsion) दो स्वतन्त्र मानसिक व्याधियाँ हैं, जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध एक दूसरे से नहीं है। उस समय जब कोई व्यक्ति इच्छा न रहते हुए भी बार-बार एक ही विचार या कल्पना का शिकार होता था तो उसे कल्पनाग्रह-मनोस्नायु-विकृति (Obsessive-Neurosis) कहते थे और जब वह इसी प्रकार एक ही क्रिया को बाध्य होकर बार-बार करता था तो उसे वाध्यता-मनोस्नायु-विकृति (Compulsive Neurosis) कहते थे, लेकिन अब विभिन्न अध्ययनों से यह प्रमाणित हो चुका है कि दोनों ही पहलू एक ही मनोस्नायुविकृति के हैं। जहाँ एक रहता है वहाँ दूसरा भी रहता है। हाँ, प्रधानता कभी एक पहलू की रहती है तो कभी दूसरे पहलू की। कभी-कभी दोनों पहलू पूर्णतः सन्तुलित होने के कारण समान मात्रा में ही पाये जाते हैं। अतएव अब इन्हें अलग-अलग मनोस्नायु-विकृति की संज्ञा न देकर एक ही नाम दिया

जाता है। हमने अपनी तथा पाठकों की सुविधा के लिए वाध्यता-मनोस्नायु-विकृति (Obsessive-compulsive Neurosis) की ही सज्ञा दी है। इस पद की सार्थकता स्वयं स्पष्ट हो जायगी, यदि पाठक इसके स्वरूप को समझने के लिए यह ध्यान में रखे कि वाध्यता-मनोस्नायुविकृति वह मानसिक रोग है, जिससे पीड़ित होने से रोगी एक ही अतार्किक एवं अवांछित विचार या क्रिया का बार-बार शिकार होता है। रोगी किसी विचार को अपने मन में बार-बार आने नहीं देना चाहता है तथापि वह विचार उसके मानस-पटल पर बार-बार छाया करता है। इसी प्रकार वह किसी क्रिया-विशेष को करना युक्तिसगत नहीं समझता है, लेकिन वह उसे बार-बार करने के लिए विवश होता है। हाथ साफ रहने पर भी बार-बार हाथ धोना, सख्या-विशेष को बराबर गिनना, बार-बार बन्द दरवाजे को लौटकर देखना आदि वाध्यता-मनोस्नायुविकृति के उदाहरण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाध्यता मानसिक और शारीरिक दोनों पहलुओं में देखी जाती है। इसीलिए हमने इसे वाध्यता-मनोस्नायुविकृति के नाम से अभिव्यक्त करना ही विशेष युक्तिसंगत समझा है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस प्रकार की वाध्यता हमारे सामान्य दैनिक जीवन मे भी देखने मे आती है। इसलिए इसके स्पष्ट ज्ञान के लिए सामान्य जीवन की वाध्यता और मानसिक व्याधि की वाध्यता को ध्यान मे रखना पाठकों के लिए परमावश्यक है।

जब हम इन दोनों के अन्तरों पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि मनोव्याधि की वाध्यता निरर्थक और हास्यास्पद मालूम होती है; किन्तु रोगी उसको नियन्त्रित करने में पूर्णत: असमर्थ होता है, इसलिए बेचैनी का कभी-कभी वह बहुत अनुभव करता है।

मनोव्याधि की वाध्यता बार-बार करने और सोचने के लिए वाध्य करती है और रोगी को कभी उससे छुटकारा नहीं होता है; किन्तु सामान्य जीवन में एक बार कर या सोच लेने पर उससे छुटकारा हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप, जिस रोगी को दरवाजा लगाने की वाध्यता हो जाती है वह दरवाजा लगा देने पर भी बराबर संदेह करता है कि उसने दरवाजा नहीं लगाया है। फलस्वरूप वह बार-बार दरवाजे तक उसे बन्द करने जाता है; लेकिन सामान्य व्यक्ति में जब सन्देह होता है तो केवल एक बार देखने से ही उसे छुटकारा मिल जाता है और वह दूसरे काम में लग जाता है, जबकि वाध्यता के रोगी को दूसरे कामों को करने की फ़ुरसत नहीं मिलती है।

मनोव्याधि की बाध्यता सामाजिक एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोण से घातक होती है; लेकिन सामान्य बाध्यता में ऐसी बात नहीं पायी जाती है। जिसमें चोरी करने या आग लगाने की बाध्यता होती है उसे वैधानिक दण्ड का भी भागी होना पड़ता है और उसकी क्रिया से समाज को भी क्षति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाध्यता-मनोस्नायु-विकृति सामान्य बाध्यता से पूर्णतः भिन्न है।

लक्षण:—इसके लक्षणो का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य में जब मानसिक बाध्यता (Obsession) की प्रधानता रहती है तो उस समय उसमे सवेगात्मक तनाव (Emotional Tension) की अवस्था रहती है। वह अपना ध्यान किसी विषय या क्रिया पर लगाने में अपनेको पूर्णतः असमर्थ पाता है। जो रोगी अपने को बुरा व्यक्ति मानता है वह बराबर इसी विचार मे मग्न रहता है कि उसे क्या दण्ड मिलना सभव है या दूसरे लोग उसके विषय में क्या सोचते या कहते हैं। इस विचार से वह इतना पीड़ित रहता है कि न तो उसका मन ही किसी काम में ध्यानाभाव के कारण लगता है और न अच्छी तरह वह सुख की नींद ही लेता है। उसे भूख की संवेदना भी नहीं के बराबर होती है। रोगी की ऐसी अवस्था उसे बेचैन और चिड़चिड़ा बना देती है। कभी-कभी रोगी के विचार अवाछित और दुःखद स्वरूप के नहीं भी होते हैं; लेकिन उस समय भी वे पुनरावृत्ति (Frequency) की अधिकता के कारण व्याघातक सिद्ध होते हैं। विद्वानों का विश्वास है कि विचार की बाध्यता कभी-कभी मनुष्य को शक्ति से बाहर काम करने को प्रोत्साहित करती है। कहा जाता है कि हिटलर में ससार पर शासन करने के विचार की बाध्यता थी; इसलिए वह अपने जीवन में इतना अधिक काम कर सका कि उसका नाम इतिहास में सदा अमर रहेगा। इस सम्बन्ध में यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मानसिक बाध्यता मे प्रायः उभयमुखता भी देखने मे आती है। इसीलिए कभी-कभी हमलोगों के मानस-पटल पर अपने माता-पिता, सम्बन्धी या प्रेयसी की मृत्यु या दुर्घटना का विचार, इच्छा न रहते हुए भी, आया करता है। एक ओर तो हम उन्हें प्रेम या स्नेह करते हैं दूसरी ओर उनके सम्बन्ध के अशुभ विचारों से पीड़ित रहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रेम और घृणा, सम्मान और अपमान के विरोधी भाव साथ-साथ काम करते हैं।

क्रियात्मक बाध्यता भी प्रारभिक रूप में सभी व्यक्तियों में पायी जाती है; लेकिन जब यह उग्र रूप धारण कर लेती है तो मनोस्नायु विकृति का रूप ले लेती है। इसमें भी सवेगात्मक तनाव के ही अकुर रहते हैं। इसीलिए यदि

कोई रोगी किसी वाह्य कारण से वाध्यता की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाता है तो उस समय उसमें आतंक-प्रतिक्रियाएँ (Panic-Reactions) देखने में आती हैं। एक बालक में अन्य साथियों की पेंसिल लेने की वाध्यता थी; किन्तु जब उसमें रुकावट पड़ गयी तो वह अत्यधिक क्षुब्ध, बेचैन, चिड़चिड़ा और क्रुद्ध हुआ। इस प्रकार की वाध्यता के कारण जो संवेगात्मक तनाव आविर्भूत होता है उससे पाचनक्रिया रुक जाती है और रोगी के खाने की आदत में भी परिवर्त्तन आ जाता है। इसके अतिरिक्त, चिड़चिड़ा और बेचैन होने से रोगी को गंभीर निद्रा भी नहीं आती है। चुराने की वाध्यता को अपहरण-वाध्यता (Kleptomania), आग लगाने की बाध्यता को अग्नि-वाध्यता (Pyromania) तथा गिनने की वाध्यता को संख्या-वाध्यता (Numeromania) कहते हैं। इसी प्रकार अन्य वाध्यताओं के भी पारिभाषिक नाम हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं। कभी-कभी क्रियात्मक वाध्यता को झक (Mania) भी कहते हैं, जिसका व्यवहार हमलोग प्रायः अपने जीवन में नित्यप्रति ही करते हैं। हाथ धोने, बाल झाड़ने, सामान धोने, घर साफ करने, रुपया गिनने, सख्या-विशेष के उच्चारण करने, सड़क पर गड़े पत्थरो को छूने, पुस्तक की पक्तियों को पेंसिल या कलम से चिह्नित करने के वाध्य व्यवहार हमलोगों के दैनिक जीवन में अधिकांशतः देखने में आते हैं। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति अधिकांशतः आदर्शवादी, धार्मिक अथवा आत्मग्लानि से पीड़ित स्वरूप का देखने में आता है, जिसका अध्ययन उसके व्यवहार के विश्लेषण करने पर ही संभव है।

इस प्रकार की वाध्यता का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण 'माडर्न एबनार्मल साइकोलाजी' (Modern Abnormal Psychology) में पीटर डी. फ्लेमिंग (Peter D. Fleming) ने दिया है, जिसका उल्लेख यहाँ कर देना अप्रासगिक नहीं होगा। एक सत्रह वर्ष का विद्यार्थी निरंतर इस विचार से पीड़ित रहने लगा कि अपने भत्ता (Allowance) से किस प्रकार कुछ बचावे कि वह कालेज के खर्च करने में समर्थ हो सके। इसके लिए उसने एक युक्ति निकाली। जो कुछ भी वह मनोरंजन में खर्च करना चाहता था उसका दस प्रतिशत निकालकर अलग रख देता था। अपने पास से सिगरेट पीने पर प्रत्येक सिगरेट के लिए सेण्ट का दसवाँ हिस्सा अलग रखता था। अपने द्वारा उच्चारित प्रत्येक अपशब्द के लिए वह स्वयं एक सेण्ट अलग रखकर अपने को दण्डित करता था। यदि ऐसा बुरा विचार उसके मन में आता था तो उसके लिए आधा सेण्ट रखता था। दिनभर वह इसका नोट तैयार करता था और रात मे विशद रूप में उस हिसाब की प्रतिपन्नता और

यथार्थता के लिए आलोचनात्मक दृष्टि से उस नोट का अध्ययन करता था। सिगरेटों की संख्या को निश्चित करने के लिए कि कितना उसने स्वयं पीया, कितना साथियों को प्रदान किया या अन्य साथियों ने कितने सिगरेट दिये, उसे नित्यप्रति कई साथियों को फोन भी रात मे करना पड़ता था। वह विद्यार्थी अपने इस विचार और क्रिया की निरर्थकता को अच्छी तरह समझता था और ऐसा करने से बहुत तग भी था, तथापि वह वैसा सोचने और करने के लिए न चाहने पर भी वाध्य था। इसलिए वह ऐसा सोचता और करता था। इसी प्रकार का शास्त्रीय उदाहरण शेक्सपीयर ने भी वाध्यता के सम्बन्ध में अपनी 'मैकवेथ' नामक पुस्तक मे दिया है जिसका अध्ययन पाठक कर सकते हैं।

कारण (Etiology) :—वाध्यता-मनोस्नायु-विकृति के कारण के सम्बन्ध में भी 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ होती है; क्योंकि कारण को लेकर अधिकांश विद्वानों में मतभेद है। उन सभी कारणों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, क्योकि आज के युग में उनमें से अधिकांश कारण प्रभावहीन प्रमाणित हो चुके हैं।

कहना चाहें तो वाध्यता-मनोस्नायु-विकृति के कारण के सम्बन्ध में यह निर्विवाद रूप में कह सकते हैं कि बाध्यता के मूल में किसी विचार या क्रिया की पुनरावृत्ति का हाथ रहता है। बचपन में बहुत से खेल इस प्रकार के होते हैं, जिनमें किसी शब्द या संख्या विशेष को बार-बार उच्चारित करना पड़ता है या एक ही क्रिया को खेल के नियमों को पालन करने के लिए बार-बार दुहराना पड़ता है। कालक्रम मे उस शब्द या संख्या को उच्चारित करने या किसी क्रिया विशेष को बार-बार करने से उसकी आदत पड़ जाती है। परिणामत: व्यक्ति आगे चलकर वाध्यता से पीड़ित हो जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर सभी प्रकार की वाध्यताओ की व्याख्या करने का प्रयास किया है; लेकिन उन्हें अपने प्रयत्न में पूरी सफलता नहीं मिल सकी है। यह कारण आंशिक सत्य का प्रतिपादन करता है, अतएव कुछ स्थलों के लिए ही मान्य है, सभी स्थलों के लिए नहीं।

लीविस (Lewis) ने वाध्यता के सौ रोगियों का अध्ययन करके वंशानुक्रम को इसका कारण व्यक्त किया है। उसने जिन रोगियों का अध्ययन किया है, उनमे अठारह रोगियों के ही माता-पिता सामान्य थे और अवशेष सभी के स्नायु-विकृति (Nervousness) के शिकार थे। इस अंग को शक्तिशाली वनाने में अनुशासन की कठोरता और शिथिलता का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इसलिए वंशानुक्रम के साथ-साथ उसने पारिवारिक वातावरण के महत्त्व को भी स्वीकार किया है और कुछ अंशों में

यह ठीक भी है। वंशानुक्रम का इस रोग को उत्पन्न करने में कितना हाथ रहता है इसे तो हम निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकते हैं; लेकिन पारिवारिक वातावरण के सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है। हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि आदत का इस रोग में क्या हाथ रहता है। इसलिए हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि पारिवारिक वातावरण कुछ आदतों का कारण होता है, जो आगे चलकर वाध्यता में परिवर्तित हो जाती हैं।

कुछ विद्वानो ने अन्तमु खी व्यक्तित्व को इसका कारण माना है। उनका कहना है कि ऐसे व्यक्ति भावुक (Sensitive), बुद्धिमान, किन्तु सामाजिक दृष्टि से अपूर्ण होते हैं। इसलिए अपनी असुरक्षा के भाव की परिपूर्ति (Compensation) वाध्यता से करते हैं। इसलिए बार-बार रुपया को गिनते या सामानों को सँभालते और सबको यथास्थान रखने की कोशिश करते हैं। अपनी इस वाध्यता के कारण अपने जीवन के आनन्द से तो वंचित ही होते हैं अपने अधीन के व्यक्तियों के जीवन को भी अपने आदर्शों के कारण नीरस बना देते हैं। यह कारण सभी स्थलों पर तो नहीं; किन्तु कुछ स्थलो पर अवश्य ही मान्य हो सकता है।

इसी तरह कुछ लोगों ने इसकी व्याख्या स्थानापन्नता (Substitution) के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य एक समय में एक ही क्रिया को कर सकता है या एक ही विचार को अपने मन में स्थान दे सकता है। इसीलिए किसी अनर्गल विचार या क्रिया से बचने के लिए वह साधारण कोटि की वाध्यता का आश्रय लेता है। इसलिए वाध्यता एक प्रकार की रक्षात्मक (Protective) प्रतिक्रिया है और रोगी को दुखद विचारों या क्रियाओं से बचाती है। अगर इस कारण की सार्थकता पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि कुछ वाध्यताओं की व्याख्या इसके आधार पर सफलतापूर्वक हो सकती है; किन्तु सभी की नहीं। अतएव यह कारण भी आंशिक सत्य को ही व्यक्त करता है और सर्वांग सुन्दर नहीं कहा जा सकता।

फ्रायड ने जैसे अन्य रोगो की व्याख्या लैंगिकता के आधार पर की है उसी प्रकार वाध्यता की भी व्याख्या की है। उसका कहना है कि जब अबोधात्मा (Id) की लैंगिक इच्छा की संतुष्टि आदर्शात्मा (Super-Ego) के कठोर प्रतिबन्ध के कारण नहीं होती तो उसका दमन व्यक्ति में मानसिक संघर्ष उत्पन्न कर देता है। इसके फलस्वरूप इस संघर्ष से निमु क्त होने के लिये वाध्यता के रोग से व्यक्ति पीड़ित हो जाता है। फ्रायड ने इस रोग में लैंगिक शक्ति के प्रत्यावर्तन और उसकी असंतुष्टि पर विशेष जोर दिया है।

हाथ धोने की वाध्यता को उसने हस्तमैथुन-वृत्ति का परिचायक व्यक्त किया है। इसी प्रकार उसने सभी प्रकार की वाध्यताओं की व्याख्या लैंगिक इच्छा की असंतुष्टि और उस शक्ति के प्रत्यावर्तन से समुत्पन्न मानसिक संघर्ष के आधार पर की है; लेकिन उसे सभी प्रकार से अपने प्रयास में सफलता नहीं मिल सकी है; क्योंकि सभी विद्वान इस सम्बन्ध में उससे सहमत नहीं हैं।

अन्य विद्वानों ने मानसिक संघर्ष और संवेगात्मक तनाव को इसका कारण माना है; लेकिन यह संघर्ष लैंगिकता के ही फलस्वरूप हो यह आवश्यक नहीं है। इस दिशा मे उनका कहना है कि तीव्र संवेगात्मक अनुभव से मनुष्य में लज्जा या दोष के भाव अंकुरित हो जाते हैं और उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप मनुष्य वाध्यता की प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन करता है। अन्धकार का भय, छड़ी लेकर चलने की वाध्यता का, या हस्तमैथुन की प्रवृत्ति हाथ धोने की वाध्यता का, कारण होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाध्यता की व्याख्या कई आधारो पर की गयी है; लेकिन निष्कर्ष-स्वरूप हम यही कहना उचित समझते हैं कि अधिकांश अवसरों पर वाध्यता के मूल में संवेगात्मक या मानसिक संघर्ष का ही हाथ रहता है। कुछ स्थलों पर आदत के महत्त्व को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

उपचार :—यों तो इस रोग के कारण को जानने के लिए स्वतन्त्र साहचर्य, सम्मोहन और मनोविश्लेषण का व्यवहार करना विशेष लाभप्रद होता है; लेकिन लक्षणों को निर्मूल करने के लिए संसूचन का आश्रय भी लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यथासंभव अन्य मनोचिकित्सा-विधियों का भी व्यवहार किया जा सकता है। आजकल रोगी की अवस्था सुधारने के लिए आघात-चिकित्सा (Shock therapy) और सूई (Injection) का भी व्यवहार होता है; किन्तु पुराने रोगियों के सुधार में वर्षों लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त डाक्टर द्वारा शारीरिक परीक्षा करवाना और रोगी के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करके उसे विभिन्न रुचिकर कामों में लगाना भी उसकी अवस्था सुधारने में सहायक होता है।

चिता-उन्माद (Anxiety Hysteria)

स्वरूप :—चिता-उन्माद जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उन्माद (hysteria) का एक प्रकार है। प्रारम्भ में इसे विद्वान विकृत-भय या आतंक (phobia) के नाम से व्यक्त करते थे; लेकिन अब सभी इसे स्वीकार करने लगे हैं कि यह उन्माद का ही विशेष प्रकार है; लेकिन अभी तक विद्वानों में यह विवाद चला आ रहा है कि चिता-उन्माद के अन्तर्गत

आतंक के ही विभिन्न पहलुओं की परिगणना होनी चाहिये अथवा रूपान्तरित उन्माद की भी, जिसमें चिंता की कम प्रधानता नहीं रहती। आगे चलकर विद्वानों का क्या निष्कर्ष होगा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता ; लेकिन वर्त्तमान युग में अभी तक चिन्ता-उन्माद के अन्तगत आतंक के विभिन्न पहलुओं का ही समन्वय किया जाता है।

जब कोई व्यक्ति निराधार और प्रबल भय से पीड़ित रहता है तो उसकी इस अवस्था को हम चिंता-उन्माद कहते हैं। जो विषय, पदार्थ या परिस्थिति सामान्य व्यक्ति में किसी प्रकार का भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती है वही उस व्यक्ति के भय का कारण होती है। इसके अतिरिक्त भी वह व्यक्ति उस परिस्थिति से इतना अधिक भयभीत होता है कि सामान्य व्यक्ति में वह परिस्थिति कभी भी उतना भय उत्पन्न करने में समर्थ नही होती है। वस्तुतः रोगी का भय अत्यधिक अतिरंजित रहता है और बच्चों के भय से अधिक मिलता-जुलता है। जिस प्रकार बच्चे अन्धेरे, एकान्त स्थान, या अकेले में डरते हैं उसी प्रकार चिंता-उन्माद के रोगी भी ऐसी ही विभिन्न परिस्थितियों से अधिक डरते हैं। एक युवती, जो इस प्रकार के उन्माद का शिकार थी, कहीं अकेले जाने में डरती थी। इसलिए जब कभी उसे जाने की जरूरत होती तो वह अपनी माता को साथ लेकर ही बाहर निकलती थी, जिससे माता के दैनिक कार्यों में अत्यधिक व्याघात पड़ता था।

इसके स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए इसके और सामान्य चिंता के अन्तरो पर विचार करना आवश्यक है।

साधारण भय क्षणिक होता है ; क्योंकि कारण के हट जाने से व्यक्ति का भय या चिंता भी दूर हो जाती है, किंतु उन्माद की चिन्ता स्थायी होती है और रोगी के व्यक्तित्व का एक भाग बन जाती है। इतना ही नहीं ; बल्कि उन्मादी चिन्ता सामान्य चिन्ता से बहुत अधिक प्रबल एवं उग्र होती है। रोगी जिन कारणो से चिन्तित होता है वे कारण साधारण चिंता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। रोगी अपनी चिन्ता को निराधार और असंगत समझता है ; लेकिन उसे रोकने में असमर्थ होता है। लेकिन, साधारण व्यक्ति जब भयभीत होता है तो उसे उचित समझता है और समझाने पर उसे नियन्त्रित करने में सफल भी होता है। इसके अतिरिक्त, उन्मादी चिंता को सम्बद्धता (conditioning) के द्वारा हटाना संभव नहीं है ; लेकिन साधारण चिन्ता को इस विधि से दूर कर देना पूर्णतः सभव एवं आसान है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उन्मादी चिन्ता को कायरता समझना ठीक नहीं है ; क्योंकि सामान्य व्यक्ति अपनी कायरता का उचित

कारण व्यक्त करता है जब कि उन्मादी व्यक्ति अपनी चिन्ता को युक्त्याभास (Rationalization) द्वारा प्रतिपन्न करने की कोशिश नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चिन्ता-उन्माद में रोगी कभी तो स्वतन्त्र चिन्ताओं का शिकार हो जाता है और निरन्तर चिन्ताओं में मग्न रहता है तो कभी उसकी चिन्ता स्थान, वस्तु या परिस्थिति विशेष से आबद्ध हो जाती है और वह चिंता से पीड़ित रहता है। इसके अतिरिक्त रोगी की चिन्ता की अभिव्यक्ति उसकी शारीरिक क्रियाओं—यथा—काँपना, थरथराना, हृदय की धड़कन, वेहोश होना आदि के द्वारा भी होती है।

लक्षण और प्रकारः—चिंता-उन्माद के लक्षणों का अध्ययन उनके विभिन्न प्रकारो मे ही करना विशेष सुविधाजनक है। इसलिए यहाँ उन प्रकारों का उल्लेख करना आवश्यक है।

कुछ विद्वानों ने इस रोग का वर्गीकरण उन उत्तेजनाओं के आधार पर किया है जो रोगियो की चिंता या भय का कारण होती हैं। लेकिन इस आधार पर इस रोग का वर्गीकरण संभव नहीं है; क्योंकि इस प्रकार ज्यों-ज्यों ऐसी उत्तेजनाओं की संख्या बढ़ती जायगी त्यों त्यों प्रकारो की संख्या मे भी वृद्धि होती जायगी। यहाँ पर इस दृष्टि से कुछ प्रकारों का नाम मात्र का ही उल्लेख करना हम पर्याप्त समझते हैं।

जब कोई रोगी खुले स्थान से भयभीत होता है तो उसके इस भय को खुले स्थान का भय (Agrophobia) कहते हैं। इसी प्रकार ऊँचे स्थान का भय (Acrophobia), बंद स्थान का भय (Claustrophobia), भीड़ का भय (Ochlophobia), चलने का भय (Locomotion phobia), रोग का भय (Patho phobia), पशुभय (Zoophobia), विष देने का भय (Toxophobia) आदि विभिन्न प्रकार हैं, जिनकी व्याख्या आवश्यक नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिता उन्माद को तीन प्रकारों में विभक्त करना सभव है—सरल राशिभूत चिता-उन्माद (Simple concrete Anxiety-Hysteria), प्रतीकात्मक राशिभूत चिंता-उन्माद (Symbolic concrete Anxiety Hysteria) तथा प्रतीकात्मक अमूर्त चिंता-उन्माद (Symbolic Abstract Anxiety Hysteria)।

सरल-राशिभूत-चिंता-उन्माद में रोगी को किसी राशिभूत (Concrete) पदार्थ से भय होता है। पानी या अन्य पदार्थों से भयभीत होना इसी चिंता-उन्माद का उदाहरण है। फिशर (Fisher) ने अपनी

पुस्तक में इस प्रकार के चिन्ता-उन्माद का उदाहरण दिया है। एक युवती को बहते पानी और उसकी कल-कल ध्वनि से भय लगता था। वह स्कूल-जीवन में पानी के फव्वारे की ध्वनि से बेहोश हो गयी थी। रेलगाड़ी से यात्रा करते समय वह गाड़ी की खिड़कियों को इसलिए बन्द कर लेती थी कि उसे बहता हुआ पानी न दिखलाई दे।

प्रतीकात्मक राशिभूत चिंता-उन्माद में रोगी को मूर्त्त पदार्थों से ही भय लगता है; किंतु वे पदार्थ वस्तुतः प्रतीकात्मक (Symbolical) ही होते हैं। वे पदार्थ स्वतः भय के कारण नहीं होते; लेकिन उनका संकेत किन्हीं अन्य पदार्थों से रहता है, इसलिए रोगी उनसे भयभीत होता है। चाकू, कुर्सी आदि से डरना इस प्रकार के उन्माद का उदाहरण है। एक युवती को चाकू से इतना भय था कि वह रात में सोती तक नहीं थी। उसे बराबर यही भय बना रहता कि सोने पर उसकी माँ चाकू से हत्या कर देगी। वह स्वयं कभी चाकू को छूना या देखना भी नहीं चाहती थी।

बन्द, खुली या ऊँची जगहों से भयभीत होना प्रतीकात्मक अमूर्त चिन्ता-उन्माद के उदाहरण हैं। ऐसे स्थान किन्हीं अन्य उत्तेजनाओं के प्रतीक होने के कारण रोगी में भय उत्पन्न करते हैं। मृत्यु या एकान्त भय भी इसी कोटि में आते हैं। एक स्त्री चलने से इतनी भय करती थी कि जब उसे एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना होता था तो उसका नौकर उसे कुर्सी पर उठाकर ले जाता था। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण विभिन्न प्रकार के चिंता-उन्माद के असामान्य मनोविज्ञान की पुस्तकों और दैनिक जीवन की घटनाओं से दिये जा सकते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है। जिस समय व्यक्ति मे यह रोग नहीं रहता उस समय वह बहुत ही खुश और सामान्य दृष्टिगोचर होता है; लेकिन जिस समय वह रोग से पीड़ित होता है उस समय उसमें दैहिक और मानसिक दोनों प्रकार के विभिन्न लक्षण दिखलाई पड़ते हैं।

शारीरिक लक्षणों मे रोगी के शरीर के थरथराने, हृदय की धड़कन के बढ़ने तथा बेहोश होने के व्यापारों की प्रधानता रहती है। कभी-कभी एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति भी देखने मे आती है। जब रोगी भय उत्पन्न करनेवाली उत्तेजना के सम्पर्क में आता है तो उसका शरीर डर के मारे काँपने लगता है, पसीना शरीर से छूटने लगता है, उसका हृदय तीव्र गति से धक-धक करने लगता है और भय की तीव्रता बढ़ने पर वह भय के मारे मूर्छित होकर गिर भी पड़ता है। लेखक के एक अध्यापक-मित्र इसी चिंता-उन्माद से पीड़ित हैं। वे नीचे से ऊपर लाइब्रेरी में जाते समय अकेले

अत्यधिक भयभीत होते हैं, इसलिए जब कभी उन्हें पुस्तकालय में जाना होता है तो किसी को साथ ले लेते हैं। वे कहीं अकेले जाने में भी डरते हैं, इसलिए जब कभी कहीं जाते हैं तो किसी को साथ अवश्य ले लेते हैं। वे अपने विषय के प्रकाण्ड विद्वान हैं और अपने इस रोग से पूर्णतः परिचित हैं; लेकिन अभी तक विभिन्न अड़चनों से वे अपनी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा नहीं करा सके हैं।

इस रोग के मानसिक लक्षणों में भय, बेचैनी, आकुलता आदि अनुभूतियों की प्रधानता रहती है। अनिद्रा (Insomnia) भी इस रोग का प्रधान लक्षण है। इसके अतिरिक्त इस रोग में विस्थापन (Displacement), प्रक्षेपण (Projection), अन्तःक्षेपण (Introjection), प्रत्यावर्तन (Regression) और आक्रामकता Aggression) की मनोरचनाओं (Mental mechanisms) की भी प्रचुरता रोगी में देखने में आती है। अगर कोई व्यक्ति किसी गली या एकान्त स्थान से डरता है तो उसका यह डरना विस्थापन के ही कारण होता है। किसी अन्य घटना या अनुभव का भाव ऐसे स्थानों से आबद्ध हो जाता है और रोगी अकारण डरने लगता है। प्रक्षेपण मनोरचना का उदाहरण देते समय ओटोफेनिकेल (Otto Fenichel) ने एक स्त्रैण स्वभाव के नवयुवक का उल्लेख किया है, जो मुर्गियों को देखकर अत्यधिक भयभीत होता था। वस्तुतः उसके उस भय मे प्रक्षेपण की ही प्रधानता थी; क्योंकि वह मुर्गियों को देखकर अपनी आन्तरिक मूलप्रवृत्त्यात्मक संघर्षों (Internal Instinctual Conflicts) का ही प्रक्षेपण करके भय का प्रदर्शन करता था। पाठक इसकी विशेष जानकारी के लिए फेनिकेल की 'साइको एनलिटिक थिउरी ऑव न्युरोसिस' के १९९वें पृष्ठ का अध्ययन कर सकते हैं।

सँकड़ी या चौड़ी गली से डरने में कभी तो प्रक्षेपण की प्रधानता रहती है और कभी अन्तःक्षेपण की। इसलिए रोगी में कोई भी मनोरचना रोग के आक्रमण के समय काम कर सकती है। हम जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, इसमें प्रत्यावर्तन की मनोरचना भी काम करती है। इसीलिए रोगी बच्चों के समान व्यवहार करता है। जिस प्रकार छोटा बच्चा अन्धेरे में जाने से डरता है इसलिए अपनी माता या नौकर को साथ ले लेता है, उसी प्रकार चिन्ता-उन्मादी, जो खुली या बन्द जगह से डरता है, अपनी रक्षा के लिए किसी-का आश्रय लेना आवश्यक समझता है। इसी अर्थ में उसमें प्रत्यावर्तन मनो-रचना की प्रधानता रहती है। लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि

ऐसी अवस्था में सभी स्थलों पर रोगी का साथी आश्रय या संरक्षक का ही काम नहीं करता है; बल्कि वह रोगी की घृणा का पात्र भी हो जाता है। इसीलिए चिन्ता-उन्माद में आक्रामक वृत्ति का भी आरोपण किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ रोगियों में इस रोग की प्रबलता की हालत में अपने ध्यान को केन्द्रीभूत करने में असमर्थता भी पायी जाती है। कुछ रोगी अपनी सुरक्षा के लिए उन उत्तेजनाओं की उपस्थिति आवश्यक समझते हैं, जिनसे वे स्वयं डरते हैं। ऐसी इच्छा वस्तुतः उनमें अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए ही होती है। लेकिन, इसकी विशद व्याख्या यहाँ संभव नहीं है। हाँ, रोग की प्रबलता में कभी-कभी रोगी निरंतर एक ही विचार से पीड़ित रहता है जिसे हम बाध्यता (Obsession) कह सकते हैं।

कारण :—जैसे अन्य मानसिक बीमारियों के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है उसी प्रकार चिंता-उन्माद के सम्बन्ध में भी उनमें मतभेद है। बहुत-से विद्वानों ने, जिनमें व्यवहारवादियों का मुख्य स्थान है, इस रोग की व्याख्या सम्बद्धता के आधार पर की है। उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए कई अकाट्य प्रमाण भी उपस्थित किये हैं और कुछ अंशों में उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी मिली है। लेकिन, इतना होते हुए भी उनका दृष्टिकोण सर्वमान्य नहीं हो सका है। अतएव हम इसे प्रधान और एकमात्र कारण चिन्ता-उन्माद का नहीं कह सकते।

इसकी व्याख्या करने के लिए कुछ विद्वानों का कहना है कि बचपन में किसी सवेगात्मक आघात (Emotional Shock) के कारण व्यक्ति में कुछ प्रतिक्रिया संघात (Reaction-Patterns) प्रस्थापित हो जाते हैं, जिनका संश्लेषण (Synthesis) व्यक्तित्व में नहीं होता। इसलिए जब यह संघात कभी आविर्भूत होता है तो उसपर किसी प्रकार का प्रभाव व्यक्तित्व का नहीं पड़ता है और हमलोग व्यक्ति-विशेष को चिन्ता-उन्मादी के नाम से व्यक्त करते हैं। घटना की याद रखना व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है, लेकिन जब वह वैसी ही परिस्थिति का सामना करता है तो वह पूर्व प्रस्थापित संघात का ही प्रदर्शन करता है। मोसो (Mosso) ने इसकी पुष्टि में एक सैनिक का उदाहरण भी उपस्थित किया है और वस्तुतः इस आधार पर किसी प्रकार के भी चिन्ता-उन्माद की व्याख्या की जा सकती है; लेकिन यहाँ उपर्युक्त सिद्धान्त को ही दूसरे रूप में व्यक्त किया गया है। अतएव यह भी पूर्णतः मान्य नहीं कहा जा सकता है।

जैने (Janet) ने इसकी व्याख्या व्यवसाय-क्रिया (will) की अव्यवस्था के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि ऐसे

व्यक्तियों का व्यवसाय सामान्य रूप से विकसित नहीं रहता, इसलिए इनका अभियोजन परिस्थिति के अनुकूल नहीं होता। ऐसे लोग अपना ध्यान भी परिस्थिति पर लगाने मे असमर्थ होते हैं। ध्यानावस्थित रहने से घातक विचारों का आगमन नहीं होता और व्यक्ति परिस्थिति की वास्तविकता को भी जानता है। अतएव व्यवसाय-क्रिया की अव्यवस्था के कारण ही व्यक्ति चिंता-उन्माद का शिकार होता है। लेकिन, जैने (Janet) को अपनी व्याख्या में सफलता नहीं मिल सकी है और विद्वानों ने इसकी काफी आलोचना की है।

फ्रायड तथा उसके अनुयायियों का कहना है कि इस रोग के रोगी का मनोलैंगिक विकास ओडिपस-अवस्था (Oedipus phase) तक होकर ही अवरुद्ध हो जाता है। हम जानते हैं, फ्रायड के अनुसार, उस अवस्था में बच्चों में माता-पिता के प्रति अवाछित लैंगिक इच्छा रहती है। अतः चिन्ता-उन्माद के रोगी में भी यह अवांछित लैंगिक इच्छा (incest sexual desire) बनी रहती है, जिसकी पूर्ति वह करना चाहता है; किन्तु सयाना हो जाने के कारण उसकी बलिष्ठ आदर्शात्मा उसे ऐसा नहीं करने देती। फलतः एक मानसिक संघर्ष छिड़ जाता है, जिसका समाधान चिन्ता-उन्माद के लक्षणों द्वारा होता है। व्यक्ति की लैगिक शक्ति का प्रत्यावर्तन (Regression) लिंग प्रधानावस्था (Phallic Stage) में होने के कारण वह बच्चों-सा व्यवहार प्रदर्शित करता है। इस प्रकार फ्रायड ने अवांछित लैगिक इच्छा की प्रबलता को ही इस रोग का प्रधान कारण माना है।

अन्य विद्वान फ्रायड से सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य के जीवन मे लैंगिक इच्छा के अतिरिक्त और इच्छाओं की भी प्रधानता है। इसलिए किसी प्रकार की इच्छा का दमन होना इस रोग का कारण हो सकता है। यही दृष्टिकोण अधिकाश विद्वान मानते हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में यह व्यक्त कर देना अप्रासगिक नहीं होगा कि कुछ स्थलों के लिए फ्रायड की व्याख्या पूर्णतः मान्य है; लेकिन सभी स्थलों के लिए नहीं। इसलिए हम यही कहना उचित समझते हैं कि जब किसी प्रकार की अवांछित इच्छा का दमन हो जाता है तो वे दमित इच्छाएँ छद्मवेश में चिंता उन्माद के लक्षणों में आविर्भूत होकर अप्रत्यक्ष रूप से अपनी सतुष्टि करती हैं। कहीं-कहीं सम्बद्धता का भी हाथ इस रोग को उत्पन्न करने में रहता है; लेकिन सभी जगह नहीं।

उपचार :—यों तो इसके लक्षणों को संसूचन के आश्रय से निर्मूल किया

जा सकता है; लेकिन यह स्थायी नहीं होता। अतएव रोग का कारण जानने के लिए स्वतंत्र साहचर्य, सम्मोहन, स्वप्न-विश्लेषण तथा मनोविश्लेषण-विधियों का आश्रय लेना जरूरी है। कारण को निमूर्ल कर देने से यह रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। जब रोगी को कारण का चेतन-ज्ञान हो जाता है तो उसकी चिंता स्वतः निमूर्ल हो जाती है। इसलिए चिकित्सक को व्यक्ति का व्यक्ति इतिहास जानकर ही इस रोग का उपचार करना श्रेयस्कर है।

उन्माद (Hysteria)

स्वरूप :—हिस्टीरिया अथवा उन्माद का विकासात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि यह रोग बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। यद्यपि आज की तरह पहले इसे कोई मानसिक रोग नहीं मानता था; लेकिन इसकी चिकित्सा का उल्लेख उस समय से ही होता आया है जबकि यूनान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। भारतीय ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा यत्र-तत्र देखने में आती है; लेकिन चिकित्सा शारीरिक या झाड़-फूँक ही रही है। आज भी अधिकांश भारतीय नर-नारी इसे एक प्रकार का भूत या प्रेत-बाधा समझते हैं और जब कोई व्यक्ति इस रोग से पीड़ित होता है तो ओझा या यन्त्र-मंत्र की शरण लेते हैं। लेकिन, हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न के फलस्वरूप इसकी सत्यता का उद्घाटन हो चुका है और इस वैज्ञानिक युग में सभी इसे एक मानसिक रोग मानते हैं। अब इस रोग से पीड़ित होने पर ओझा या पंडित की आवश्यकता नहीं समझी जाती, बल्कि मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक के महत्त्व को स्वीकार कर रोग से छुटकारा पाने के लिए उनका आश्रय लिया जाता है।

इसके स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह एक मानसिक रोग है, जिसमें रोगी में तरह-तरह के मानसिक एवं शारीरिक लक्षणों का आविर्भाव होता है। इसकी भी परिगणना मनोस्नायु-विकृति के ही अन्तर्गत होती है और इससे अधिकाश व्यक्ति किसी-न-किसी समय अवश्य पीड़ित होते हैं। युवावस्था के प्रारम्भ में इस रोग की अधिकता देखी जाती है और अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ इसमें कमी दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः मानसिक पहलुओं की ही अभिव्यक्ति शारीरिक लक्षणों के द्वारा होती है। इसीलिए अधिकाश विद्वान इसे रूपातरित उन्माद (Conversion Hysteria) भी कहते हैं। अतः जब कभी केवल उन्माद-पद का व्यवहार होता है तो उससे भी रूपांतरित उन्माद का ही बोध होता है। अतएव पाठकों को किसी भ्रम से बचने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि

उन्माद या रूपान्तरित उन्माद चिंता-उन्माद से, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार के उन्माद में शारीरिक लक्षणों की ही प्रधानता रहती है, यद्यपि कुछ मानसिक लक्षण भी पाये जाते हैं। लेकिन चिंता-उन्माद में शारीरिक लक्षणों की प्रचुरता न रहकर मानसिक लक्षणो की बहुलता रहती है, जिसमे भय और चिन्ता की ही प्रधानता है। इसीलिए उसे चिन्ता उन्माद और इसे रूपान्तरित उन्माद या मात्र उन्माद कहते हैं।

एक बात और, पहले लोगों का ऐसा विचार था कि यह रोग स्त्रियो में ही पाया जाता है पुरुषों में नहीं लेकिन, यह दृष्टिकोण पूर्णतः दोषपूर्ण है। यह रोग स्त्री और पुरुष दोनों ही में पाया जाता है। हाँ, इतना जरूर है कि पुरुषो की अपेक्षा औरतों की संख्या अधिक होती है। इस प्रश्न का भी उत्तर फ्रायड ने बहुत ही संतोषप्रद दिया है। उसका कहना है कि औरतों में लैंगिकता का विकास पुरुषों की अपेक्षा विषम स्वरूप का होता है। प्रारम्भ में औरतों को लैंगिक आनन्द स्मरध्वज (Clitoris) के द्वारा मिलता है और बाद में गुह्यांग (Vagina) के द्वारा ; किन्तु कुछ औरतों में गुह्यांग का लैंगिक आनन्द, कारणविशेष से सम्भव नहीं होता, इसलिए वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक संख्या में उन्माद से पीड़ित होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस रोग से अधिकांश व्यक्ति पीड़ित होते हैं और इनमें औरतों की संख्या अधिक रहती है और इस रोग में शारीरिक लक्षण जो पाये जाते हैं वे मानसिक विकारों के ही रूपान्तरित रूप हैं, जिसके कारण इसे रूपान्तरित उन्माद (Conversion Hysetria) की संज्ञा दी जाती है। इसके सम्यक ज्ञान के लिए इसके लक्षणों का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

लक्षण (Symptoms) :—उन्माद मे इतने प्रकार के शारीरिक और मानसिक लक्षण पाये जाते हैं कि उन सभी लक्षणों का उल्लेख करना किसी के लिये संभव नहीं है। कुछ लक्षण तो स्थायी होते हैं और कुछ आकस्मिक। इसलिए यदि कोई लक्षण एक रोगी में दिखलायी देता है तो दूसरा दूसरे में, अतएव यहाँ यथासम्भव प्रमुख लक्षणों पर ही प्रकाश डाला जायगा।

उन्माद के मानसिक लक्षणों में अंग-विक्षेपक आक्रमण (Convulsive Seizures) देखने में आता है जिसमें रोगी में संवेगात्मक उत्तेजना परिलक्षित होती है। इस अवस्था में रोगी हँसता या चिल्लाता है। उसे इसकी कुछ अंशों में चेतना भी रहती है और वह इसे रोकना भी चाहता है ; लेकिन

ऐसा करने में वह समर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त रोगी विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है, जिनका ज्ञान निरीक्षण से सरलतापूर्वक होता है। इन प्रतिक्रियाओं में दाँत काटना, कपड़ा नोंचना, कराहना, दाँतपीसना, क्रुद्ध होना, शरीर नोंचना आदि की प्रधानता पाई जाती है।

आत्मविस्मृति (Fugue) का लक्षण रोगी में उस समय देखा जाता है जब कि वह अपना घर छोड़कर कई दिनों तक इधर-उधर आवारे की तरह घूमता रहता है। ऐसी हालत में उसमें वास्तविकता से भागने की प्रवृत्ति तीव्र रहती है जिसके फलस्वरूप वह बिना किसी ध्येय के इधर-उधर घर छोड़-कर कई दिनों तक घूमता रहता है। लेकिन, इस अवस्था में भी वह अपने प्रति सावधान रहता है और रुपया रहने पर रेल से यात्रा करता है या भोजनालय से भोजन खरीदकर भोजन भी करता है। इस अवस्था के समाप्त होते ही रोगी अपने घर लौट आता है और उसे अपनी इस कार्यवाही का ज्ञान भी नहीं रहता।

स्वप्न-चारिता (Somnambulism) भी कुछ रोगियों में देखने में आती है। रोगी सोने की अवस्था में उठकर तरह-तरह के आवश्यक कामों को कर लेता है; लेकिन उसे इसकी कुछ भी चेतना नहीं रहती है। उस समय उसका अचेतन-मन ही क्रियाशील रहता है। ऐसी अवस्था में रोगी कभी-कभी विलक्षण काम भी कर बैठता है। अन्य लोग उसे जगा हुआ समझते हैं; लेकिन वस्तुतः वह सोने की ही हालत मे कामों को करता है। इसलिए जगाने पर उसे इसका ज्ञान भी नहीं रहता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्माद की हालत में स्मृतिभ्रंशता (Amnetia) की प्रधानता रहती है। अतएव रोगी अपने सगे-सम्बन्धी और मित्रों का नाम और अपनी वास्तविकता तक को भी भूल जाता है।

जब इसके शारीरिक लक्षणों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि उन्माद की हालत में रोगी का अग विशेष लकवा से पीड़ित हो जाता है। कभी किसी अंग में लकवा मार देता है तो कभी किसी अंग में। प्रायः रोगी के उन्हीं अगों में लकवा (Paralysis) मारता है जो पहले से किसी कारण विशेष से कमजोर रहते हैं। लेकिन, उन्माद का लकवा शारीरिक बीमारी के लकवा से पूर्णतः भिन्न होता है। सोते समय या खतरनाक परिस्थिति में उन्माद का रोगी, उस अंग विशेष का उपयोग भी करता है। उसमें सहज-क्रियाएँ (Reflex-actions) सामान्य अंगों की तरह ही मौजूद रहती हैं। लेकिन, रोगी अपने लकवा की स्थिति पर दुख प्रकट नहीं करता और न चेतनतया उसका उपयोग करने को ही उत्सुक रहता है।

ऐसे रोगी कभी-कभी बोलना भी बन्द कर देते हैं और सायँ-सायँ बोलते हैं। इससे मालूम होता है कि स्वरयंत्र (Larynx) भी लकवा का शिकार होता है। लेकिन, सोने मे ये रोगी अच्छी तरह बोलते पाये जाते हैं।

लकवा से आवद्ध अंगशून्यता (Anesthesia) का भी व्यापार रोगियों में देखा जाता है। यह शून्यता सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अगों से आवद्ध रहती है। बिना किसी रोग के ही आँखों से न दिखाई देने की सूचना रोगी देते हैं; लेकिन नेत्र प्रत्यावर्तन (Eye Reflexes) सामान्य आँख की ही तरह रहते हैं। लड़ाई के जमाने मे आकस्मिक दृष्टिगोचर होने की भी सूचनाएँ रोगियों से मिली हैं। यह अन्धता कभी पूरी और कभी अधूरी होती है। रोगी एक रंग देखने मे असमर्थ होता है; लेकिन दूसरा रंग आसानी से देखता है। फिर भी यह व्यापार रंग अन्धापन (Colour blindness) से भिन्न होता है। बहरापन से भी रोगी पीड़ित होते हैं; लेकिन रात में सोते समय साधारण आवाज से भी चौंक पड़ते हैं। त्वक् शून्यता की हालत में जो अंग शून्य रहता है उसमें सूई चुभोने पर भी रोगी को पीड़ा का अनुभव नहीं होता। यह किसी-किसी अंग में होता है, सर्वांग में नहीं। आन्तरिक शून्यता के कारण रोगी को भूख नहीं लगती और वह खाना नहीं चाहता। काम करने पर थकावट की संवेदना का न होना कुछ रोगियों में पाया जाता है; लेकिन इस शून्यता के रहने पर भी अग विशेषों की सहज-क्रियाएँ सामान्यावस्था की तरह बनी रहती हैं।

उन्मादी में मांस-पेशियों की इनिच्छित (Involuntary) लयात्मक गति (Rhythmical-movement) भी देखने में आती है जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा में हम स्पंदविकृति (Tics) कह सकते हैं। इसीलिए रोगी मुँह सिकोड़ता, आँख नचाता, सर हिलाता या ललाट सिकोड़ता है। ये क्रियाएँ स्पंदविकृति के उदाहरण हैं। इन क्रियाओं की चेतना होने पर रोगी इन्हें नियंत्रित करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। एक बात इन क्रियाओं के सम्बन्ध मे स्मरणीय है कि ये क्रियाएँ यंत्रवत (Automatic) होती हैं, इसीलिए इन पर रोगी का ध्यान नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त रोगियों में पेशी-संकोचन (Contraction) के भी व्यापार देखने में आते हैं लेकिन, ध्यान-भंग (Distraction) और सोने की अवस्था में यह संकुचन नहीं देखा जाता।

उन्मादियों की पीड़ा (Pain) भी कम महत्त्व की नहीं है। कभी रोगी एक अंग में पीड़ा व्यक्त करता है तो कभी दूसरे अंग में; लेकिन शारीरिक गड़बड़ी किसी प्रकार की नहीं देखी जाती है। पेट के दर्द से उन्माद का

रोगी बेहोश भी हो जाता है और इतनी बेचैनी प्रदर्शित करता है कि देखने-वाले परेशान हो जाते हैं। लेखक एक युवती की उन्माद-पीड़ा से पूर्णतः परिचित है। उसे जब उन्माद का झोंका आता है तो कई दिनों तक लगातार पेट दर्द से बेचैन रहती है और घरवाले दवा और डाक्टरों की असफलता से तंग आकर अन्त में सोने की औषिधि से इस उलझन से अपने को कुछ घण्टों के लिए निमुक्त रखते हैं।

कारण (Etiolgy):—उन्माद के कारणों का उल्लेख करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसके कारणों को थोड़े शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है ; क्योंकि इस रोग में कई प्रकार के अंग काम करते हैं। लेकिन, इन कारणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक झोंका (Mental Stresses) इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होता है। व्यक्ति दुखद संवाद सुनता है, प्रेम में निराश होता है ; वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट होता है, व्यवसाय मे असफल होता है। ये सभी जीवन के ऐसे विभिन्न पहलू हैं, जिनसे व्यक्ति में सवेगात्मक तनाव (Emotional Tension) उत्पन्न होता है। व्यक्ति उसे सहने में असमर्थ होकर उन्माद का शिकार हो जाता है।

आयु का हाथ भी इस रोग को उत्पन्न करने में रहता है। किशोरावस्था (Adolescent period) और यौवन के प्रारंभ मे ही व्यक्ति के सामने तरह-तरह की समस्याएँ उपस्थित होती हैं, जिनके चलते वह मानसिक तनाव से पीड़ित रहने लगता है और अन्त में अपने में उन्माद के लक्षणों को विकसित करता है। इसीलिए अधिक उम्र के व्यक्तियों मे यह रोग नहीं पाया जाता ; बल्कि किशोरों और युवा व्यक्तियों में ही पाया जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि आयु भी इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होती है।

दोषी अनुशासन (Defective Discipline) भी इस रोग को जन्म देने में सहायक होता है। समुचित अनुशासन से बच्चो में आत्मनियंत्रण की योग्यता का विकास होता है; किन्तु कठोर या शिथिल अनुशासन इस योग्यता को समुचित रूप से विकसित होने में घातक होता है। इसलिए व्यक्तित्व का सश्लेषण (Synthesis) नहीं हो पाता और आगे चलकर व्यक्ति इसके अभाव में उन्माद से पीड़ित होता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में जन्मजात उन्माद की उन्मुखता होती है, इसलिए ऐसे लोग उन्मादी बन जाते हैं। ये लोग युंग के वहिर्मुखी (Extroverted) प्रकार के अतिरिक्त और कोई नहीं होते। ऐसे लोग कुछ ऐसे दोषों को वशानुक्रम से प्राप्त करते हैं जो उन्मादी होने में

सहायक होते हैं; लेकिन यह कथन अभी तक विवादग्रस्त है। यद्यपि उल्फशॉन (Wolfsohn) ने सैनिकों की मनोस्नायु-विकृतियों का अध्ययन करके इसको पुष्ट करने का प्रयास किया है; लेकिन उसे पूरी सफलता नहीं मिल सकी है। अतएव यह अग कितना इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होता है, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता।

कुछ विद्वानों ने इस रोग का सम्बन्ध लिगभिन्नता और जातीय भिन्नता से भी प्रदर्शित करने का प्रयास किया है, लेकिन हम उनसे सहमत नहीं हैं। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि स्त्री-पुरुष और सभी राष्ट्र के लोग इस रोग से पीड़ित होते हैं, हाँ, कोई कम और कोई अधिक। अतएव यह दृष्टिकोण कदापि मान्य नहीं है।

होलिगवर्थ (Hollingworth) ने सैनिक रोगियों का अध्ययन करके यह व्यक्त किया है कि जिन रोगियों में बुद्धि कम मात्रा मे होती है वे उन्माद से पीड़ित होते हैं। इस कथन की पुष्टि औपचारिक प्रमाणों द्वारा भी होती है। विभिन्न श्रेणियों में काम करनेवाले सैनिकों का अध्ययन करने पर देखा गया है कि उच्च पदस्थ कर्मचारी या सैनिक हिस्टिरिया से पीड़ित न होकर दूसरे रोगों से पीड़ित होते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि बुद्धि का भी हाथ इस रोग को उत्पन्न करने में रहता है।

व्यक्ति का असंतुलन (Maladjustment) कुछ कम मात्रा में इस में सहायक नहीं होता है। इसी असतुलन के कारण, व्यक्ति हीन-भाव (Inferiority feeling), असुरक्षा-भाव (Feeling of Insecurity), लैंगिक विकृतियों आदि का शिकार होने से मानसिक संघर्ष, दोषभाव (Feeling of guilt) से पीड़ित रहने लगता है और अन्ततोगत्वा वह उन्माद का शिकार हो जाता है।

कुछ लोगों ने दैहिक कारण को दिखलाने का भी विफल प्रयास किया है, जिसमें उन्हें असफलता ही हाथ लगी है। अत: इसकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है।

विद्वानों ने संसूचन (Suggestion) को उन्माद का प्रधान कारण माना है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि उन्मादी अत्यधिक संसूचन-शील होते हैं। इसलिए जिन लक्षणों का अभाव रहता है, ससूचन के कारण उन्हें भी वे विकसित कर लेते हैं। लेकिन, यह कारण सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके द्वारा सबको उन्मादी बनाना संभव नहीं है।

सामाजिक आपत्ति उन लोगों में उन्माद को जन्म देने में सहायक होती है जो स्वत: संवेगात्मक अस्थिरता (Emotional instability)

स्नायविकविकृति (Nervousness) के शिकार बनकर स्वयं असंतुलित होते हैं। लेकिन, ऐसी आपत्ति पूर्ण व्यक्तित्वों में उन्माद के लक्षणों को उत्पन्न करने में पूर्णत: असमर्थ होती है।

अब इन कारणों का उल्लेख कर देने के बाद उन्माद के सैद्धान्तिक पहलुओं (Theoretical aspects) की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना कारणों का उल्लेख अधूरा रह जायेगा।

इस दिशा में हमें प्रमुख सिद्धान्तों में शार्को (Charcot) का सिद्धान्त मिलता है। उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन विभिन्न उन्मादियों के अध्ययन के आधार पर किया है। उसके अनुसार जब रोगी में यह विचार काम करने लगता है कि उसका अग विशेष व्याधियुक्त हो गया है तब वह उन्माद के लक्षणों को विकसित कर लेता है। शार्को का यह सिद्धान्त बहुत दिनो तक मान्य रहा और उसने उन्माद के सभी व्यापारों की व्याख्या इस आधार पर की। लेकिन, आज के युग में यह सिद्धान्त पूर्णत: तिरस्कृत कर दिया गया है।

बैबिन्स्की (Babinski) ने इस व्याधि के लक्षणों की व्याख्या संसूचन के आधार पर की है। उसका कहना है कि सभी लक्षण संसूचन के कारण आविर्भूत होते हैं जिन्हें उसी प्रकार निर्मूल भी किया जा सकता है। कुछ अशों में उसके कथन में सत्यता है ; लेकिन यह प्रयोगो द्वारा प्रमाणित कर दिया गया है कि सभी लक्षण ससूचन के ही परिणाम नहीं होते। इसके अतिरिक्त उसने रोगी के संवेगात्मक जीवन को भी स्थान नहीं दिया है जिसका महत्त्व कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। अतएव यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है।

जैने (Janet) ने इस रोग की व्याख्या व्यक्तित्व में संश्लेषण के अभाव के आधार पर की है और उसके इस सिद्धान्त को विद्वानों ने स्वीकार भी किया है। उसका कहना है कि जब व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं का समुचित रूप से सश्लेषण नहीं होता तो वह उन्मादी हो जाता है। लेकिन, उसका सिद्धान्त यह व्यक्त करने में असमर्थ है कि कोई रोगी एक लक्षण का क्यों शिकार होता, दूसरे का क्यों नहीं। इसीलिए फ्रायडवादियों ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है।

फ्रायड ने उन्माद की व्याख्या लैंगिकता के आधार पर की है। उसका कहना है कि जब आदर्शात्मा लैंगिक इच्छा को सतुष्ट होने नहीं देती तो उसका दमन हो जाता है; किंतु उस दमन के अधूरा होने के कारण मानसिक संघर्ष

होने लगता है। वही संघर्ष शारीरिक क्रियाओं में रूपांतरित होकर दमित इच्छा को अस्पष्ट रूप में संतुष्ट करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब युवावस्था में व्यक्ति लिंगप्रधान्यावस्था (Phallic stage) की लैंगिकता की इच्छा करता है और सामान्य लैंगिकता की अवहेलना करता है तो उसकी इस इच्छा की सतुष्टि न होने से मानसिक संघर्ष उत्पन्न होकर उन्माद का कारण होता है। यही कारण है कि रोगी मे युवावस्था की लैंगिक इच्छा नही पाई जाती है और वह अपने को बचपन के लैंगिक आनन्द मे खोने का प्रयास करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य कारणों के साथ साथ उन्माद मे मानसिक सघर्ष का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है वह चाहे किसी कारण क्यों न हो।

उपचार .—उन्माद के लक्षणों को संसूचन द्वारा हटाया जा सकता है; लेकिन इससे कारण निर्मूल नहीं होता और लक्षण पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए स्वतत्र साहचर्य, सम्मोहन, मनोविश्लेषण आदि के द्वारा कारण को जानकर उसे निर्मूल करने से रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। मनोविश्लेषण का महत्त्व उसके निराकरण मे अत्यधिक है। पुनर्शिक्षण तथा भाव स्थानान्तरण भी रोग को अच्छा करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

आठवाँ अध्याय

मनोविकृतियाँ (Psychoses)

मनोविकृतियाँ क्या हैं ?:—अभी हमने पिछले अध्याय में देखा है कि मनोस्नायुविकृतियाँ (Psychoneuroses) साधारण कोटि की मानसिक व्याधियाँ हैं जिनके कारण मनुष्य अपना अभियोजन उचित रूप से नहीं कर पाता है और उसमें व्यक्तिगत एव सामाजिक दृष्टिकोण से कई प्रकार की व्यक्तित्व-सम्बन्धी उलझने उत्पन्न हो जाती हैं। मनोविकृतियाँ भी मनुष्य की मानसिक व्याधियाँ हैं, लेकिन ये विकृतियाँ मनोस्नायुविकृतियों की अपेक्षा इतनी कठिन या गभीर होती हैं कि मनुष्य का मानसिक एव संवेगात्मक जीवन इस प्रकार विच्छिन्न हो जाता है कि उसका आत्मसंयम या सामाजिक सतुलन असभव हो जाता है। इसके लिए वैधानिक पद मानसिक विक्षिप्तता (Insanity) का व्यवहार किया जाता है और ऐसे व्यक्तियों को उनके व्यवहार के लिए वैधानिक दृष्टिकोण से उत्तरदायी नहीं माना जाता है। आज से कुछ दिन पहले इसके लिए मनोभ्रंशता (Dementia) का भी उपयोग होता था, किंतु अब इस पद का व्यवहार प्रचलित नहीं है। कारण, अब विभिन्न अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि सभी मनोविकृतियो में मनोभ्रंशता नहीं रहती। अतएव मनोविकृति के अर्थ में मनोभ्रंशता का उपयोग करना कदापि समुचित नहीं है।

ऐसे रोगियों के व्यवहार का अध्ययन जब हम सामाजिक दृष्टिकोण से करते हैं तो पाते हैं कि इनका व्यवहार बहुत ही निरर्थक (Bizarre), विचित्र (Peculiar) और दूसरों को देखने में बुरा मालूम होनेवाला होता है। इनके चिंतन और सभाषण की क्रियाएँ असम्बद्ध (Incoherent), निरर्थक एवं अतार्किक होती हैं। व्यामोह (Delusion) एवं विभ्रमों (Hallucinations) का भी बाहुल्य इनके मानस-जीवन में रहता है। सामाजिक भाव इस प्रकार नष्ट हो जाता है कि इनकी सभी क्रियाएँ समाज से भिन्न होती हैं। चूँकि ऐसे रोगी आत्मसयम में असमर्थ होते हैं और इनमे हत्यात्मक (Suicidal) वृत्ति की भी प्रबलता रहती है इसलिए ऐसे रोगियों को अस्पताल में भरती करने या घर पर रखने में अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। इनका व्यक्तित्व इतना परिवर्तित हो जाता है कि इनमें अपनी कमी को जानने की सूझ नहीं

रह जाती है। ऐसे रोगी वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं और इनके रोगों के लक्षण इतने प्रबल और स्थायी रूप धारण कर लेते हैं कि मनोचिकित्सा से किसी प्रकार का विशेष लाभ नहीं होता है। हाँ, रासायनिक एवं दैहिक चिकित्साओं से कुछ अवश्य उपकार होता है। ऐसे लोगों में, जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, अपने आपको जानने की योग्यता क्षीण हो जाती है, इसलिए ये लोग न तो अपने सुधार की चिन्ता करते हैं और न चिकित्सक को अपना पूर्ण सहयोग ही देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रोगियों मे विषाद (Depression), चिड़चिड़ापन (Irritability), विध्वंसात्मक प्रवृत्ति, सन्देह (Suspicion), हर्ष, व्यवहारविशेष (Mannerism) आदि की विशेषताएँ भी देखने मे आती हैं। फ्रायड के शब्दों में, मनोविकृति के रोगियों के व्यक्तित्व के विभिन्न भागों (अबोधात्मा, बोधात्मा तथा आदर्शात्मा) मे अत्यधिक असतुलन रहता है। जो कुछ अबोधात्मा की इच्छाएँ होती हैं उसे बोधात्मा छद्म रूप में स्वीकार करते हुए उसकी अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करती है। इसलिए अबोधात्मा, बोधात्मा और वास्तविकता के बीच निरन्तर संघर्ष छिड़ा रहता है। ऐसे रोगियों में लैंगिक शक्ति (Libido) और बोधात्मा (Ego) के प्रत्यावर्तन (Regression) भी पाये जाते हैं।

यों तो मनोविकृतियों का सामान्य विभाजन दो प्रकारों में विद्वानों ने किया है जिन्हें हम आंगिक (organic) एवं क्रियात्मक (functional) मनोविकृतियों के नाम से जानते हैं, लेकिन इस अध्याय में हम क्रियात्मक मनोविकृतियों पर ही प्रकाश डालेंगे। इसके पहले कि हम इस श्रेणी की विभिन्न मनोविकृतियों का उल्लेख करें, इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जिन मनोविकृतियों में किसी आंगिक (organic) कारण का हाथ नहीं रहता उसे क्रियात्मक मनोविकृति कहते हैं। इसके अन्तर्गत मनोविदलता (Schizophrenia), स्थिरव्यामोह (Paranoia) तथा उत्साहविषादचक्र मनोविकृति (Manic-Depressive psychosis) की परिगणना होती है। अतएव यहाँ हम इन्हीं तीन मनोविकृतियों के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख संक्षिप्ततः करेंगे।

मनोविदलता (Schizophrenia)

मनोविदलता (Schizophrenia) सभी मनोविकृतियों में अत्यधिक पायी जाती है। पोलक (Pollock) के अनुसार यह मनोव्याधि पन्द्रह वर्ष से तीस वर्ष के व्यक्तियों में अधिकांशतः पाई जाती है और

स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष इससे अधिक पीड़ित होते हैं। क्रेपलिन (Kraeplin) ने पहले पहल इसको मनोव्यापार संतुष्टि (Dementia praecox) के नाम से व्यक्त किया, जिसका अभिप्राय यही था कि इस व्याधि का आविर्भाव जीवन के प्रारम्भिक काल में ही होता है और इसके कारण मानसिक ह्रास देखने में आता है। लेकिन, ब्ल्युलर (Bleuler) ने इसको मनोविदलता की संज्ञा दी और आज प्रायः सभी विद्वान इसे इसी नाम से व्यक्त करते हैं। इस पद से मानसिक विच्छेद (Split mind) का ही बोध होता है। यह व्याधि वस्तुतः क्रियात्मक है। यह किसी मानसिक व्याधि-विशेष का द्योतक नहीं है, बल्कि इससे व्यक्ति की आन्तरिक कठिनाइयो की विभिन्न प्रतिक्रियाओं का बोध होता है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि यह व्याधि जितनी अधिकता में लोगों में पाई जाती है उतने ही विषम स्वरूप की भी है। इसीलिए इसे थोड़े शब्दों मे समझाना भी सरल कार्य नहीं है। अतएव इसके स्वरूप के समुचित ज्ञान के लिए इसके सामान्य लक्षणों का उल्लेख करना आवश्यक है।

सामान्य लक्षण (General symptoms):—यों तो औपचारिक आधार पर मनोविदलता को कई प्रकारो में बाँटा गया है और उसके विभिन्न लक्षणों को भी स्पष्ट किया गया है; लेकिन इसके पहले कि हम उन प्रकारो का उल्लेख करें उन लक्षणों को व्यक्त कर देना आवश्यक प्रतीत होता है जो सामान्यतः सभी रोगियों में पाये जाते हैं।

मनोविदलता के सभी रोगियों मे संवेगात्मक अव्यवस्था की प्रधानता रहती है। वे किसी प्रकार के सुख दुख के प्रति उदासीन रहते हैं। यह उदासीनता इतनी प्रबल होती है कि माता-पिता की मृत्यु, सम्बन्धियों का दुख या सन्तान की सफलता आदि घटनाओं से उनका संवेगात्मक जीवन कुछ भी प्रभावित नहीं होता है। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति सुख मे सुखी और दुख में दुखी होता है उस प्रकार इसका रोगी सुख-दुख का अनुभव नहीं करता। इस कारण कोई व्यक्ति ऐसे रोगी के प्रति सहानुभूति दिखलाने में भी समर्थ नहीं होता है। मेकडुगल के अनुसार सवेगात्मक अव्यवस्था की ही विशेषता सभी रोगियों में पायी जाती है।

यह उदासीनता दूसरों के प्रति ही नहीं देखी जाती, बल्कि अपने प्रति भी देखी जाती है। जब रोग की प्रबलता बढ़ जाती है तो रोगी अपने व्यामोह (Delusion), विभ्रम (Hallucination) एवं शारीरिक आवश्यकताओं (भूख, प्यास आदि) के प्रति भी उदासीन हो जाता है और अगर उसपर

दूसरा कोई ध्यान न दे, तो वह खाने-पीने बिना मर सकता है। शून्य आकाश या रिक्त स्थान में निरन्तर ताकते रहना ऐसे रोगी की अपनी खास विशेषता होती है। इससे काम भी कराया जा सकता है, किन्तु उसका उत्पादन बहुत ही निम्न कोटि का तथा अनिश्चित होता है।

ऐसे रोगी मे सामाजिक भाव का अभाव रहता है, इसलिए वह न तो किसी से मिलना ही चाहता है औ न किसी प्रकार की बातचीत करना चाहता है। इसी सामाजिक अभाव के कारण यदि ऐसे रोगियों को अस्पताल मे एक साथ रख दिया जाता है तो भी वे वर्षों एक दूसरे से कुछ नहीं बोलते हैं। इस अभाव का कारण प्रधानत: यही मालूम होता है कि ऐसा रोगी अपने मानसिक जगत में इतना तल्लीन रहता है कि वह वाह्य विश्व की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता है। इसलिए उसकी अभिरुचि भी वाह्य जगत में नहीं रहती है।

रोगी के सवेगात्मक जीवन मे विरोधात्मक एवं अव्यवस्थित प्रतिक्रियाएँ साथ-साथ भी देखने मे आती हैं। बिना किसी कारण के रोगी में चीख, क्रोध आदि देखने मे आते हैं और वह सुखद सम्बाद पर दुखी होता है और दुखद सम्बाद पर सुखद प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन भी करता है। किसी की हत्या कर देने या अन्य अपराध के कामो के कर देने पर भी उसमें पश्चात्ताप या दुख की प्रतिक्रियाएँ नहीं देखने मे आती हैं। कभी-कभी रोगी सुखद एव दुखद प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन साथ-साथ भी करता है जो सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। ऐसी ही एक महिला का उदाहरण ब्ल्युलर ने दिया है जो मुँह से हँसती और आँखों से आँसू गिराती थी।

यों तो विभ्रम (Hallucinations) सभी प्रकार के मानसिक रोगियों में न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं; किन्तु इतनी अधिकता और किसी प्रकार के रोगी में नहीं पायी जाती है। सामान्यत: मनोविदलता के रोगी में सभी प्रकार के विभ्रम पाये जाते हैं; किन्तु प्रधानता ध्वन्यात्मक (Auditory) विभ्रम की रहती है। ऐसे रोगी प्राय: ऐसा अनुभव करते हैं कि वे ईश्वर-सम्बन्धी या किसी मित्र के शब्दों और वाक्यों को सुनते हैं। ऐसा विभ्रम प्राय: दुखात्मक स्वरूप का होता है, इसलिए रोगियों को निरन्तर ऐसा मालूम होता है कि उनका कोई सगा सम्बन्धी उन्हें तरह-तरह से धमका रहा है। यही कारण है कि ऐसे रोगी इस विभ्रम के कारण अपने शरीर के कपड़ों को उतारकर मार-पीट करने के लिऐ तैयार हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप अपने वार्ड के रोगियो को भी घायल कर देते हैं। कुछ रोगी ऐसे शब्दों को न सुनकर रुचिकर शब्दों को सुनते हैं, इसलिए इसका आनन्द लेने के लिए

एकान्त मे बैठ जाते हैं और प्रसन्नतापूर्वक ऐसी भ्रमात्मक (Hallucinatory) ध्वनि को सुना करते हैं।

दृष्ट्यात्मक विभ्रम के भी ऐसे रोगी शिकार होते हैं; किन्तु ऐसा निरन्तर न होकर कभी कभी होता है। ऐसे विभ्रम में ये रोगी, ईश्वर, देवता और अपने मृत सगे सम्बन्धियों का दर्शन करते हैं। सोते समय ऐसे व्यक्ति स्नायविक (Kinesthetic) भ्रम का भी अनुभव करते हैं और प्रायः उन्हे ऐसा सन्देह होता है कि उनका शत्रु बिजली का तार लगाकर मारना चाहता है या विषैले पदार्थ की सुई देकर हत्या करना चाहता है। इसी प्रकार ये रोगी घ्राण (Olfactory) तथा स्वाद (Gustatory) विभ्रमो के भी शिकार होते हैं, किन्तु सबसे अधिक ध्वन्यात्मक विभ्रम की प्रधानता रहती है।

मनोविदलता का रोगी व्यामोह (Delusion) से भी निर्मुक्त नहीं रहता, इसलिए वह व्यामोहात्मक विभिन्न व्यापारों का प्रदर्शन करता है। उसका व्यामोह कैसा भी अतार्किक और असगत क्यों न हो, लेकिन वह उसमें पूर्णतः विश्वास करता है। व्यामोहों में दण्ड व्यामोह (Delusion of persecution) की प्रधानता रहती है, लेकिन अन्य प्रकार के व्यामोहों का सर्वथा अभाव नहीं रहता। हाँ, उसके व्यामोह अस्थायी स्वरूप के होते हैं; इसलिए मानसिक अवस्था में सुधार आने पर वे स्वतः विलीन हो जाते हैं। एक विचित्र बात और ऐसे रोगियों में पायी जाती है। उन्हें बराबर यह विश्वास बना रहता है कि दूसरे उनकी निन्दा या आलोचना करते हैं। इस प्रकार सदर्भ-प्रत्यय (Idea of reference) का भी साम्राज्य उनमें रहता है। इसके अतिरिक्त ऐसे रोगी प्रायः इसमें भी विश्वास करते हैं कि कोई बाहरी शक्ति उन्हें इस प्रकार से प्रभावित कर रही है कि उसपर उनका नियत्रण असंभव है।

बौद्धिक ह्रास के शिकार भी होते ऐसे रोगी पाये जाते हैं। प्रायः सभी रोगी सामान्य या उससे अधिक ही बौद्धिक योग्यतावाले रोग के पहले होते हैं, किंतु कुछ दिनों के बाद उनमें इस दिशा में कमी दृष्टिगोचर होने लगती है और ऐसा मालूम होता है कि बुद्धि का उपयोग न करने से ही उनके बौद्धिक पहलू में ह्रास होता है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सभी प्रकार की मानसिक योग्यताओं के पतन में किसी प्रकार की समरसता नहीं पायी जाती है। विभिन्न परीक्षणों का व्यवहार करने पर देखा गया है कि इस व्याधि से पीड़ित रोगियों में स्मृति, अमूर्तचिंतन (Abstract thinking).

क्रियात्मक योग्यता, शिक्षण आदि में ही ह्रास होता है, शब्दकोष में किसी प्रकार की कमी इस व्याधि से दृष्टिगोचर नहीं होती है।

कुछ रोगी बहुत वाचाल देखने में आते हैं और लच्छेदार वाक्यों का भी व्यवहार करते हैं; किंतु उनकी भाषा सारहीन होती है। सुनने मे अच्छा और तथ्य कुछ नहीं—यही बोलनेवालों की बातों की अपनी विशेषता होती है। सुननेवालों को तो उनकी भाषा निरर्थक और सारहीन प्रतीत ही होती है; लेकिन इस तरह भी उसमें पुनरावृत्ति, असगतता, विच्छिन्नता आदि पायी जाती हैं। अधिकांश रोगी गूँगे बने रहते हैं और यदा कदा कुछ फुस-फुस कर देते हैं। उनके न बोलने का प्रधान कारण यही मालूम होता है कि उनकी अभिरुचि वातावरण में नहीं रहती, इसलिए किसी से बोलने की आवश्यकता वे महसूस नहीं करते हैं। कुछ इसलिए भी नहीं बोलते हैं कि उन्हें ऐसा व्यामोह होता है कि उन्हें न बोलने के लिए कोई शक्ति आदेश दे रही है। कुछ अपने को मरा समझकर और कुछ भय से भी नहीं बोलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐमे रोगियों की भाषा-शक्ति भी अव्यवस्थित रहती है।

ऐसे रोगियों मे निरर्थक नये शब्दो के निर्माण और व्यवहार की विचित्र आदत देखी जाती है। ये ऐसे नये नये शब्दों को बनाकर अपनी भाषा में बोलते हैं कि उनका अर्थ श्रोता को कुछ भी नहीं मालूम होता है; किंतु उनके लिए वे शब्द सारगर्भित होते हैं। प्राय· वे दो-तीन शब्दों को तोड़मरोड़कर एक नये शब्द का निर्माण कर लेते हैं जो प्राय· अतार्किक होता है।

जिस प्रकार उनकी भाषा अव्यवस्थित होती है उसी प्रकार उनके लेख भी अव्यवस्थित स्वरूप के होते हैं। यों तो कुछ रोगी ऐसे होते हैं जो कभी कलम या पेंसिल अपने हाथ में नहीं लेते; किंतु जो रोगी यदा-कदा लिखते हैं उनका लिखना अव्यवस्थित ही रहता है। उनकी लिखावट में कुछ भी तारतम्य नहीं रहता है। शब्द लिखते वक्त किसी आवश्यक अक्षर को छोड़ देना और उसके स्थान मे किसी नये अक्षर को जोड़ देना उनकी लिखावट की विशेषता होती है। एक ही बात को बार-बार लिखना, व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का करना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं है। इस प्रकार उनकी लिखावट पूर्णत· अव्यवस्थित होती है।

उनकी चिंतन प्रक्रिया में व्यवस्था का अभाव रहता है, इसलिए उनका चिंतन संगठित एव समन्वित (organized and integrated) नहीं होता। वे किसी समस्या के सम्बन्ध में चिंतन करते समय बहुत अतार्किक निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं। अमूर्तचिंतन की कमी होने के

कारण मूर्तचिंतन के माध्यम से वे किसी विषय में चिंतन करते हैं। इस चिंतनात्मक उपद्रव की व्याख्या ब्ल्युलर ने साहचर्य-विच्छेद (Dissociation of Association) के आधार पर की है; किंतु कुछ विद्वानों ने प्रत्यावर्तन (Regression) के आधार पर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। अधिकांश विद्वान दूसरे ही दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं।

अन्य मानसिक विशेषताओं का अध्ययन करने से पता चला है कि ऐसे रोगियों में प्रारंभिक जीवन की घटनाओं की स्मृति में किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ती है; लेकिन वर्तमान के अनुभवों की स्मृति बहुत ही निर्बल होती है। ऐसा प्रधानतः वातावरण की घटनाओं की उपेक्षा करने के कारण होता है। कुछ रोगी अपनी परिस्थिति जानने, दूसरों को पहचानने और तिथियों को व्यक्त करने में भी समर्थ होते हैं। लेकिन, अपनी मानसिक अवस्था का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है और न तो इसकी सूझ ही रहती है।

ऐसे रोगी खाने पीने की परवाह नहीं करते; इसलिए इनकी शारीरिक तौल में कमी आती है। शरीर से कमजोर होना और शारीरिक तापमान का उतार-चढाव भी ऐसे रोगियों में पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार के कई लक्षण मनोविदलता के रोगियों में पाये जाते हैं; लेकिन उनकी भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं इच्छात्मक क्रियाओं के विच्छेद की ही प्रधानता रहती है।

औपचारिक प्रचार (Clinical Types) :—लक्षण विशेष या लक्षणसमूह विशेष के आधार पर औपचारिकों ने मनोविदलता (Schizophrenia) को चार प्रकारों में बाँटा है; लेकिन इससे पाठकों को यह नहीं समझना चाहिये कि ये चार प्रकार एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न होते हैं। वस्तुतः इन प्रकारों को एक दूसरे से लक्षण विशेष की प्रधानता पर ही अलग करने का प्रयास किया गया है। अतएव पाठकों को इन प्रकारो का अध्ययन करते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

सरल मनोविदलता (Simple Schizophrenia) :—सरल मनोविदलता की प्रधान विशेषता उदासीनता है। जब तक रोगी भूख प्यास से प्रेरित न हो या उसका कोई सगा-सम्बन्धी उसे विवश न करे तब तक वह बिना कुछ इधर-उधर चले-फिरे लगातार कई दिनों तक चारपाई पर पड़ा रह सकता है। उसकी एकमात्र इच्छा एकान्त में रहने की होती है।

वह सफाई पर कुछ ध्यान नहीं देता, इसलिए लगातार कई दिन न नहाने पर भी वह नहाने की जरूरत नहीं महसूस करता है। उसके परिधान भी गन्दे रहते हैं। ऐसे रोगी में बहुत ही कम असामान्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं और इनमे व्यामोह, विभ्रम एवं विचित्र व्यवहारों का अभाव सा रहता है। इनकी क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ बहुत मन्द होती हैं। ये कभी किसी से बोलना नहीं चाहते और न तो बोलते ही हैं और जब कभी कुछ बोलते हैं तो सुननेवाले के लिए वह निरर्थक प्रतीत होता है। किसी प्रकार का प्रश्न पूछने पर ये हाँ-ना मस्तक संचालन द्वारा कर देते हैं। इनमें आत्मख्याति, बाहरी घटनाओं एवं पारिवारिक कल्याण के प्रति अभिरुचि का सर्वथा अभाव रहता है।

पेज ने अपनी पुस्तक "असामान्य मनोविज्ञान" मे इस रोग के पहले के जीवन के सम्बन्ध में लिखते हुए यह व्यक्त किया है कि ऐसे रोगी रोग होने के पहले अपने बाल्यजीवन मे आदर्श बच्चे रहते हैं। घर में उनका सुन्दर व्यवहार तो होता ही है पाठशाला मे जाने पर भी वे अपने कार्य में निपुण प्रमाणित होते हैं और उनका व्यवहार पाठशालीय जीवन के पूर्णतः अनुरूप होता है। बचपन में उनमें वह शक्ति, उत्साह और अन्य विशेषताएँ नहीं रहतीं जिनके कारण किसी बच्चे को बदमाश और शरारती कहा जाता है। धीरे-धीरे उनकी अभिरुचि पाठशालीय जीवन मे कम होने लगती है और किशोरावस्था आते-आते पाठशालीय जीवन की तिलांजलि दे देते हैं। उनमें न तो कोई अभिलाषा रह जाती है और न अभिरुचि। इसलिए वे किसी प्रकार की जीविका की न तो परवाह करते हैं और न चाहते ही हैं। जब उन्हें कोई किसी काम को करने के लिए कहता है तो वे चिड़चिड़े, उमंगी और अपमानकारी बन जाते हैं और घर से भागकर इधर-उधर भटकते हैं। अगर रोगी स्त्री रही तो वह वेश्यावृत्ति का आश्रय ले लेती है। बहुतों को कारावास का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, आदि।

हेबीफ्रेनिक मनोविदलता (Hebephrenic Schizophrenia).—मनोविदलता का दूसरा औपचारिक प्रकार हेबीफ्रेनिक मनोविदलता के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे रोगी मे संवेगात्मक छिछलापन, असगत व्यामोह, विभ्रम, बचपन की जिद्द, अव्यवस्थित भाषा तथा व्यक्तित्व विच्छिन्नता के चिह्नों की प्रमुखता रहती है। ऐसे रोगी अपने आन्तरिक विचारों के ही कारण क्रुद्ध होते या रोते हैं। वे अपने वातावरण की पूर्णतः उपेक्षा करके अपने आपसे या काल्पनिक साथियों से घण्टों बात करते रहते हैं। बहुत-से

रोगियों में दैवी शक्तियों के देखने या गंधों के सूँघने का विभ्रम व्यापार भी पाया जाता है। प्रारभिक अवस्था में ऐसे रोगी अपने विचारों को व्यक्त करते हैं; लेकिन आगे चलकर उनसे किसी तरह की बात करना असंभव हो जाता है। कुछ पूछने पर वे जो कुछ कहते हैं वह निस्सार और निरर्थक रहता है। वे अपने वाक्यों में निरर्थक कई शब्दों को मिला देते हैं और उनका चितन भी अस्तव्यस्त रहता है। ऐसे रोगियो के व्यामोह विलक्षण होते हैं। रोगियो का अध्ययन करने पर मालूम हुआ है कि कोई यह विश्वास करता है कि उसके पेट मे मक्खी भनभना रही है, तो कोई विष फैलने के भय से साँस को रोकने का विफल प्रयास करता है। इसी प्रकार के विलक्षण व्यामोहों के उदाहरण इन रोगियों मे मिलते हैं।

कुछ रोगियों को ऐसा विश्वास रहता है कि वे जगत-निर्माता हैं और वे ही शासक भी हैं। ज्यों-ज्यों रोग प्रबल होता जाता है त्यों-त्यों उनकी बुद्धि, भाषा, निर्णय और सामाजिकता नष्ट होती जाती हैं। ऐसी अवस्था में वे वस्तुतः अपने को मनुष्य से भिन्न समझते हैं। वे क्रमशः न बोलनेवाले और मन्द-स्वरूप के हो जाते हैं; किंतु देखने में ही मन्दता दृष्टिगोचर होती है, वास्तविकता इससे भिन्न होती है।

कैटाटोनिक मनोविदलता (Catatonic Schizophrenia):—यह तीसरा औपचारिक प्रकार है। इसका आविर्भाव व्यक्ति में सहसा होता है। इस अवस्था में रोगी अचेतन और औसत से कम क्रियाशील होता है। साधारण कोटि के रोगी बातचीत नहीं करते और उन्हे कपड़ा पहनने या भोजन करने मे सहायता करने की आवश्यकता पड़ती है। जब कभी वे बोलते हैं तो उनकी ध्वनि बहुत नीरस होती है। कभी कभी ऐसे रोगी घण्टों एक विचित्र आसन मे पड़े रहते हैं। कन्धे को कड़ा कर एक ही दिशा में रक्खे रहना उनकी अपनी विशेपता होती है। बिस्तर पर असमर्थ अवस्था मे पड़ा रहना, न बोलना आदि विशेषताएँ भी पायी जाती हैं। स्वच्छता की ऐसे रोगी कुछ भी परवाह नहीं करते और न तो उन्हें खाने की ही चिता रहती है। इसलिए उन्हे चम्मच या रबर की नली के द्वारा पोषक पदार्थ खिलाना पड़ता है। कभी तो उनकी आँखे खुली रहती हैं और कभी बन्द। अगर आँखें खुली रहती हैं तो रोगी एक टक किसी स्थल-विशेष पर देखा करता है। उसकी पलकें बहुत ही कम गिरती हैं। विमूढता की अवस्था में वह वातावरण से अपने को इतना समेट लेता है कि उसे किसी का प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन अच्छा होने पर उस अवस्था की घटनाओं को प्रत्यावाहित करने में समर्थ होता है।

कैटाटोनिक बिमूढ़ता की अवस्था मे स्नायविक कठोरता और उसके

लचीलेपन की विशेषताएँ भी देखने में आती हैं। कुछ रोगी तो ऐसे होते हैं कि वे अपने शरीर के विभिन्न अंगों को ऐसा कड़ा कर लेते हैं कि उन्हें जैसे कर दिया जाय वे वैसे ही मिनटों पड़े रहते हैं। कुछ के अवयव मोम की तरह लचीले होते हैं और जिधर उन्हें कर दिया जाता है उधर ही वे रखे रहते हैं। शरीर के अवयवों में इतनी अधिक कठोरता देखने में आती है कि रोगी की मुट्ठी बन्द रहने पर उसे खोलना असंभव होता है।

यों तो बिस्तर पर पड़े रहने पर रोगी बिना शरीर के आसन को बदले घण्टों पड़ा रहता है; लेकिन कुछ रोगी औसतन प्रत्येक बीस मिनट के बाद अपने शरीर को इधर से उधर घुमाते पाये जाते हैं। जब कैटाटोनिक की विमूढतावस्था समाप्त होती है तो रोगी में उत्तेजना (Excitement) के व्यापार देखे जाते हैं। लेकिन, उसमें किसी प्रकार का संवेग नहीं पाया जाता है। उसम जो गति होती है वह एक विशेष प्रकार की होती है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं देखा जाता है। वह जो कुछ बोलता है वह भी निरर्थक मालूम होता है। एक बात को बार-बार दुहराना भी पाया जाता है। व्यामोह, विभ्रम या आन्तरिक कठिनाइयों की इनकी प्रतिक्रियाएँ अपमानजनक, ध्वंसात्मक एवं आवेगमय होती हैं।

ऐसे रोगियों की इच्छा-शक्ति अव्यवस्थित रहती है। इसलिए कभी तो उनमें निषेधात्मक और कभी धनात्मक प्रतिक्रियाएँ देखने में आती हैं। कभी तो वे इतना संसूचनशील हो जाते हैं कि सभी आज्ञाओं का पालन करते हैं और कभी इतनी निषेधात्मक वृत्ति अपना लेते हैं कि वे सभी बातों की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं। ऐसे रोगी कभी-कभी दूसरे की बात या व्यवहार की यंत्रवत पुनरावृत्ति करते हुए भी पाये जाते हैं। विद्वानों का ऐसा दृष्टिकोण है कि उनकी यह पुनरावृत्ति-वृत्ति वाध्यतामूलक होती है, इसलिए उसका नियंत्रण करना उनके लिये संभव नहीं रहता। सस्कार-प्रसक्ति (Perseve-ration) उनमें इतनी अधिक होती है कि एक ही चित्र को लगातार कई दिनों तक बनाते या एक ही शब्द को दुहराते रहते हैं। इस प्रकार के रोगियों के विभिन्न पहलुओं का विद्वानो ने काफी अध्ययन किया है जिनका उल्लेख करना इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

चित्तभ्रम मनोविदलता (Paranoid Schizophrenia) :— अन्तिम प्रकार चित्तभ्रम-मनोविदलता (Paranoid Schizophrenia) का है जिसमें रोगी में सन्देह, भावुकता, आत्मकेन्द्रिता (Ego Centri-city) आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं। इस अवस्था में वह दण्ड व्यामोह (Delusion of persecution) से अत्यधिक पीड़ित रहता है। ऐसे

रोगी बराबर यही कल्पना करते हैं कि सभी लोग उनके विरोधी हैं और उनका विरोध करने के लिए वे कार्यवाही कर रहे हैं। प्रारंभ में तो उनका दण्ड-व्यामोह व्यवस्थित रहता है, किंतु क्रमशः वह निरर्थक और बहुमुखी हो जाता है और प्रारंभिक आक्रामक-वृत्ति (Aggressiveness) भी शान्त हो जाती है। उनका दण्ड-व्यामोह विभ्रमयुक्त होता है, इसीलिए वे सबको अपशब्द कहते हुए सुनते हैं या भोजन में उन्हें विष की गंध मिलती है। उनको अपने कमरे में विषैली गैस छोड़ी जाने का विश्वास रहता है और वे सोचते हैं कि उनके शरीर में बिजली का प्रवाह है। वे रोगी अपने शत्रुओं से इतना भयभीत हो जाते हैं कि अपने बचाव के लिए नरहत्या या आत्महत्या तक कर बैठते हैं। कुछ रोगियों में समजाति-लैंगिकता के बीजतत्त्व भी इस अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ रोगियों में महानता-व्यामोह पाया जाता है और इसी व्यामोह के आधार पर वे अपने काल्पनिक शत्रुओं की उपयुक्तता की व्याख्या भी करते हैं। ऐसे लोगों में संदर्भ-प्रत्यय (Idea of reference) की प्रचुरता रहती है। इसलिए जब कुछ लोग आपस में बात करते हैं तो उन्हें यही मालूम होता है कि वे उन्हीं के विरोध की बातें कर रहे हैं।

कारण :—मनोविदलता के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कालमन (Kallmann) तथा स्टोडार्ट (Stoddart), ह्वाइट (White), प्रभृति विद्वानों ने मनोविदलता से पीड़ित रोगियों के वंशानुक्रम का एवं जुड़वें बच्चों का अध्ययन करके, वंशानुक्रम को इस रोग का कारण व्यक्त किया है। इधर रोसनॉफ (Rosanoff) तथा उसके सहयोगियों ने इस दिशा में १४२ जोड़े जुड़वें बच्चों का जो अध्ययन किया है उसके आधार पर उनका कहना है कि इस रोग में वंशानुक्रम का प्रमुख हाथ रहता है; लेकिन वंशानुक्रम-मात्र ही रोग उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। सभी रोगियों में इस अंग का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिए वह अकेले रोग नहीं उत्पन्न करता। अतः इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनोविदलता के उत्पन्न करने में वंशानुक्रम, मानसिक अवस्था एवं जन्म के समय का मस्तिष्काघात (Cerebral Trauma) का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

पोलक (Pollock) तथा माल्जबर्ग (Malzberg) ने १७५ रोगियों का अध्ययन करके कारण के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है कि वंशानुक्रम से विशेष हाथ इस रोग को उत्पन्न करने में वातावरण का रहता है।

कॉटन (Cotton) ने इस रोग का कारण दाँत-गले की गिल्टी (Tonsils) तथा बड़ी आँत (Colon) के केन्द्रस्थ छूत को ही माना

है। वस्तुतः उसकी यह व्याख्या हास्यास्पद और निरर्थक प्रतीत होती है इसलिए उसकी व्याख्या को विद्वानों द्वारा मान्यता भी प्राप्त नहीं हो सकी है।

क्रेपलिन के अनुसार लैंगिक ग्रन्थियों के उपद्रव से पाचन-क्रिया मे अपने आप मादक द्रव्यों का उत्पन्न हो जाना इस रोग का कारण है; किन्तु उसका यह दृष्टिकोण मान्य नहीं हो सका है। इस प्रकार और कई विद्वानों ने इसके कारण के सम्बन्ध मे अपने विचारों को प्रकट किया है; लेकिन उनका विचार मान्य नहीं है। अतएव यहाँ हम उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

एडोल्फ मेयर (Adolf Meyer) ने इस रोग की व्याख्या करने के लिए जैव (Biological) दृष्टिकोण का आश्रय लिया है। उसका कहना है कि जब व्यक्ति अपने जीवन में बार-बार असफल होता है और अपने को वातावरण में अभियोजित करने में असमर्थ पाता है तब वह अपने में मनोविदलता की प्रतिक्रियाओं को विकसित कर लेता है। वह वास्तविकता से मुँह मोड़कर अपने को अपने मानसिक जगत के प्रति अभियोजित करता है। इसलिए छिद्रान्वेषण, दिवास्वप्न, सन्देह, जिद्दपन आदि का वह आश्रय लेता है। अतएव उसके अनुसार मनोविदलता की प्रतिक्रियाएँ जीवन की कठिनाइयों का सामना न करने के कारण उत्पन्न होती हैं।

युंग के अनुसार यह रोग दमित भावना-ग्रन्थियों और जीवन शक्ति के प्रत्यावर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। जब मनुष्य अपने वातावरण के प्रति उचित अभियोजन नहीं कर पाता है तो उसकी जीवन-शक्ति (Libido) का प्रत्यावर्तन हो जाता है। रोगी शैशव की क्रियाओं मे अपनी रुचि रखने लगता है और वाह्य जगत को पूर्णतः भूल-सा जाता है और वह अपने आपमें बचपन की नाईं तल्लीन रहने लगता है।

मैकडुगल ने इसकी व्याख्या आत्मसम्मान (Self-regard) की मूल-प्रवृत्ति के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि जब आत्म-सम्मान की मूलप्रवृत्ति को समुचित रूप से अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिलता है तो मनुष्य सामाजिक सम्बन्ध प्रस्थापित करने मे असमर्थ होने के कारण मनोविदलता के लक्षणों को विकसित कर लेता है।

इस प्रकार कुछ विद्वानों ने व्यक्तित्व प्रकार के आधार पर इस रोग की व्याख्या करने का प्रयास किया है जिसको थोड़े शब्दों में हम यही कह सकते हैं कि सभी प्रकार के व्यक्ति इस रोग के शिकार नहीं होते; बल्कि जिनमें अन्त-र्मुखता की विशेषताएँ अधिक रूप में पायी जाती हैं वे ही इस रोग से पीड़ित

होते हैं। यद्यपि यह कथन कुछ अंशों में सत्य प्रतीत होता है, लेकिन हम इसे एकमात्र कारण नहीं कह सकते हैं।

फ्रायड ने लैंगिक शक्ति तथा बोधात्मा के प्रत्यावर्तन को ही इस रोग का कारण माना है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि जब किशोरावस्था में प्रवेश करने पर व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व और विषमलिंगी प्रेम को स्वीकार करना नहीं चाहता है तो उसके मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसलिए इस संघर्ष को सुलझाने के लिए व्यक्ति की लैंगिक शक्ति का प्रत्यावर्तन मौखिक अवस्था की चूषण (Sucking) पहलू की ओर और बोधात्मा का प्रत्यावर्तन आत्म-प्रेमावस्था की प्रारंभिक अवस्था में हो जाता है। अतएव वह रोग के विभिन्न लक्षणों के द्वारा अपने अचेतन की अभिव्यक्ति करता है।

ओटोरैङ्क (Otto Rank) ने, जो नवीन फ्रायडवादी विचारधारा का पृष्ठपोषक है, व्यक्ति की स्त्रैण वृत्ति (feminine) और पौरुषेय बीजतत्त्वों (Masculine elements) के बीच संघर्ष को मनोविदलता का कारण माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न उपर्युक्त सिद्धान्तों में मनोविदलता के कारण को लेकर अत्यधिक विवाद है। लेकिन, सच्ची बात तो यह है कि अभी तक किसी का निर्णय निश्चयात्मक रूप से विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हो सका है। इसलिए हम निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित समझते हैं कि मनोविदलता का आविर्भाव आनुवांशिक या दैहिक कारणों से कुछ व्यक्तियों में भले ही होता हो, किंतु इतना तो निश्चय है कि इस रोग को उत्पन्न करने में मानसिक संघर्षों का हाथ भी कम नहीं रहता है। जब किसी कारणवश मनुष्य अपने को वास्तविकता के प्रति अभियोजित करने में असमर्थ होने से विभिन्न मानसिक संघर्षों का शिकार बन जाता है तो वह अपने में मनोविदलता के लक्षणों को विकसित कर अपने मानसिक जगत में तन्मय होकर संतोष की साँस लेता है।

उपचार :—मनोविदलता के रोगियों की चिकित्सा-विधि का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी रोगियों के लिए एक ही उपचार-विधि उपकारी सिद्ध नहीं होती है। इसलिए उपचार वैयक्तिक स्वरूप का होता है। लेकिन इतना होते हुए भी सामान्यतः यह कथन अप्रासंगिक नहीं होगा कि रोगी को दुखद एवं भय के संवेगों से निर्मुक्त रखने के लिए वातावरण को परिवर्तित कर देना आवश्यक है। अगर उसका दुखद अनुभव आन्तरिक

है तब तो माता-पिता और अन्य संरक्षकों को उदार वृत्ति से काम लेना श्रेयस्कर है। पुनर्शिक्षण (Re-education) के द्वारा रोगी के संवेगात्मक जीवन को समृद्ध बनाना अनिवार्य है। सेवा शुश्रूषा और औषधि की व्यवस्था भी कल्याणकर सिद्ध होती है। सामूहिक एवं व्यावसायिक मनोचिकित्सा (Group & Occupational Psychctherapies) का आश्रय लेना रोगियों के लिए लाभप्रद होता है। डा० मैनफ्रेड सेकेल (Manfred Sakel) ने इनसुलिन (Insulin) की सुई से बहुत से रोगियों को अच्छा किया है। मेट्राज़ॉल (Metrazol) का व्यवहार भी कुछ रोगियों पर लाभकारी प्रमाणित हुआ है। इधर कुछ दिनों से वैद्युतिक आघात-चिकित्सा (Electric Shccktherapy) का व्यावहार किया जा रहा है; किन्तु अभी यह विधि अन्य विधियों से कहाँ तक श्रेष्ठ सिद्ध होगी, यह कहना कठिन है। तब, इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि नये रोगियों को उपचार से लाभ होता है, इसलिए इसकी व्यवस्था प्रारंभ में ही करना उचित है।

स्थिरव्यामोह (Paranoia)

स्वरूप :—यों तो व्यामोह (Delusion) कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों में भी पाया जाता है किन्तु, जब किसी व्यक्ति में यह स्थायी और व्यवस्थित रूप से पाया जाता है तो वह स्थिरव्यामोही समझा जाता है। सामान्यत: ऐसे रोगियों की संख्या दो प्रतिशत से अधिक नहीं है, लेकिन यह मनोविकृति मनुष्य और समाज दोनों के लिए घातक है। इसके स्वरूप का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि हेनरॉथ (Heinroth) ने सन् १८१८ ई० में इसे बुद्धि की व्याधि (disorder of intellect) उद्घोषित किया। लेकिन सन् १८४५ ई० में ग्रीजींगर (Griesinger) ने इसका कारण संवेगात्मक उपद्रव माना। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों विचारधाराओं के माननेवालों में कुछ दिनों तक विवाद चलता रहा, किन्तु क्रेपलिन ने जब इसके स्वरूप का उद्घाटन सन् १८६३ ई० में कर दिया तो दोनों ही विचार स्वयं विलीन हो गये। क्रेपलिन (Kraeplin) के अनुसार स्थिरव्यामोह वह मनोविकृति है जिसमें स्थायी एवं व्यवस्थित व्यामोह आन्तरिक कारणों से आविर्भूत और विकसित होते हैं; लेकिन विभ्रम (Hallucination) का सर्वथा अभाव रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मनोविकृति में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, स्थिर एवं व्यवस्थित व्यामोह की प्रधानता रहती है।

हमने मनोविदलता के प्रकारविशेष मे भी व्यामोह की प्रधानता व्यक्त की है लेकिन, इन दोनों में अन्तर है। मनोविदलता का व्यामोह अव्यवस्थित एवं क्षणिक होता है; लेकिन इसमे व्यामोह स्थिर और सुव्यवस्थित होता है। इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति जब व्यामोह का शिकार होता है तो वह दूसरों के समझाने या स्वयं समझ लेने पर उससे छुटकारा पा जाता है लेकिन, स्थिर व्यामोही किसी प्रकार विश्वास दिलाने पर भी अपने व्यामोह से छुटकारा पाने की कोशिश नहीं करता है। इसलिए इससे वह निर्मुक्त भी नहीं होता है। इस दोष के अतिरिक्त उसमें अन्य प्रकार की सामान्यता पायी जाती है। उसका चिंतन और व्यवहार सामान्य व्यक्ति की तरह संगत होता है। न तो उसमें विभ्रम का अस्तित्व रहता है और न उसकी स्मृति या आचरण मे ही किसी प्रकार की गड़बड़ी रहती है। अपने विचारों के अनुरूप वह अपने सवेगो का भी प्रकाशन करता है। अधिकाश रोगी अत्यधिक बुद्धिमान और आत्मनिर्भर होते हैं और बहुत कम रोगियो को अस्पताल की शरण लेनी पड़ती है। जब तक ऐसे रोगी अपने व्यामोह की विधेयात्मक प्रतिक्रिया नहीं करते तब तक उन्हे सभी लोग सामान्य समझते हैं। उनकी बातों या प्रतिक्रियाओं से ही उनकी मनोविकृति का ज्ञान अन्य लोगों को होता है।

इस मनोविकृति का आविर्भाव व्यक्ति में सहसा नहीं होता, बल्कि क्रमशः होता है। व्यामोह के लक्षण स्पष्ट होने के पहले ऐसे व्यक्ति बहुत भावुक (Sensitive), सन्देही और चिड़चिड़ा होते हैं। उनमे हास्य का सर्वथा अभाव रहता है। वे अपने सम्बन्ध की बातो को बहुत गंभीरतापूर्वक सोचते हैं। उनका दृष्टिकोण आत्मगत होता है और अपने दैनिक जीवन की घटनाओं में वे निराशा पाते हैं। वे अपने महत्त्व को अत्यधिक ऊँचा स्थान देते हैं और दूसरों को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। वे दूसरों के सम्बन्ध मे यह भी विश्वास रखते हैं कि सभी उनके प्रति षड्यन्त्र रचने की धुन मे लगे हैं। ऐसे लोग बचपन मे बहुत जिद्दी, ईर्ष्यालु और उमगी (Moody) स्वभाव के होते हैं। ये लोग अपने स्वार्थ में इतना अधिक तल्लीन रहते हैं कि दूसरों के हित की कुछ भी चिंता नहीं करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध भी इनका अच्छा नहीं रहता। दयालुता और मैत्री का व्यवहार करना ये किसी के साथ नहीं जानते हैं। ये जो कुछ कहते या करते हैं उसीको ठीक समझते हैं और जो इनके किये को गलत कहता है उसे ये अपना शत्रु समझते हैं। ये मित्रों के अभाव में कटु अनुभूतियों को सहते अपना जीवन-यापन एकान्त में करना पसंद करते

हैं। ये सन्देही स्वभाव के तो होते ही हैं, घृणा भी दूसरों के प्रति कम मात्रा में प्रदर्शित नहीं करते हैं। जीवन के प्रारम्भ में ऐसे व्यक्ति पारिवारिक विच्छेद भी कर लेते हैं।

इनकी अभिलाषाएँ बहुत उच्च और अधिक होती हैं लेकिन, उनकी तुलना मे ये वस्तुत: बहुत ही कम करने में समर्थ होते हैं। चूँकि ये लोग अत्यधिक अहंकारी स्वभाव के होते हैं, इसलिए अपनी सीमा और पराजय को स्वीकार करना नहीं जानते। अत: विवशत: इन्हें अपनी आन्तरिक इच्छा की संतुष्टि के लिए व्यामोह को विकसित करना पड़ता है। इससे इनके दो अभीष्टों की सिद्धि होती है। पहली तो यह कि ये अपनी असफलता का कारण दूसरों के मत्थे आसानी से मढ़ देते हैं और दूसरी सिद्धि यह होती है कि ऐसे व्यामोह से ये अपनी प्रभुता के बारे में अधिक जोर देने में समर्थ होते हैं।

इस मनोव्याधि के लक्षणों को समझने के लिए इसके प्रकारों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए लक्षणों का उल्लेख प्रकारों के साथ ही करना सुविधा-जनक प्रतीत होता है।

लक्षण तथा प्रकार (Symptoms and Types)

धार्मिक स्थिरव्यामोह (Religious Paranoia)—जो व्यक्ति धार्मिक स्थिरव्यामोह से ग्रस्त रहता है वह अपने को देवदूत समझता है। उसमे यह विश्वास रहता है कि ईश्वर ने उसे अपने धर्म के प्रचार के लिए ही पैदा किया है। वह जिस धर्म का प्रचार करना चाहता है वह कुछ विचित्र प्रकार का होता है। अगर हम प्राचीन धार्मिक नेताओं के जीवन इतिहास का अध्ययन करें तो उनमें से कितने इस मनोरोग के शिकार प्रमाणित होंगे।

सुधारात्मक स्थिरव्यामोह (Reformatory Paranoia):—जिस व्यक्ति में इस प्रकार का दोष पाया जाता है वह संसार को नैतिक एवं आर्थिक संकट से घिरा हुआ और अपने को उससे पनाह देनेवाला समझता है। दृष्टिगत करने पर इस रोग से पीड़ित मनोरोगियों को हम अपने सामान्य जीवन में आसानी से पा सकते हैं।

कामुकस्थिरव्यामोह (Erotic Paranoia):—इस प्रकार का रोगी ऐसा विश्वास करता है कि उससे कुलीनवशीय उच्च विषमलिंगी वैवाहिक सम्बन्ध के लिए प्रेम करती है। ऐसे व्यामोह से पीड़ित रोगी कभी कभी ऐसे व्यक्तियों को प्रेम-पत्र लिख बैठते हैं, जिन्हें वे कभी देखे भी

नहीं रहते हैं। फिशर ने एक ऐसे ही रोगी की चर्चा अपनी पुस्तक में की है जो एक उच्च कुल की महिला को प्रेम-पत्र लिखता था; किन्तु कुछ उत्तर न पा उसने यह निश्चित किया कि उक्त महिला उससे व्याह करना चाहती है और घरवाले इसका विरोध करते हैं। अन्त में उसे मानसिक अस्पताल में महिला के घरवालों ने भेजवा दिया।

विवादात्मक स्थिरव्यामोह (Litigious Paranoia):—इस प्रकार के रोगी में यह विश्वास रहता है कि वह किसी तरह की गलती नहीं करता, दूसरे ही शत्रुतावश उसका विरोध करते हैं। यह बदला लेने के लिए रुपया रहने पर न्यायालयों की शरण लेता है और हार जाने पर पुनः अपील की कार्यवाही करता है। ऐसा व्यक्ति कभी-कभी नरहत्या करने पर भी तुल जाता है।

दण्डात्मक स्थिरव्यामोह (Persecutory Paranoia) :–अधिकांश रोगी दण्डात्मक स्थिर-व्यामोह से पीड़ित रहते हैं। इसमे दण्ड व्यामोह की प्रधानता रहती है। ऐसे रोगी को यह विश्वास रहता है कि सभी लोग या किसी पार्टी-विशेष से सम्बन्ध रखनेवाले सभी उसके शत्रु हैं और उसके पतन पर तुले हुए हैं। इसलिए निर्दोष व्यक्तियों में भी ऐसा रोगी दोष ही देखता है। अस्पताल में रहने पर वह यह कहते हुए पाया जाता है कि डाक्टर उसकी जान लेने पर उतारू है। सहनशील प्रकृति का रोगी तो किसी तरह की क्षति किसी को नहीं पहुँचाता लेकिन, उदण्ड रोगी हत्या और बदला के लिए तैयार हो जाता है और कभी-कभी क्षति कर बैठता है। ब्ल्युलर के शब्दो में दण्डात्मक व्यामोह के साथ-साथ ऐश्वर्य व्यामोह (Delusion of grandeur) का रहना स्वाभाविक है।

कायिक स्थिरव्यामोह (Hypochondrical Paranoia) :—इस प्रकार के रोगी में स्वास्थ्य के प्रति व्यामोह की प्रधानता रहती है। वह विश्वास करता है कि उसमे तरह-तरह के असाध्य रोग हैं जिनका अच्छा होना असंभव है। वह डाक्टरो से संतुष्ट नहीं रहता और अपने स्वास्थ्य के लिए उन्हीं को दोषी भी ठहराता है। जो निष्क्रिय स्वरूप के रोगी होते हैं वे जीवन से निराश हो जाते हैं; क्योंकि उनमें यह विश्वास हो जाता है कि उन्हें कोई भी शक्ति रोग से निर्मुक्त करने मे समर्थ नहीं है।

अब विभिन्न प्रकारो का उल्लेख कर देने के बाद थोड़े शब्दों में पुन. यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह रोग क्रमशः आविर्भूत होता है।

इसके प्रारंभ में वजन में कमी, अनिद्रा, सिरदर्द, साधारण कामों में अभिरुचि का अभाव और उत्ताप की कमी के लक्षण पाये जाते हैं। बाद में किसी प्रकार के व्यामोह की प्रधानता रहती है। ऐसे रोगियों की सबसे बड़ी यह विशेषता होती है कि इनकी चेतना और स्मृति में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं देखी जाती है।

कारण:—स्थिरव्यामोह के कारण के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है। शरीर-रचना या दैहिक प्रक्रियाओं की असामान्यताओं को इस रोग का कारण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसमें किसी तरह की गड़बड़ी नहीं पायी गयी है।

कैमेरन (Cameron) ने व्यक्तित्व प्रकार विशेष को ही इस रोग का कारण माना है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि भावुक, सन्देही, ईर्ष्यालु, अभिलाषी, लज्जाशील, स्वार्थी, स्वप्नदर्शी प्रकार के जो व्यक्ति होते वे ही इस रोग के शिकार होते हैं। उसका यह कथन कुछ अंशों में सत्य अवश्य है लेकिन, व्यक्तित्व-प्रकार को ही इस रोग का कारण मान लेना उचित नहीं जँचता है।

कुछ विद्वानों ने इस रोग की व्याख्या भावग्रंथि के आधार पर की है लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि सामान्यतः किसी न-किसी प्रकार की भावग्रंथि तो सभी व्यक्तियों में पायी जाती है। अतएव किस प्रकार की भावग्रंथि इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होती है, वह निश्चयात्मक रूप से व्यक्त कर देना आवश्यक है।

फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने इसकी व्याख्या समलैंगिक स्थिरीकरण (Homosexual fixation) तथा समलैंगिक प्रवृत्ति के दमन के आधार पर की है। फ्रायड का कहना है कि समलैंगिक प्रवृत्ति को चेतना में न आने देना और उसका दमन करना स्थिरव्यामोह का कारण है। दण्ड-स्थिर-व्यामोह के सम्बन्ध में ऐसे रोगी के मन में किस प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, इसका बहुत ही सुन्दर उल्लेख फ्रायड ने किया है। इसी प्रकार अन्य व्यामोहों की भी व्याख्या फ्रायड ने समलैंगिक प्रवृत्ति के दमन और स्थिरीकरण के आधार पर की है।

हण्डर्सन प्रभृति विद्वानों ने फ्रायड की विचारधारा की परीक्षा के लिए ऐसे रोगियों का अध्ययन किया है। उस अध्ययन के आधार पर उनका कहना है कि स्थिरव्यामोहियों में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य मिलते हैं जिनमें समलैंगिकता के बीजतत्त्व पाये जाते हैं; किंतु सभी रोगियों में ऐसा नहीं पाया जाता है, अतएव फ्रायड का सिद्धान्त आंशिक सत्य का ही प्रतिपादन करता

है। इसीलिए हएडर्सन प्रभृति विद्वानों का कहना है कि विभिन्न कारणों से उत्पन्न हीनभाव (Inferiority feeling) ही इस रोग का कारण है। यह हीन-भाव निराशा, असफलता, दोष-भाव (Guilt feeling) आदि किसी कारण से भी उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए रोगी विभिन्न प्रकार के व्यामोहों से पीड़ित होते हैं, एक से ही नहीं।

फिशर ने सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए वंशानुक्रम को कुछ अंशों में इस रोग का कारण माना है। इसके अतिरिक्त वह दमन और भावनाग्रंथियों के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण सर्वमान्य नहीं है। अतएव हम यही कहना उचित समझते हैं कि स्थिरव्यामोह में कई कारणों का हाथ रहता है; लेकिन उसमें प्रधानता दमित भावनाग्रंथियों की ही रहती है जिसकी अभिव्यक्ति रोगी प्रक्षेपण (Projection) के द्वारा करके अपने को संतुष्ट करता है।

उपचार :—इस रोग का उपचार करना सरल नहीं है; क्योंकि यह रोग बहुत असाध्य होता है। लेकिन, रोगी जन-धन को किसी तरह की क्षति नहीं पहुँचा सके और स्वयं भी आराम से रहे, इसके लिए इसका उपचार आवश्यक हो जाता है। इनसुलिन की सुई कुछ रोगियों को अच्छा करने में लाभप्रद प्रमाणित हुई है। सभी रोगियों के लिए यह भी उपकारी सिद्ध नहीं हो सकी है। इसलिए इसकी चिकित्सा या सुधार के लिए यह आवश्यक है कि चिकित्सक उसका विश्वासभाजन बनकर उसके व्यक्ति-इतिहास और छिपी भावग्रंथियों को जाने। उसे भी धीरे-धीरे उसकी कमियों को समझावे और जब वह अपने दोष से परिचित हो जायगा तो कुछ अंशों में वह अवश्य ही अपना सुधार करेगा। मनोविश्लेषण-विधि की उपयोगिता विशेष रूप से देखने में नहीं आती है; क्योंकि रोगी चिकित्सक को सन्देह की दृष्टि से देखता है और वह उसे अपना सहयोग भी नहीं देता है। लेकिन, उपचार जो कुछ भी हो, इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि रोग का पता लगते ही प्रारम्भ में सुधार की व्यवस्था करने पर कुछ अंशों में सफलता मिलती है। बाद में किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं रह जाती है।

उत्साह-विषाद-मनोविकृति (Manic-Depressive Psychosis)

स्वरूप :—उत्साह-विषाद-मनोविकृति का स्थान व्यापकता की दृष्टि से दूसरा है। मनोविदलता के बाद यह रोग अधिकांश व्यक्तियों में पाया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक और ग्रामीणों की अपेक्षा नागरिक अधिक

इस रोग के शिकार होते हैं। यों तो उत्साह विषाद पद का निर्माण उन्नीसवीं सदी की देन है ; लेकिन इस रोग की व्यापकता का उल्लेख बाइबिल तथा प्राचीन यूनानी ग्रंथों में भी मिलता है। प्लेटो ने इस मनोरोग की चर्चा की है। कुछ विद्वानों ने तो इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि जब मनुष्य कन्दराओं और जंगलों का जीवन व्यतीत करता था तो उस समय भी इस व्याधि की अधिकता थी।

इस रोग के स्वरूप पर विचार करने से मालूम होगा कि इस मनोविकृति मे रोगी के संवेगात्मक पहलू में अत्यधिक गड़बड़ी हो जाती है, यों अन्य पहलू भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रहते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कभी रोगी अत्यधिक प्रसन्न और क्रियाशील होता है तो कभी अत्यधिक दुखी और निष्क्रिय होता है। पहले उत्साह और विषाद को विद्वान दो भिन्न मनोविकृतियाँ मानते थे। लेकिन, सन् १८५० ई० और सन् १८५४ ई० के बीच फालरेट (Falret) तथा बेलार्जर (Baillarger) ने यह उद्-घोषित किया कि एक ही व्यक्ति में ये दोनों मनोविकृतियाँ क्रमशः दृष्टिगोचर होती हैं। अन्य विद्वानों ने इसपर अपना ध्यान नहीं दिया। अतएव इन दोनो को एक ही व्याधि के दो पहलू व्यक्त करने का श्रेय प्रधान मनो-चिकित्सक क्रेपलिन को ही है। उसने सन् १८९९ ई० में निश्चयात्मक रूप से उत्साह-विषाद को एक मनोविकृति के रूप में वर्णित किया। तभी से आज तक सभी विद्वान इसे एक मनोविकृति के रूप में मानते हैं। लांज (Lange) तथा मेयर (Meyer) प्रभृति विद्वानो ने इस मनोविकृति के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला है जिसका अध्ययन जिज्ञासु पाठक कर सकते हैं।

इस प्रसंग में यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि किसी रोगी में इन दोनों पहलुओं का क्रमशः आविर्भूत होना आवश्यक नहीं है। बहुत-से रोगी निरंतर उत्साह या विषाद से पीड़ित रहते हैं और बहुतों मे दोनों पहलू क्रमशः देखे भी जाते हैं। उत्साह की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था मे, जिसे हम ईषद् उत्साह (Hypomania) कह सकते हैं, रोगी प्रसन्न-चित्त रहता है और सभी चीजे या घटनाएँ उसे अच्छी लगती हैं। इस अवस्था में आत्मस्थापन (Self-Assertion) की प्रधानता रहती है। दूसरी अवस्था को तीव्र उत्साह (Acute mania) कहते हैं। यह पहली अवस्था का ही अतिरंजित रूप है। इसमें रोगी में क्रम और व्यवस्था का अभाव रहता है। उसकी क्रियाओं में प्रबलता और निर्णय मे निस्सारता रहती है। उसके कहने और करने में भी विचार का अभाव रहता है। उसमे क्रोध, प्रेम आदि के संवेग उग्र रूप धारण कर लेते हैं। अत्यधिक प्रसन्नता

भी इस अवस्था की विशेषता है। तीसरी अवस्था तीव्रतम उत्साह (Hyper-acute mania) की है। इसमें रोगी की सभी क्रियाएँ पागलों की-सी होती हैं। नाचना, गाना, हँसना, ध्वसात्मक वृत्ति का प्रदर्शन करना, इस अवस्था की विशेषताएँ हैं। विषादावस्था की भी तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था को सरल विमन्दन (Simple Retardation) कहते हैं। इस अवस्था मे रोगी की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में शिथिलता आ जाती है और वह द्वन्द्वावस्था में रहता है। दूसरी अवस्था तीव्र विषाद (Acute Melancholia) के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवस्था मे रोगी अपने को अत्यधिक दीन हीन समझता है और आत्महत्या की भी कामना करता है। तीसरी अवस्था को तीव्रतम विषाद (Stuporous Melancholia) कहते हैं। इस अवस्था में रोगी में आत्म-अपराध और पाप भाव की प्रधानता रहती है। वह जीवन से निराश होकर अपने को कोसता और आँसू बहाता है। आत्महत्या करने के लिए वह बार-बार उद्यत होना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस रोग के दोनों पहलुओं मे तीन-तीन अवस्थाएँ पायी जाती हैं। इसके निम्नांकित लक्षणों से इसके स्वरूप पर और भी काफी प्रकाश पड़ेगा।

सामान्य लक्षण (General Symptoms):—सभी प्रकार के उत्साह-विषाद में अबोध (Imperception) की विशेषता पायी जाती है। रोगी में प्रत्यक्षीकरण की शक्ति की क्षीणता पायी जाती है। उत्साह या विषाद कोई भी अवस्था क्यो न हो, लेकिन वह अपना ध्यान किसी परिस्थिति, घटना या विषय पर लगाने में असमर्थ होता है। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से देखते-सुनते रहने पर भी उसे किसी उत्तेजना का समुचित ज्ञान नहीं होता है। वह किसी पुस्तक के कई पृष्ठों को पढ़ लेने के बाद भी यह कहने में समर्थ नहीं होता कि उसने क्या पढ़ा है। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों से आबद्ध प्रत्यक्षीकरण भी अधूरा होता है।

यों तो सामान्यावस्था में उसकी चेतना में किसी प्रकार की गड़बड़ी दृष्टि-गोचर नहीं होती है; किंतु तीव्र अवस्था में उसकी चेतना धुँधली हो जाती है। उसकी इस प्रकार की चेतना का ज्ञान तो उसकी प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण पर ही निर्भर करता है लेकिन, इस सम्बन्ध मे क्रेपलिन का कहना है कि इस अवस्था में रोगी को अपने वातावरण की चेतना अनिश्चित एवं धुँधली रहती है। उसे समय और स्थान का भी स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता है।

रोगी की निर्णय-शक्ति में भी कमी आ जाती है, इसलिए उसका निर्णय असत्य और दोषपूर्ण होता है। उसके इस दोषपूर्ण निर्णय का एकमात्र कारण उसका व्यामोह होता है। अगर रोगी अवसादावस्था (Depression) में रहता है तो दो आदमियों को बातें करते हुए देखकर वह अपने को दण्ड पाने का निर्णय करता है। उत्साहावस्था में रहने पर वह नयी-नयी योजनाएँ तैयार करता है और अपने आपको अत्यधिक महत्वशाली समझता है।

विपर्यय (Illusion) तथा विभ्रम (Hallucination) की विशेषताएँ भी रोगियों में देखी जाती हैं। ये दोनों उसके उमंग के अनुरूप होते हैं। रोगी जब उत्साह की अवस्था में रहता है तो नवागन्तुक को अपना बेटा या मित्र समझ लेता है। विषाद की अवस्था में वही नवागन्तुक उसको घातक शत्रु के रूप में दिखलाई देता है। रात में सोते समय विषादावस्था में उसे आत्मभर्त्सना या दण्ड के लिए तरह-तरह के शब्दों के सुनने का विभ्रम होता है।

उत्साह की अवस्था में रोगी में क्रोध, लैंगिक संवेगों की बहुलता रहती है और उसका अहंभाव भी तीव्र रहता है। लेकिन, विषाद की अवस्था मे उसमें भयात्मक प्रतिक्रियाओं का आविर्भाव होता है। वह अपने आपको दूसरे की मर्जी पर छोड़ देता है, इसलिए उसे जो कुछ भी आदेश दिया जाता है वह उसका पालन करता है। इस प्रकार उत्साहावस्था मे उसमें आक्रामक और धनात्मक प्रतिक्रियाओं की प्रधानता रहती है और विषादावस्था मे आत्मविनीतता (Self-Submissiveness) तथा निषेधात्मक प्रतिक्रियाओं की प्रधानता रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्साह की अवस्था में रोगी अत्यधिक क्रियाशील रहता है। प्रसन्नता की भी कमी नहीं रहती है। लेकिन, विषादावस्था में वह निष्क्रिय, खिन्न, उदास, और अपने आपको कोसनेवाला होता है। उसमें शरीर-सम्बन्धी तरह-तरह की चिन्ताएँ भी रहती हैं। कभी-कभी रोगी इस अवस्था में अपनी अवस्था को समझने में समर्थ होता है, इसलिए वह उपचार की भी कामना करता है।

प्रकार :—यदि हम उत्साह-विषाद के प्रकारों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि औपचारिक दृष्टिकोण से यह कई प्रकार का होता है। आवर्ती-उत्साह Recurrent Mania) में रोगी अत्यधिक उत्तेजित रहता है, फिर शान्त होकर उत्तेजित हो जाता है। आवर्ती-विषाद (Recurrent Melancholia) में वह अपने जीवन से निराश और हतोत्साह रहता है।

उसे जीवन और संसार की सभी चीजें नीरस मालूम होती हैं। एकान्तरिक उत्साह-विषाद (Alternating Manic-Depression) की अवस्था में रोगी उत्साही और प्रसन्न रहता है, फिर साधारण अवस्था में आकर उदास और खिन्न हो जाता है। उभयरूपी उत्साह-विषाद (Manic Depression of Double form) की हालत में रोगी प्रसन्न और खिन्न दोनों ही रहता है। वह प्रसन्नता और खिन्नता के व्यापारों से पीड़ित रहता है। वर्तुली उत्साह-विषाद (Circular Manic Depression) की हालत में रोगी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में निरन्तर परिवर्तित होता रहता है।

कारण (Etiology) :—उत्साह-विषाद के कारण के सम्बन्ध में कई विचारधाराएँ हैं। प्रेसी (Pressey), स्ट्रेकर (Strecker), इबो (Ebaugh), ब्रिज प्रभृति विद्वानों ने ऐसे रोगियों और परिवारों का अध्ययन करके यह व्यक्त किया है कि यह रोग वंशानुक्रमिक (Hereditary) है। व्यक्ति अपने पूर्वजों के कुछ ऐसे शील-गुणों को प्राप्त करता है जो इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। यह सिद्धान्त निराधार नहीं है; क्योंकि इसका प्रतिपादन विद्वानों ने विभिन्न रोगियों के वंशानुक्रम और सम्बन्धियों का अध्ययन करके किया है। यद्यपि उनकी खोजें इसके साक्षी हैं कि जिनके माता-पिता या अन्य नजदीकी सम्बन्धियों में यह रोग पाया जाता है उनमें रोग की संभावना अधिक रहती है। लेकिन, एक भी अध्ययन ऐसा नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वंशानुक्रम मात्र ही इस रोग का पर्याप्त कारण है।

रोसनाफ तथा उसके सहयोगियों ने जो अध्ययन इस दिशा में किया है उससे यह स्पष्ट है कि रोगियों के तीस प्रतिशत जुड़वे बच्चों में इस रोग की संभावना या किसी प्रकार की संभावना नहीं थी। अगर वंशानुक्रम इसका कारण होता तो ये बच्चे भी इस रोग से अवश्य ही ग्रस्त रहते। इसलिए इस सम्बन्ध में रोसनाफ का कहना है कि इस रोग को उत्पन्न करने में वातावरण का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। वातावरण का किस प्रकार का असर इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होता है यह अभी तक निश्चयात्मक रूप से स्पष्ट नहीं हो सका है। हाँ, तात्कालिक कारणों में पारिवारिक मृत्यु, पदच्युति, आर्थिक कठिनाई, बालोत्पत्ति, शारीरिक अस्वस्थता और प्रेम में निराशा आदि के अगों की परिगणना की गयी है।

इस रोग की व्याख्या करने के लिए दैहिक सिद्धान्त के प्रतिपादकों का

कहना है कि इस रोग का कारण शरीर की आन्तरिक गड़बड़ी है। जब शरीर की आन्तरिक क्रियाओं में उपद्रव होते हैं तभी उत्साह-विषाद-मनोविकृति का आविर्भाव भी होता है। ये विद्वान अन्तःस्रावीग्रथियों की गड़बड़ी (Disturbances in the Endocrine functions), पाचन-क्रिया का उपद्रव, मस्तिष्क-उपद्रव, रक्तचाप (Blood-pressure) आदि को इस रोग का कारण मानते हैं। इस पक्ष के प्रमाण में प्रयोगात्मक प्रमाणों की भी कमी नहीं है। लेकिन, ऐसे कारण इस रोग के स्वरूप की व्याख्या करने मे असमर्थ हैं, अतएव इस रोग की दैहिक व्याख्या मान्य नहीं कही जा सकती है। इस दृष्टिकोण के पृष्ठपोषकों में कॉटन (Cotton), मेनर्ट (Meynert) प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

क्रेशमर (Kretschmer) ने ८५ ऐसे रोगियों का अध्ययन करके इस रोग की व्याख्या व्यक्तित्व-प्रकार के आधार पर करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार यह रोग पूर्णतः शारीरिक बनावट पर निर्भर करता है। उसने साइक्लोथाइमिक (Cyclothymic) व्यक्तित्व-प्रकार को ही इस रोग का कारण माना है। उसके इस विचार का कुछ विद्वानों ने स्वागत भी किया है लेकिन, उसे अपने प्रयत्न मे पूरी सफलता नहीं मिली है; क्योंकि दूसरी तरह की शरीर-रचना के व्यक्ति भी इस रोग से पीड़ित पाये जाते हैं। इसी प्रकार युंग ने इस रोग की बहुलता बहिर्मुखी व्यक्तियों में बतायी है लेकिन, उसका दृष्टिकोण भी उन्हीं दोषों से पूर्ण है जिनसे कि क्रेशमर का। अतएव व्यक्तित्व-प्रकार के आधार पर इसकी सर्वांगपूर्ण व्याख्या संभव नहीं है।

मेकडुगल के अनुसार यह रोग आत्मस्थापन (Self-Assertion) तथा आत्म विनीतता (Self-Submission) की दो प्रवृत्तियों के पारस्परिक असंतुलन के फलस्वरूप होता है। उत्साह की अवस्था में मनुष्य में आत्मस्थापन और विषाद की हालत में आत्मविनीतता की प्रधानता रहती है। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों मे पारस्परिक असतुलन रहता है, इसलिए व्यक्ति उत्साह विषाद-मनोविकृति से पीड़ित हो जाता है। वस्तुतः यदि दोनों प्रवृत्तियों का संतुलन समुचित रूप से हो तो व्यक्ति इस रोग से पीड़ित न हो।

इसी प्रकार एडलर ने आत्मस्थापन और हीन-भाव (Inferiority feeling) को ही उत्साह-विषाद का कारण माना है। उसका कहना है कि व्यक्ति में जब आत्मस्थापन की प्रवृत्ति उचित रूप से प्रकाशित

नहीं हो पाती तो उसका दमन होकर वह हीनभाव में परिणत हो जाती है। उसकी आत्मस्थापन की प्रवृत्ति उत्साहावस्था को, हीनभाव की प्रवृत्ति विषादावस्था को जन्म देती है। इस प्रकार एडलर और मेकडुगल करीब-करीब एक ही विचार का प्रतिपादन विभिन्न शब्दों में करते हैं।

फ्रायड ने इसकी व्याख्या प्रत्यावर्तन और आदर्शात्मा (Super-ego) के आधार पर की है। इस सम्बन्ध मे उसका कहना है कि रोगी का प्रत्यावर्तन गुदद्वारीय अवस्था (Anal stage) और मौखिक अवस्था मे हो जाता है। पुनः वह कहता है कि आदर्शात्मा का शासन अबोधात्मा (Id) और बोधात्मा दोनों ही पर होता है। इस आदर्शात्मा के शासन के फलस्वरूप व्यक्ति का अचेतनमन दोषभाव (Feeling of guilt) से पीड़ित रहने लगता है और इस तरह वह अपने आपको कोसता और उदास तथा खिन्न रहता है। कभी-कभी इस अपराध भाव का प्रभाव उल्टा होता है और ऐसी हालत में रोगी अत्यधिक उत्तेजित हो जाता है। यद्यपि फ्रायड के विचारों की भी कड़ी आलोचनाएँ हुई हैं; लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि उसने दैहिक या वातावरण-सम्बन्धी व्याख्या न कर मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर ही विशेष जोर दिया है।

इस प्रकार विभिन्न कारणों को ध्यान मे रखते हुए हम यह कहना उचित समझते हैं कि इस रोग के उत्पन्न करने मे वशानुक्रम, वातावरण या और भी किसी अश का हाथ क्यों न हो, लेकिन मानसिक अंगों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। वस्तुत: अन्य कारणों की अपेक्षा मानसिक कारण प्रधान है; क्योंकि जब तक व्यक्ति में मानसिक सतुलन रहता है तब तक वह किसी रोग का शिकार नहीं होता है। इसलिए यह मानसिक असंतुलन के ही फलस्वरूप उत्पन्न होता है, वह असंतुलन चाहे जिस कारण का भी परिणाम हो।

उपचार :—इस रोग के निराकरण के लिए रोगी के शारीरिक आराम पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। उसे बिस्तर पर आराम करने की विशेष रूप से व्यवस्था करना हितकर होता है। पौष्टिक पदार्थों (फल, दूध, मक्खन) का खिलाना विशेष लाभदायक होता है। रोगी के साथ सहानुभूति-प्रदर्शन और उसके सामने किसी प्रकार की काना-फूसी न करना आवश्यक है; क्योंकि काना-फूसी करने का वह गलत अर्थ लगा लेता है। गर्म जल से स्नान कराने से भी रोगी को फायदा होता है। उससे मधुर सभाषण करना, काम करने या टहलने के लिए प्रोत्साहित करना भी श्रेयस्कर प्रमाणित हुआ है। कभी-कभी निद्रा-चिकित्सा (Sleep therapy) से ऐसे रोगियों को

दशा में सुधार होता है। किन्तु, ऐसी अवस्था में उनको पौष्टिक पदार्थों ,को देने की सुन्दरतम व्यवस्था नितान्त अपेक्षित है। उत्तेजितावस्था में नींद की औषधि दे देना भी हानिकर नहीं होता है। आघात चिकित्सा (Shock therapy) से भी रोगियों की अवस्था में सुधार होते देखा जाता है। हालत कुछ में सुधार होने पर मनोविश्लेषण-विधि का व्यवहार करना उपकारी सिद्ध होता है। असाध्यावस्था में अस्पताल मे भर्ती कर देना भी अनुचित नहीं होता है लेकिन, ऐसी हालत में रोगी पर विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता पड़ती है।

मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis) और मनोविकृति (Psychosis) का तुलनात्मक अध्ययन

हम पिछले अध्याय में विभिन्न मनोस्नायुविकृतियों का अध्ययन कर चुके हैं; इसलिए इस स्थल पर दोनों का तुलनात्मक अध्ययन कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है की दोनों कि परिगणना मानसिक रोगों के अन्तर्गत होती है। लेकिन, साधारण कोटि के मानसिक रोगों को मनोस्नायुविकृति और विषम तथा असाध्य रोगों को मनोविकृति के नाम से पुकारते हैं।

मनोस्नायुविकृति को जन्म देने मे मानसिक (Psychogenic) और वशानुक्रम के अंगों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है, स्नायविक दैहिक (Neurophysical) तथा रासायनिक (Chemical) अगों का विशेष महत्व नहीं रहता। मनोविकृति में वंशानुक्रमिक, विषजन्य (Toxic) तथा स्नायविक अगों की प्रधानता रहती है, मानसिक कारण रह सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं। इसलिए इसकी विशेष प्रधानता इस रोग में नहीं रहती है।

मनोस्नायुविकृति में भाषा और चिंतन की प्रक्रियाएँ पूर्णतः संगत (Coherent) तथा तार्किक रहती हैं। व्यामोह, विभ्रम तथा मानसिक धुँधलापन का अभाव रहता है; लेकिन मनोविकृति में भाषा और चितन की क्रियाएँ असंगत, निरर्थक और अतार्किक होती हैं। व्यामोह, विभ्रम तथा मानसिक धुँधलापन की प्रचुरता रहती है। इनके उदाहरणों की यहाँ आवश्यकता नहीं है, पाठक विभिन्न बीमारियों के आधार पर इन कथनों की सत्यता को देख सकते हैं।

मनोस्नायुविकृति का रोगी आत्मसंयम एव आत्मप्रबन्ध में समर्थ होता है। आत्मनिर्भर रहने की शक्ति भी उसमें पायी जाती है और आत्म या परहत्या के अंकुर उसमें दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। मनोविकृति का रोगी आत्मप्रबन्ध और संयम के अयोग्य होता है। उसमें हत्या की वृत्ति की प्रधानता पायी जाती है, जैसा कि हम विभिन्न रोगियों के सम्बन्ध मे उल्लेख कर चुके हैं। यही कारण है कि ऐसे रोगियों को अस्पताल या ऐसी ही अन्य संस्थाओं मे भर्ती करा देना आवश्यक होता है। इसे हम दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि मनोस्नायुविकृति के रोगी समाज के भार हैं तो मनोविकृति के रोगी समाज के लिए खतरनाक।

मनोस्नायुविकृति के रोगी के व्यक्तित्व में सामान्य से कुछ ही कम या अधिक परिवर्तन होता है; किंतु मनोविकृति के रोगी का व्यक्तित्व पूर्णतः भिन्न होता है; अतएव उसका व्यक्तित्व ही परिवर्तित हो जाता है।

मनोस्नायुविकृति का रोगी अपने अभाव को समझता है, लेकिन मनोविकृति के रोगी को अपनी अवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता या बहुत ही कम ज्ञान रहता है। इसी को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मनोस्नायुविकृति में अन्तर्दृष्टि (Insight) की कमी नही होती है लेकिन, मनोविकृति में इसका अभाव रहता है या इसकी मात्रा बहुत ही कम रहती है।

मनोस्नायुविकृतिो का उपचार. संसूचन, सम्मोहन, पुनर्शिक्षण, मनोविश्लेषण आदि विभिन्न मनोचिकित्साओं से सरलतापूर्वक होता है और रोगी को लाभ भी होता है। लेकिन, मनोविकृतियों में इन मनोचिकित्सा विधियो से कोई उपकार नहीं होता और यदि होता भी है तो वह नहीं के बराबर होता है। इसके लिए दैहिक और रासायनिक उपचार अधिक लाभप्रद होते हैं, जैसा कि विभिन्न रोगों के उपचारों से स्पष्ट है।

मनोस्नायुविकृति के लक्षण क्षणिक और अस्थायी होते हैं, इसलिए चिकित्सा करने पर वे जल्द ही विलीन भी हो जाते हैं। मनोविकृति के लक्षण स्थायी स्वरूप के होते हैं, चिकित्सा का प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ता है। इसलिए मनोविकृति के रोगियों में मानसिक ह्रास तथा मृत्यु की संख्या अधिक देखने में आती है। लेकिन, मनोस्नायुविकृति के अधिकांश रोगी स्वस्थ हो जाते हैं, इसलिए मृत्यु-संख्या बहुत कम देखने में आती है।

अन्त मे हम यह भी कह सकते हैं कि प्राय: सभी रोगी अपनी कमी को मनोस्नायुविकृति की हालत में जानते हैं; इसलिए उन्हें दूर करने के लिए

चिकित्सक को वे सहयोग देते हैं। किंतु, मनोविकृति के रोगी अपने पागलपन को स्वीकार नहीं करते, इसलिए चिकित्सक को भी अपना सहयोग वे नहीं प्रदान करते हैं।

फिर भी यहाँ यह न भूलना होगा कि मनोस्नायुविकृति और मनोविकृति दोनों मानसिक बीमारियों की ही दो श्रेणियाँ हैं। जब तक रोगी को वास्तविकता का ज्ञान रहता है तबतक वह मनोस्नायुविकृत व्यक्ति रहता है; किन्तु जब उसका ज्ञान बिल्कुल समाप्त हो जाता है, वह मनोविकृत व्यक्ति बन जाता है। इस तरह अन्तर केवल मात्रा (Degree) का है।

नवाँ अध्याय

मानसिक दुर्बलता (Mental Deficiency)

स्वरूप :—मानसिक दुर्बलता का शाब्दिक अर्थ मानसिक कमजोरी अथवा न्यूनता है। इसे कभी-कभी मनोदौर्बल्य (Feeble mindedness) भी कहते हैं। यों तो मन से इच्छात्मक (Conative), भावात्मक (Affective) और ज्ञानात्मक (Cognitive) तीनों प्रकार की क्रियाओं का बोध होता है किन्तु, जब दुर्बलता या न्यूनता (Deficiency) पद का व्यवहार मन के साथ होता है तब उस समय मन का व्यवहार सिर्फ उसकी ज्ञानात्मक योग्यता के अर्थ में किया जाता है। अतएव मानसिक दुर्बलता का अभिप्राय है, मन की ज्ञानात्मक योग्यता का अभाव या कमी। जिस व्यक्ति में मनोदौर्बल्य होती है उसकी चिन्तन, स्मृति, कल्पनात्मक आदि प्रक्रियाएँ अत्यन्त निम्न कोटि की होती हैं। वह किसी परिस्थिति की मोटी-मोटी बातों को ही जानने और समझने मे समर्थ होता है, सूक्ष्म बातों को नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक दुर्बलता, मन की ज्ञानात्मक शक्तियो के अभाव या कमी का ही द्योतक है। मनोदौर्बल्य (Feeble mindedness), मानसिक अपसामान्यता (Mental Subnormality), अभावोन्माद (Amentia) आदि भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। लेकिन, यहाँ दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि अपसामान्य (Subnormal) तथा असामान्य (Abnormal) में अन्तर है। हम अपसामान्य उस व्यक्ति को कहते हैं जो किसी जनसंख्या की औसत बुद्धि (Average Intelligence) से कम हो लेकिन, असामान्य व्यक्ति उसे कहते हैं जो किसी जनसंख्या के प्रामाणिक पहलुओं से भिन्न हो। अत: असामान्य व्यक्ति बुद्धि में अपने समूह की बुद्धि के मध्यमान (Average) से कम या अधिक कुछ भी हो सकता है। अगर वह बुद्धि में अधिक और अन्य पहलुओं में समूह से भिन्न है तो वस्तुतः वह असामान्य है, अपसामान्य नहीं। लेकिन, व्यवहार की भिन्नता के साथ साथ यदि वह बुद्धि में समूह की औसत बुद्धि से कम है तो वह असामान्य और अपसामान्य दोनों ही है। मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis) से पीड़ित व्यक्ति असामान्य कहा जाता है, अपसामान्य नहीं। लेकिन,

यदि उसमें औसत बुद्धि का अभाव रहता है तब उसे हम अपसामान्य और असामान्य दोनों गुणों से युक्त पाते हैं। वस्तुतः अपसामान्य का मतलब होता है ज्ञान-विहीन या ज्ञानात्मक योग्यता का अभाव। इसी प्रकार अभावोन्माद (Amentia) और मनोभ्रंशता में भी अन्तर है। अभावोन्माद का अर्थ मनोदौर्बल्य ही होता है। इसलिए जिस व्यक्ति में जन्म से अथवा जीवन के प्रारम्भ मे औसत बुद्धि का अभाव रहता है उसे हम अभावोन्माद-ग्रस्त व्यक्ति कहते हैं। लेकिन, जिस व्यक्ति में बुद्धि रहती है और बाद मे चलकर किसी कारणवश उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है तो उस अवस्था में उसे हम मनोभ्रंश कहते हैं। इस प्रकार की मनोभ्रंशता का उदाहरण हमें मनोविकृति से ग्रस्त व्यक्तियों (Psychotic Individuals) मे मिलता है।

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि किसी मनुष्य की बुद्धि या बुद्धिहीनता का ज्ञान हमे उसकी विभिन्न ऐसी प्रतिक्रियाओं द्वारा होता है जिन्हें वह अपने वातावरण में अभियोजनार्थ करता है। इन प्रतिक्रियाओं को हमलोग अपने विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। इसलिए विभिन्न विद्वानों ने मानसिक दुर्बलता की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। लेकिन, यहाँ हम उन सबका उल्लेख न करके कुछ व्याख्याओं पर ही आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे, तत्पश्चात इसके अन्य विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करेंगे।

ट्रेडगोल्ड (Tredgold) के अनुसार मानसिक दुर्बलता मस्तिष्क की शक्तियों के विकास की वह अवरुद्धावस्था (Restricted state) है जिसके फलस्वरूप कोई व्यक्ति अपने वातावरण या समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए किसी वाह्य आश्रय या निरीक्षण (External Support or Supervision) से स्वतत्र होकर अपने को अभियोजित करने में असमर्थ होता है। इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति में मनोदौर्बल्य मौजूद रहता है वह बिना किसी के आश्रय के अपनेको वातावरण के अनुकूल अभियोजित करने में समर्थ नहीं होता। उसके सम्यक अभियोजन के लिए किसी के निरीक्षण या मार्गोपदेशन (Guidance) की नितांत आवश्यकता रहती है। यदि इस परिभाषा के दोष-गुणों पर विचार करें तो मालूम होगा कि वस्तुतः यह परिभाषा कई कारणों से मान्य नहीं है। पहली बात तो यह है कि मस्तिष्क की शक्तियों का विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभिन्न रूप धारण करता है, इसलिए इस विकास की अवरुद्धता को निर्धारित करना असंभव-सा है। इसी प्रकार पूर्ण मस्तिष्क का विकास

होने पर भी एक सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण मे रहनेवाला व्यक्ति दूसरे सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण में अभियोजन करने में असफल होता है। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी देहात से नगर में आने पर अपने को अभियोजित करने में असमर्थ पाता है। अतएव वातावरण की अभियोजन-शैली के आधार पर मानसिक दुर्बलता को निर्धारित करना युक्तिसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त, प्राय: ऐसा देखने में आता है कि कोई व्यक्ति किसी-किसी तरह अपने आपको अभियोजित करने मे समर्थ होता है तो कोई थोड़ी-सी कमी के कारण असमर्थ होता है। ऐसे स्थलों पर मानसिक दुर्बल और बुद्धिमान व्यक्ति का निर्धारण करना कठिन होता है। इतना ही क्यों, बल्कि ऐसा भी देखने मे आता है कि कई ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति हैं जिनका सामाजिक एवं आर्थिक अभियोजन उचित नहीं होता। तो क्या हम ऐसे व्यक्तियों को मानसिक दुर्बल कह सकते हैं? इस प्रकार हम देखते हैं कि यह औपचारिक परिभाषा मान्य नहीं है।

इसी प्रकार ग्रेटब्रिटेन के रायल कमीशन ने इसकी जो व्याख्या की है उसके अनुसार वही व्यक्ति मानसिक दुर्बल है जो अनुकूल वातावरण में तो अपना जीविकोपार्जन कर सकता है, लेकिन जन्मजात मानसिक दोष के कारण सामान्य लोगों की तरह जीवनयापन करने अथवा अपने व्यक्तिगत जीवन की साधारण समस्याओं को दक्षता के साथ सुलझाने में असमर्थ होता है। लेकिन, यह व्याख्या भी उपर्युक्त व्याख्या के ही समान कई कारणों से अमान्य है।

शिक्षा-शास्त्रियों का दृष्टिकोण भी, मनोदौर्बल्य के प्रति, ग्राह्य नहीं है; क्योंकि उन्होंने मानसिक दुर्बलता का निर्धारण व्यक्ति के अध्ययन की योग्यता के माध्यम से किया हैं। उनके अनुसार यदि कोई बालक अपने सहपाठियों की अपेक्षा अध्ययन कार्य में पिछड़ा हो तो वह मानसिक दुर्बलता से पीड़ित है। किंतु, हमें इस स्थल पर यह याद रखना होगा कि केवल मानसिक दुर्बलता ही पढ़ने-लिखने में पिछड़ने का कारण नहीं होती, बल्कि ज्ञानेन्द्रिय-दोष, आकस्मिक बीमारी, अनुपस्थिति आदि कारण भी होते हैं। अतएव शिक्षा-शास्त्रियों की उपर्युक्त व्याख्या संतोषप्रद नहीं कही जा सकती।

वैधानिक (Legal) विचार-धारा के अनुसार जो मनुष्य उचितानुचित अथवा किसी कार्य के परिणाम को समझता है, वह बुद्धिमान है। लेकिन, जिसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं है और न तो अनुचित कार्यों के परिणाम को ही समझने की शक्ति है, वह मानसिक दुर्बल है। इस प्रकार यह

व्याख्या मनुष्य की जवाबदेही में विश्वास करती है और उसकी आवश्यकताओं की उपेक्षा करती है। लेकिन, हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी सभी क्रियाएँ क्योंकर निर्धारित होती हैं। अतएव हम इस व्याख्या को भी मान्य नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त भी हम यह व्यक्त कर चुके हैं कि बुद्धिमान और निर्बल बुद्धि के व्यक्ति में केवल मात्रा (Degree) का भेद होता है; क्योंकि दोनों के मध्य बुद्धि की कई मात्राएँ या श्रेणियाँ होती हैं। इसलिए यदि हम अ + १ बुद्धिवाले को बुद्धिमान और अ—१ बुद्धिवाले को मानसिक दुर्बल कहें तो हमारी समस्या बहुत विकट हो जाती है; क्योंकि यदि ऐसी परिस्थिति में अ बुद्धि का व्यक्ति कोई असामाजिक कार्य करता है तो उस समय उसे हम किस श्रेणी में रखें, यह विचारणीय है। अत: मानसिक दुर्बलता की वैधानिक व्याख्या को हम निर्दोष नहीं कह सकते।

अब उपर्युक्त व्याख्याओं को ध्यान में रखते हुए हम उसी व्यक्ति को मानसिक दुर्बल कहना उचित समझते हैं, जिसकी बुद्धि-उपलब्धि (I. Q.) सत्तर या इससे भी कम हो और जो बुद्धि के दृष्टिकोण से दो प्रतिशत निम्नबुद्धि के व्यक्तियों की श्रेणी के अन्तर्गत हो। इसे हम और भी स्पष्ट करने के लिए दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जिन व्यक्तियों की बुद्धि-उपलब्धि सत्तर या इससे भी कम होती है और जो किसी जन-संख्या के दो प्रतिशत के लगभग हैं, वे व्यक्ति मानसिक दुर्बल हैं।

मानसिक दुर्बलता की सामान्य विशेषताएँ
(General Characteristics)

जब हम मानसिक दुर्बल व्यक्तियों की विशेषताओं पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि उनकी बौद्धिक शक्तियाँ अत्यन्त सीमित रहती हैं। ऐसी बौद्धिक शक्ति के कारण व्यक्ति विभिन्न सूक्ष्म कौशलों को सीखने मे समर्थ नहीं होता और न तो वह जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल कर पाता है। वह अपने गत अनुभवों से कुछ लाभान्वित नहीं होता; क्योंकि उनका उपयोग करना वह नहीं जानता। इतना ही नही, बल्कि उसमे अमूर्त (Abstract) एवं रचनात्मक (Creative) शक्तियों की भी क्षमता नहीं होती और न तो वह अपनी कठिनाइयों को ही सुलझा पाता है। गणित की योग्यता भी ऐसे व्यक्ति में नहीं होती और शिक्षण बहुत निम्नकोटि का होता है। उसकी भी गति बहुत मन्द होती है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को कुछ सिखलाना बहुत कठिन होता है। इसमें समझ की कमी होती है;

इसलिए यह कुछ रटकर याद करने में ही समर्थ होता है और बार-बार एक ही प्रकार की अशुद्धियों की पुनरावृत्ति भी करता है। अगर एक चीज को बार-बार न दुहराया जाय तो ऐसे व्यक्ति उसे शीघ्र भूल जाते हैं। हाँ, कुछ मानसिक दुर्बल व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें साधारण बातें पढ़ाई-लिखाई जा सकती हैं। ऐसे लोगों का मानसिक विकास बहुत शीघ्र अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और पुनः सामान्य लोगों की तरह उसका विकास बाद मे नहीं होता है।

ऐसे व्यक्तियों का जो अध्ययन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि ऐसे लोगों में आत्म-रक्षा (Self-care) और आत्म निर्भरता की क्षमता नहीं रहती। अतः ये सामाजिक जीवन मे पूर्णतः सफल नहीं होते। जब ये बच्चे रहते हैं तो इनकी अत्यधिक मदद संरक्षकों को करनी पड़ती है और अधिक वर्षों तक इन्हें खिलाने और कपड़ा पहनाने का काम अभिभावकों को करना पड़ता है; क्योंकि ये स्वयं ऐसा करने योग्य नहीं रहते हैं। अन्य बच्चों के साथ जब ये खेलने जाते हैं तो वहाँ भी माता-पिता को बराबर इनकी निगरानी करनी पड़ती है। ये सामान्य बच्चो से खेल-कूद के मामले मे भी बराबर पिछड़े रहते हैं और अपने समवयस्कों के साथ न खेलकर अपने से छोटे बच्चों के साथ खेलना अधिक पसद करते हैं। ऐसे लोगों को पग-पग पर कुछ खेलने या करने के लिए अभिभावकों को कहना पड़ता है।

अपनी प्रौढ़ावस्था में भी इन्हें अपने आर्थिक एव सामाजिक कल्याण के लिए दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। बहुत ही कम ऐसे मानसिक दुर्बल व्यक्ति होते हैं जो स्वयं अपना प्रबन्ध करने में समर्थ होते हैं। ऐसी औरतों मे तो अपनी व्यवस्था करने की शक्ति और भी कम होती है। इस दिशा में बृतानिया मानसिक दुर्बलता-समिति (British Mental Deficiency Committee) ने जो अन्वेषण मानसिक दुर्बल व्यक्तियों का किया है, उसका अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि उनमें से सिर्फ चौदह प्रतिशत व्यक्ति अपना सभी प्रबन्ध करने में समर्थ थे और ४६ प्र० श० ऐसे व्यक्ति थे जो ऐसा करने में अशतः सफल थे लेकिन, अवशेष व्यक्ति इस दृष्टिकोण से पूर्णतः असफल थे।

ये वैयक्तिक एव सामाजिक समस्याओं को भी, जिनके लिए साधारण बुद्धि की जरूरत रहती है, सुलझाने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। लेकिन, अगर इनकी कुछ सहायता की जाय तो ये ऐसा करने में सफल-मनोरथ भी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यदि नियन्त्रित न रखा जाय और आवश्यक निर्देशन न दिया जाय तो ये असामाजिक कामों में प्रवृत्त होते हैं। लेकिन, इनके ऐसे कामों के करने का यह मतलब नहीं होता कि

इनमें असामाजिक कार्यों को करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। बल्कि ये ऐसा इसलिए करते हैं कि इनका मानसिक विकास इतना अपूर्ण होता है कि इनमें उचित-अनुचित के निर्णय की शक्ति ही नहीं रहती। नियन्त्रण के अभाव में इनमें चोरी एवं ध्वंसात्मक कार्यों को करने और लैंगिक (Sexual) क्रिया आदि के व्यापार अधिकांश देखने में आते हैं। वस्तुतः इनमें तर्क का अभाव रहता है। इसलिए किसी अनुचित कार्य का परिणाम क्या होगा, इस पर ये विचार नहीं करते। अतः वर्तमान परिस्थिति से उत्तेजित होकर ये असामाजिक कार्यों को कर बैठते हैं। जो दशा बच्चों की होती है वही दशा इनकी भी रहती है, इसलिए जो झोंक मे आता है ये वही करते हैं। इस प्रकार इनका सामाजिक अभियोजन उचित नहीं होता और न इसका समुचित विकास ही इनमें होता है।

मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में ध्यानावस्थित (Attentive) होने की शक्ति भी बहुत कम होती है। इसलिए ये किसी काम को निरंतर करने में असमर्थ होते हैं। इनकी अभिरुचियाँ (Interests) अत्यधिक सीमित होती हैं। स्मृति-विस्तार (Memory Span) तो इनका सीमित होता ही है साथ-साथ धारणा (Retention) के दृष्टिकोण से भी इनकी अवस्था दरिद्र होती है। किसी चित्र या शब्द को दिखलाने पर इनमें अधिक साहचर्यों (Associations) का आविर्भाव नहीं होता और न इनमें कल्पनात्मक एवं रचनात्मक शक्तियों का ही प्राबल्य रहता है। इसलिए इनमे कल्पनात्मक क्रियाएँ कम देखने मे आती हैं, वे भी ऐसे ही व्यक्तियों में जिनमें कि यह दोष बहुत कम मात्रा में रहता है। यही कारण है कि ऐसे व्यक्तियो में से बहुत ही कम लोग दिवास्वप्न में संलग्न होते पाये जाते हैं।

जिन व्यक्तियों में मानसिक दुर्बलता कम मात्रा मे होती है उनमें भूख, प्यास, या घातक चीजों से बचने की क्रियाओं को देखा जाता है; लेकिन जिनमें इसकी अधिकता रहती है वे अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूर्णतः प्रकाशित करने में असमर्थ होते हैं। उनमे क्रोध, भय, घृणा तथा प्रसन्नता के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संवेग नहीं देखे जाते। स्थायी भावों का तो सर्वथा अभाव ही रहता है। यद्यपि कुछ व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की तरह अपने सवेगों का प्रकाशन करते हैं; किंतु उनके संवेग एवं भावों में वह प्रबलता और समृद्धता नहीं रहती जो कि सामान्य व्यक्तियों में पायी जाती है।

व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से मानसिक दुर्बल व्यक्तियों मे किसी प्रकार की विशेष भिन्नता देखने में नहीं आती है। सभी समान रूप से रूखा और

भव्यताविहीन होते हैं। उनमे अनुशीलता (Submission) की प्रधानता रहती है और वे सरलतया दूसरों से प्रभावित भी हो जाते हैं। स्वभाव (Temperament) अधिकांशतः स्थिर (Stable) स्वरूप का और उदासीन (Apathetic) होता है; किंतु कुछ ऐसे भी देखने मे आते हैं, जिनका स्वभाव चंचल एवं उत्तेजनशील होता है। इसलिए उनमें समय-समय पर परिवर्तन भी देखने में आता है।

शरीर रचना के तरह-तरह के दोष ऐसे व्यक्तियों में पाये जाते हैं। उनका शारीरिक विकास प्रायः अपूर्ण ही रहता है और देखने में भी वे रोगी की तरह मालूम पड़ते हैं। उनमें शारीरिक शक्ति और सहनशक्ति की बहुत कमी रहती है। किसी प्रकार के शारीरिक रोग के शिकार वे आसानी से होते हैं। उनकी मृत्यु सख्या भी सामान्य व्यक्तियो से अधिक होती है।

सभी शारीरिक रचनाओं में हीनता (Inferiority) के कारण वे चलना और बोलना सामान्य लोगों की अपेक्षा विलम्ब से सीखते हैं और उनमें भी कभी पूर्णता नहीं आती है। चलने और बात करने का ढंग बेतुका होता ही है, साथ-साथ ध्वन्यात्मक (Auditory) और दृष्ट्यात्मक (Visual) दोष भी पाये जाते हैं। जिनमें यह मानसिक दोष अधिक मात्रा में होता है उनमें पीड़ा, दुर्गन्ध और अरुचिकर स्वादों के लिए संवेदनशीलता (Sensitivity) अत्यल्प या नहीं के बराबर होती है।

मानसिक दुर्बलता की मात्रा

(Degree of M. Deficiency)

सभी व्यक्तियों में मानसिक योग्यता एक ही मात्रा में नहीं होती; बल्कि किसी में कम और किसी में अधिक होती है। अतएव मात्रा के दृष्टिकोण से हम मानसिक दुर्बलता को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं, जिन्हें हम क्रमशः जड़ (Idiot), मूढ (Imbecile) और मूर्ख (Moron) की सज्ञा दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त और भी निर्बलबुद्धि (Borderline) और मन्द-बुद्धि (Dull) की श्रेणियाँ बना सकते हैं; लेकिन, इनमें इतनी सामान्यता के लक्षण रहते हैं कि इनको बुद्धि परीक्षण की सहायता के बिना सामान्य व्यक्तियों से अलग करना कठिन होता है। अतएव यहाँ उपर्युक्त तीन मात्राओं का ही संक्षिप्ततः उल्लेख किया जायगा।

जड़ (Idiot) :—जिस व्यक्ति में अत्यधिक मानसिक दुर्बलता रहती है उसे जड़ कहते हैं। जिसमें यह दोष रहता है उसका ज्ञान उसके प्रारंभिक शैशव काल में ही हो जाता है; क्योंकि इसके चिन्ह विशेष जन्म से

मौजूद रहते हैं। इनकी बुद्धि उपलब्धि २० से अधिक नहीं होती और सामाजिक तथा मानसिक आयु तीन वर्ष के भीतर रहती है। ऐसे व्यक्ति में इस प्रकार बुद्धि का अभाव रहता है कि वह अपनी रक्षा किसी भयावह परिस्थिति से करने में पूर्णतः असमर्थ होता है। अगर सामने से कोई मोटर या सवारी आती रहे तो वह इतना भी नहीं सोच सकता है कि वह उससे अपनी रक्षा कैसे करे। उसमें चलने और बोलने की क्षमता बहुत दिनो बाद होती है और वह भी अपूर्ण ही रहती है। उसके वाक्यों में पूर्णता कभी नहीं आती, क्योंकि वह एक पदीय वाक्यों को ही बोलने में समर्थ होता है। उसमें शारीरिक दोषों की कमी नहीं रहती। वह लकवा, यक्ष्मा आदि रोगों का शिकार आसानी से हो जाता है। वह स्वय कुछ करने मे अयोग्य होता है। खाना, पीना, कपड़ा पहनना आदि भी वह स्वय नहीं कर सकता। शौचादि का भी उसे समुचित ज्ञान नहीं रहता है, इसलिए समय और स्थान का विचार न करके वह यत्रतत्र शौचादि कर देता है। वह जीवन के किसी आवश्यक कार्य को करने लायक नहीं रहता और यदि कुछ करता भी है तो उसके करने का तरीका बेढब ही रहता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः बचपन मे ही मर जाता है, क्योंकि उसका जीवन-विस्तार (Span of life) बहुत कम होता है। जितने दिन तक वह जीवित रहता है उतने दिन तक वह प्रायः रुग्ण बना रहता है। ऐसे व्यक्तियो की जीवन भर सभी कामों में निगरानी करनी पड़ती है और पगपग पर इनकी रक्षा के लिये सचेत रहना पड़ता है। इसलिए सगे सम्बन्धियों के लिए ये भारस्वरूप रहते हैं।

मूढ़ (Imbecile) :—मूढ़ व्यक्तियों की मानसिक दुर्बलता जड़ से कम; किन्तु मूर्ख से अधिक होती है। वस्तुतः मूढता (Imbecility) की अवस्था को हम मध्यम (Intermediate) कह सकते हैं।' इनकी बुद्धि-उपलब्धि २० से लेकर पचास तक और मानसिक आयु तीन से सात वर्ष या इससे कुछ ही अधिक होती है। विभिन्न खोजों से यह भी निश्चित हुआ है कि मानसिक दुर्बलो मे इनकी सख्या बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होती। इन्हें बचपन में शिक्षा विशेष की व्यवस्था से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। ये अपनी रक्षा खतरनाक परिस्थितियों से करलें और अपने अन्य साथियों को किसी तरह का नुकसान न पहुँचावें, इसके लिये इनकी निरंतर निगरानी करनी आवश्यक रहता है। जो व्यक्ति शरीर से पुष्ट रहते हैं वे कुछ अशों मे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हैं और समय पड़ने पर आग-पानी आदि से अपनी रक्षा कर लेते हैं। जानवरों को चराने, चारा खिलाने, घास-भूसा करने, मकान को साफ करने आदि साधारण काम इन्हें सिखलाये जा सकते

हैं; लेकिन इन कामों को इनसे कराने के लिये भी निरीक्षण और निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि स्वतत्र होकर ये उन कामो को करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अपनी रक्षा और जीविकोपार्जन का कार्य बिना किसी अन्य आश्रय के करने में असमर्थ होते हैं। लेकिन, ये जड़ से कुछ अच्छे इसलिए कहे जा सकते हैं कि कुछ अशों में अपनी रक्षा का ध्यान ये रखते हैं और साधारण खतरों से अपनी रक्षा भी कर लेते हैं; परन्तु किसी भी काम के लिए ये आत्मनिर्भर नहीं हो सकते। अतः सामान्य व्यक्तियो का निरीक्षण (Supervision) एवं मार्गोपदेशन अपेक्षित होता है। इनमें भी लकवा और अन्य शारीरिक दोष देखने में आते हैं। इनकी क्रियाओं में सहनियमन (Co-ordination) का अभाव रहता है। इन्हें लिखने-पढ़ने की उच्च शिक्षा देनी संभव नहीं; परन्तु प्रयास करने पर थोड़ा बहुत सिखलाया भी जा सकता है। यद्यपि इनमें अनुकरण-शीलता की मात्रा अत्यधिक सीमित होती है; किंतु कुछ व्यक्तियों मे इसकी कार्यवाही देखने मे आती है।

मूर्ख (Moron) :—मूर्ख व्यक्तियों की मानसिक शक्ति जड़ और मूढ दोनों की अपेक्षा अधिक होती है, क्योंकि इनकी मानसिक आयु सात से बारह वर्ष तक की होती है। ऐसे व्यक्ति अपने बचपन में साधारण पाठशालाओं के अध्यापन से लाभान्वित नहीं होते, क्योंकि मानसिक दुर्बलताके कारण ये सामान्य बच्चों के लिए व्यवस्थित विषय को समझने में असमर्थ होते हैं। देख भाल करने पर ये आसानी से अपनी या दूसरों की रक्षा कर लेते हैं। इनमें न तो उपर्युक्त दोनों श्रेणियों की तरह शारीरिक भद्दापन होता है और न ये सामान्य रुग्ण व्यक्तियों की तरह पढने-लिखने के काम में पिछड़ते हैं। ये किसी काम को भले उत्तमता के साथ न कर सकें लेकिन, योग्यतानुसार काम देने पर ये उसे किसी प्रकार कर ही देते हैं। यद्यपि इनमें सूझ (Understanding) की कमी रहती है और इनका निर्णय (Judgement) और चिन्तन (Thinking) भी अपूर्ण होता है, किन्तु पाठशालीय जीवन के अनुसार ये अपना सामाजिक जीवन भी किसी प्रकार व्यतीत करने में समर्थ होते हैं। ऐसे लोगों में किसी ध्येय विशेष से किसी काम को निरंतर करने की क्षमता नहीं होती, क्योंकि इनका ध्येय बराबर बदलता रहता है। ऐसे लोगों में किसी काम को अधूरा छोड़ कर दूसरे काम को करने की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल होती है, इसलिए कभी कोई काम पूरा ये नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वय भी अपराध (Crime) करते हैं औ दूसरों के बहकावे में भी आकर करते हैं। इनमें संसूचन-शीलता

(Suggestibility) अधिक होती है और कुछ ऐसे व्यक्ति दस्तकारी के कामों में काफी निपुण होते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य मात्राओं के जो व्यक्ति होते हैं उनका हम उल्लेख नहीं करेंगे; क्योंकि वे सामान्य लोगों से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि उनको प्रत्यक्षतया देखकर समझना असंभव है। ऐसी मात्राओं का ज्ञान बुद्ध्यात्मक कार्यों (Intellectual works) के सूक्ष्म विश्लेषण से ही हो सकता है, क्योकि उनमे शारीरिक दोषों का अभाव रहता है। लेकिन, इसके पहले कि हम दूसरे पहलुओं का उल्लेख करें यहाँ दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। साधारणत: मूर्ख (Moron), मूढ़ (Imbecile) की अपेक्षा शरीर में लम्बा और मजबूत होता है। उसमे शारीरिक दोष कम ही रहते हैं और आयु मूढ से अधिक होती है। इसी प्रकार मूढ़, जड़ (Idiot) की अपेक्षा शरीर में अच्छा और अधिक दिन जीवित रहता है। इनकी सख्या भी जड़ों से अधिक होती है ; किन्तु इनसे अधिक संख्या में मूर्ख (Morons) होते हैं। मूर्खों की सख्या जड़ और मूढ़ दोनों से अधिक होती है। इस दिशा में जो खोजें हुई हैं उनका अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि ५ प्रतिशत जड़, २० प्रतिशत मूढ़ और ७५ प्रतिशत मूर्ख मानसिक दुर्बलों में पाये जाते हैं ; लेकिन जिन मानसिक दुर्बलों को विभिन्न संस्थाओ में रखा गया है उनका अध्ययन करने से १५ प्रतिशत जड़, ३० प्रतिशत मूढ़ और ४५ प्रतिशत मूर्खों की संख्या प्रमाणित होती है। अवशेष १० प्रतिशत के सम्बन्ध में निश्चयात्मक निर्णय देना कठिन है कि उनमें यह दोष किस मात्रा में मौजूद है। संस्थाओं में जड़ और मूढ़ों की अधिक संख्या होने का यही एकमात्र कारण मालूम होता है कि उन्हीं को विभिन्न संस्थाओं में रखा जाता है जिनमें कि यह दोष अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में इन दो मात्राओं के मानसिक दुर्बलों का अधिक होना स्वाभाविक है।

जड विद्वान (Idiot Savant) :—मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति मिलते हैं कि मानसिक दोष रहते हुए भी उनमें अपवादत: (Exceptionally) योग्यता विशेष पायी जाती है। लेकिन, यह योग्यता विशेष व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक लाभप्रद नहीं होती। ऐसे व्यक्ति की तुलना सामान्य व्यक्ति की योग्यताओं से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी यह योग्यता साधारण कोटि की ही होती है; लेकिन, यह मानसिक दुर्बल व्यक्ति में रहने पर कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। ये बुद्धि परीक्षा करने पर मूढ़ या मूर्ख के ही अन्तर्गत आते हैं, लेकिन ऐसे कुछ व्यक्ति मनोभ्रंशता (Dementia) के शिकार मालूम होते हैं। परन्तु इनकी सख्या यदा-

-कदा देखने में आती है और इसके सम्बन्ध में भी ऐसी सभावना ही की जाती है।

बड़ी-बड़ी सस्थाओं मे जहाँ कि मानसिक दुर्बल व्यक्तियों के रखने का प्रबन्ध रहता है वहाँ जड़ विद्वान एक-दो की संख्या में पाये जाते हैं। इनमें यांत्रिक योग्यता (Mechanical ability), रेखाकन (Drawing), चित्रकारी (Painting), संगीत या स्मृति की योग्यता विलक्षण रूप में पायी जाती है। इस प्रकार ये सामाजिकता में अभाव प्रदर्शित करते हैं; किन्तु योग्यता विशेष की दृष्टि से इनमे मानसिक दोष प्रत्यक्षतया मालूम नहीं होता। लेकिन, ऐसे व्यक्तियों में से दो तीन व्यक्तियों की बुद्धि परीक्षा लेने पर उनमें बुद्धि उपलब्धि ४५ से ६८ तक प्राप्त हुई है। अतएव ऐसे लोगों को जड़विद्वान कहना भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुत: न ये जड़ होते हैं और न तो विद्वान ही होते हैं। हाँ, कुछ जड़विद्वानों में गत या भविष्य की तिथियों को व्यक्त करने की विलक्षण योग्यता होती है। ये किस प्रकार किसी तिथि को बताने में समर्थ होते हैं यह रहस्यमय प्रतीत होता है। सन् १९५२ ई० के दिसम्बर में साइकोलाजिकल इन्स्टीट्यूट, पटना के विद्यार्थियों की जो बम्बई की यात्रा हुई थी उस यात्रा के अवसर पर वकील इन्स्टीट्यूट, बम्बई में उन विद्यार्थियों को एक ऐसे ही जड़विद्वान बालक को देखने का मौका मिला था। वह अपनी इस विलक्षण योग्यता के कारण सभी को चकित कर दिया। उस सस्था में वह मानसिक दोष के सुधार के लिए लाया गया था और कई महीनों से वहीं भर्ती था। टेम्पुल विश्वविद्यालय के जे० डी० पेज ने भी अपनी पुस्तक में एक ऐसे जड़विद्वान का उल्लेख किया है जो पूछे जाने पर, यह तीन सेकण्ड में ही व्यक्त कर दिया कि २० मार्च सन् १९५२ ई० वृहस्पतिवार को पड़ेगा।

वर्गीकरण (Classification)

यों तो मानसिक दुर्बलता का वर्गीकरण विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर किया है; लेकिन यहाँ हम उन सब का उल्लेख न करके ट्रेडगोल्ड (Tredgold) और लेविस (Lewis) के वर्गीकरणों पर प्रकाश डालेंगे।

ट्रेडगोल्ड के अनुसार सभी मानसिक दुर्बलताओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—मौलिक (Primary) तथा गौण (Secondary)। उसका यह वर्गीकरण, कारण (Cause) के आधार पर किया हुआ है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि मानसिक दुर्बलता की कोई भी मात्रा किसी भी वर्ग मे पाई जाती है। लेकिन, गौण मानसिक दुर्बलता प्रधान मानसिकदुर्बलता की अपेक्षा बुद्धिहीनता में

अधिक प्रबल होती है। उसके अनुसार जिस मानसिक दुर्बलता का कारण वंशानुक्रम (Heredity) या जीवाणुकोषो (Germcells) की क्षति हो, और जो मानसिक विकास और स्वतंत्र सामाजिक अभियोजन को अवरुद्ध कर देती है, उसे मौलिक मानसिक दुर्बलता कहते हैं। इसके अन्तर्गत ८० प्रतिशत मानसिक दुर्बल व्यक्ति पाये जाते हैं। ७३ प्र० श० को,जिनमें दुर्बलता के शारीरिक चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते, साधारण मौलिक अभावोन्मादी (Smiple Primary Aments) कहते हैं ; लेकिन, अवशेष ७ प्रतिशत औपचारिक प्रकार के होते हैं।

जिस मानसिक दुर्बलता के कारण वंशानुक्रम नहीं अपितु, वाह्य अंग होते हैं, उसे हम गौण अभावोन्माद (Secondary Amentia) कहते हैं। दोष जन्मजात नहीं अपितु, अर्जित होता है ; क्योंकि गर्भाधान के बाद वाह्य व्याघातक अंगों के कारण मानसिक शक्तियों के सामान्य विकास में अवरुद्धता आ जाती है। बच्चे को मस्तिष्क के सामान्य विकास के लिए जेनियाँ (Genes) प्राप्त हो सकती हैं; किन्तु जन्म के पहले या बाद मस्तिष्क की क्षति से वह मानसिक दुर्बल हो सकता है। लेकिन, वह किस अंश तक इस दोष का शिकार होगा यह क्षति के स्वरूप और मस्तिष्क के भाग तथा उसकी आयु पर निर्भर करता है। इस कोटि में २० प्रतिशत मानसिक दुर्बल आते हैं। इस प्रकार ट्रेडगोल्ड ने मानसिक दुर्बलता का विभाजन किया है। लेकिन, उसका यह विभाजन सतोषप्रद नहीं है; क्योंकि कभी-कभी यह निश्चित करना असभव हो जाता है कि किसी व्यक्ति विशेष में यह दोष वंशानुक्रम के फलस्वरूप है या वाह्य व्याघातक अंगों का परिणाम है।

इसी प्रकार लेविस ने भी अपसांस्कृतिक (Subcultural) तथा विकृत्यात्मक (Pathological) दो प्रकारों में मानसिक दुर्बलता का विभाजन किया है। अधिकाश मानसिक दुर्बल व्यक्ति अपसांस्कृतिक होते हैं और अल्पसंख्यक विकृत्यात्मक प्रकार के होते हैं। अपसांस्कृतिकों में शारीरिक रचना और दैहिक दृष्टिकोण से सामान्य लोगों से कोई भिन्नता नहीं दृष्टिगोचर होती; किन्तु दूसरे वर्ग के लोगों में काफी भिन्नता सामान्य व्यक्तियो की अपेक्षा देखने में आती है। यद्यपि किसी प्रकार की मानसिक दुर्बलता दोनों श्रेणियों में पायी जाती है; लेकिन अपसांस्कृतिक दोषवाले दूसरे प्रकार से कुछ अच्छे होते हैं। जहाँ अपसांस्कृतिक मानसिक दुर्बलता में वशानुक्रम का हाथ रहता है, वहीं विकृत्यात्मक मानसिक दुर्बलता में आंगिक (Organic) क्षतियों या असामान्यताओ का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इसी तरह इन दोनों विभाजनों में और भी कई तरह के अन्तर होते हैं। लेकिन, उनपर

प्रकाश न डालकर हम इस विभाजन के प्रति इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि लेविस का यह विभाजन भी ट्रेडगोल्ड के ही समान है।

औपचारिक प्रकार (Clinical Types)

यद्यपि मानसिक दुर्बल व्यक्तियों का शारीरिक गठन सामान्य व्यक्तियों के शारीरिक गठन की अपेक्षा अव्यवस्थित प्रतीत होता है; लेकिन बहुसख्यक मानसिक दुर्बल व्यक्ति ऐसे देखने में आते हैं जिनमें सामान्य व्यक्तियों से किसी प्रकार की राचनिक (Morphological) भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतएव प्राचीन चिकित्सकों की यह विचारधारा कि इस दोष से ग्रस्त व्यक्ति में विभिन्न शारीरिक दोष पाये जाते हैं, दोषपूर्ण प्रमाणित कर दी गई है। लेकिन, यह दृष्टिकोण दोषपूर्ण होते हुए भी हम विधेयात्मक तथ्यों (Objective facts) की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि बहुत से ऐसे मानसिक दुर्बल देखे जाते हैं, जिनमें मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के दोष मौजूद रहते हैं। अतएव इस स्थल पर मानसिक दुर्बलता के प्रमुख औपचारिक प्रकारो का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। लेकिन, यहाँ यह स्मरणीय है कि यद्यपि इसके कई प्रकार हैं परन्तु, उनमें से गलगण्डाभावोन्माद (Cretin Amentia) मगोलियन अभावोन्माद (Mongolian Amentia), लघुमस्तिष्क - अभावोन्माद (Microcephalic) तथा मस्तिष्क जलवृद्धि-अभावोन्माद (Hydrocephalic Amentia) की बहुलता एव प्रधानता है, इसलिए यहाँ उपर्युक्त चार प्रकारों पर ही सक्षिप्तत: प्रकाश डाला जयेगा।

गलगण्ड अभावोन्माद (Cretin Amentia) :—जितने मानसिक दुर्बलों को विभिन्न सस्थाओं में रखा गया है उनका अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि गलगण्ड-अभावोन्मादियों की संख्या उनमें तीन से पाँच प्रतिशत ही है। ऐसे व्यक्ति का बचपन में शारीरिक विकास उचित रूप से नहीं होता। यह अवस्था कंठपिण्ड की कार्यवाही (Thyroid Activity) मे कमी के कारण होती है। इनकी दैहिक रचना और मुखाकृति ऐसी होती है कि देखते ही ये आसानी से पहचान में आ जाते हैं। ये कद के बौने या नाटे होते हैं, यहाँ तक कि कोई जवानी मे भी दो हाथ लम्बाई से अधिक नहीं होते। इनके हाथ पैर मोटे और छोटे होते हैं तथा उँगलियाँ भी ठूँठी-होती हैं। उन्नत पेट और शैशव शारीरिक अनुपात इनकी अपनी विशेष विशेषताएँ हैं। इनका मस्तक तो बड़ा होता है; लेनिक गदन मोटी और छोटी होती

है। इनके शरीर का चमड़ा रूखा, भद्दा और भूरे रंग का होता है, उसमें भी जगह-जगह गाँठ ऐसा मालूम होता है। आँख की पलकें फूली हुई, होठ मोटे, नाक चिपटी और जीभ भद्दी, लम्बी तथा मुँह से निकली हुई रहती है। शरीर के विभिन्न अगों की विचित्र रचना के कारण व्यक्ति मन्द, उदासीन और लापरवाह-सा मालूम होता है। ये इतने सुस्त होते हैं कि इनका उठना-बैठना भी देर से होता है। इनके शारीरिक सतुलन में न तो स्थिरता रहती है और न इनकी गति में किसी प्रकार की रोचकता ही रहती है। चलना भी ये चार-पाँच वर्ष की उम्र में प्रारंभ करते हैं। इसी प्रकार इनकी जवानी भी देर से प्रारंभ होती है और पुरुषों में अण्डकोष (Testes) कभी-कभी नीचे तक उभड़ता भी नहीं है, जैसा कि सामान्य व्यक्तियों में होता है।

इनकी बुद्धि और संवेगात्मक शक्तियों में कमी पाई जाती है, इसलिए सभी मात्रा की मानसिक दुर्बलता इस प्रकार में पाई जाती है; किंतु प्रधानता जड़ और मूढ़ों की ही रहती है। ये अपना ध्यान किसी वस्तुविशेष पर लगाने में असमर्थ होते हैं और इनमें प्रेरणा (Motivation) बहुत ही कम मात्रा मे पाई जाती है। भाषा भी सात-आठ वर्ष में देखने में आती है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ऐसे व्यक्तियों में से अधिकाश लोगों में व्यक्तित्व सम्बन्धी कई प्रकार की गड़बड़ी रहती है, तथापि इनमे से अधिकांश बहुत ही अच्छे स्वभाव के और निर्दोष होते हैं और अन्य मानसिक दुर्बलों की अपेक्षा ये बहुत ही कम उपद्रव करते हैं। इनमें स्नेह या प्रेम की भावना कम नहीं रहती है, इसलिए ये दूसरों को स्नेह भी करते हैं।

जब ऐसे व्यक्तियों की शव-परीक्षा (Post-mortem) की गयी है तो देखा गया है कि इनके मस्तिष्क बहुत ही छोटे और ऐंठे हुए होते हैं तथा वाह्यांशकोषों (Cortical cells) का विकास भी अपूर्ण रहता है। इस प्रकार, यद्यपि इनके मस्तिष्क मे किसी प्रकार की क्षति नहीं रहती है लेकिन, जैसे शरीर के अन्य अंगों का विकास सुचारु रूप से नहीं होता, उसी प्रकार इनके मस्तिष्क का भी विकास अवरुद्ध हो जाता है।

मंगोलियन अभावोन्माद (Mongolian Amentia) :— इसके पहले कि हम मंगोलियन अभावोन्मादी की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख करें यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इस प्रकार के व्यक्तियों की मुखाकृति मंगोल जाति से इतनी मिलती-जुलती है कि उसी जाति के नामपर इस विशेष प्रकार के व्यक्तियों का भी नाम पड़ा है। बादाम के समान आँखें, चौरस चेहरा, चौरस गोल तथा छोटी खोपड़ी, इनकी अपनी विचित्र

विशेषताएँ हैं, जो इन्हें अन्य मानसिक दुर्बलों से भिन्न करती हैं। अवस्था वृद्धि के साथ इनकी आँखों का तिरछापन और साथ ही साथ अन्य विशेषताएँ भी विनष्ट हो जाती हैं। यों तो ये अपने परिवार के अन्य सदस्यों से भिन्न होते हैं; लेकिन अपने बचपन में सभी मगोलियन अभावोन्मादी समान प्रकार के ही होते हैं। इनके होठ दरार के समान फटे हुए तथा जिह्वा निकली हुई रहती है जिसपर कि गहरी लकीरें दृष्टिगोचर होती हैं। ये लकीरे भी बहुत अव्य-वस्थित एव अस्तव्यस्त-सी होती हैं। ऐसी पतली लकीरें हथेलियों पर भी कम संख्या में नहीं रहतीं। इनके हाथ-पैर ठूँठे, चिकने और चौड़े होते हैं तथा एक उंगली दूसरी से बहुत दूरी पर होती हैं। यह दूरी पहले दो अगूठों बहुत ही अधिक होती है। इनके बाल सुन्दर, कोमल और दूर-दूर होते हैं। चमड़े की सिकन आँख के भीतरी कोनों को ढके रहती है। कानों की रचना बेतुकी और असामान्य होती है। शरीर का चमड़ा चिकना, नम और सुन्दर-सुन्दर बालों से युक्त होता है और कपोलो पर लालिमा छाई रहती है। इनके चौड़े पैर और सधियों (Joints) की शिथिलता तथा गतिशीलता भी विचित्र होती है। तीन वर्ष के पहले इनमें चलने की शक्ति नहीं आती और इनका क्रियात्मक सहनियमन (Motor co-ordination) भी अपूर्ण और विलम्बित रहता है। अपनी जवानी में ये पाँच फीट से अधिक ऊँचे नहीं होते। यों तो कौशल के कामों को करने के लिए ये अयोग्य होते हैं, किंतु बागवानी और घर सफाई आदि के काम इन्हे आसानी से सिखलाये जा सकते हैं।

दूसरों की नकल और उपहास करने की क्षमता इनमें बहुत विचित्र देखी जाती है। इसलिए ये किसी का अनुकरण सरलतया कर लेते हैं। इनकी यह योग्यता दस वर्ष की अवस्था मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। यद्यपि ये आदेशों का पालन करना सीखने में समर्थ होते हैं, तथापि पढ़ना इनसे नहीं होता। इनके शब्द-कोष में पचास से अधिक शब्द नहीं पाये जाते हैं। बहुत से मगोलियन अभावोन्मादी कभी भी बात करना नहीं सीखते, इनकी बोली बड़ी कड़ी होती है और भाषा अवरुद्ध रहती है। ये स्नेही स्वभाव के होते हैं और इनका स्वभाव भी मनोहारी होता है। ये चौकन्ने भी होते हैं और बचपन में इतने शान्त और गभीर रहते हैं कि देखने में बहुत भले मालूम होते हैं।

इनकी पाचन-क्रिया बहुत मन्द होती है, इसलिए अधिकांश व्यक्ति एक वर्ष के भीतर ही मृत्यु की गोद मे चले जाते हैं। यों तो इनकी आयु का औसत चौदह वर्ष से अधिक नहीं होता ; किंतु, कोई-कोई बीस वर्ष तक भी

जीवित रहते हैं। इस अवस्था में इनके सर के बाल उड़ जाते हैं और चमड़े में सिकुड़न आ जाती है।

लघुमस्तिष्क अभावोन्माद (Microcephalic Amentia) :— ट्रेडगोल्ड ने लघुमस्तिष्क अभावोन्माद पद का व्यवहार उन मानसिक दुर्बल व्यक्तियों के लिए किया है जिनमें मस्तक की परिधि (Circumference) सत्रह इंच से कम होती है। लेकिन, कहीं-कहीं ऐसे व्यक्तियों के मस्तक की परिधि इससे अधिक भी देखने में आती है। इनके मस्तिष्क की तौल १७० ग्राम से १००० ग्राम से कुछ कम तक होती है। इस प्रकार इनका मस्तिष्क सामान्य स्त्री पुरुषों के मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। सामान्यतः औरतों का मस्तिष्क १२४० ग्राम और पुरुषों का १३७५ ग्राम के लगभग होता है। इनके मस्तिष्कों का अध्ययन करने से मालूम होता है कि इनका मानसिक दोष, मस्तिष्क आकार के कारण नहीं; बल्कि उसमें किसी प्रकार के आघात के कारण पाया जाता है। वस्तुतः सभी की निर्बलता समान मात्रा की नहीं होती है, कुछ ऐसी बनावटें जो सामान्य मस्तिष्कों में पायी जाती हैं, ऐसे व्यक्तियों के मस्तिष्कों में नहीं पायी जातीं। यद्यपि इनके मस्तिष्क में साधारण और कम ऐठनें दृष्टिगोचर होती हैं, तथापि उनका सम्यक विकास नहीं हुआ रहता, जिस प्रकार की सामान्य व्यक्तियों का मस्तिष्क-विकास पाया जाता है। यद्यपि इनकी लम्बाई सामान्य व्यक्तियों के समान नहीं होती और अधिकांश थोड़े ही दिनों में मर जाते हैं; लेकिन, इनका क्रियात्मक विकास बहुत अच्छी तरह होता है। इसलिए क्रियात्मक दोषों का, जो कि अन्य उपर्युक्त मानसिक दोषियों में पाये जाते हैं, इनमें अभाव-सा रहता है। इनमें ज्ञानात्मक दोष (Sensory Defects) भी नहीं पाये जाते हैं। इनकी गति भी द्रुत होती है।

जब इनकी शारीरिक रचना पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इनका मस्तक बहुत ही छोटा और मिसरी के छत्ते की तरह नोकीला होता है। खोपड़ी का दृश्य विचित्र होता है और उसका आकार भी सामान्य आकार की तरह नहीं होता। इसका एक मात्र कारण यही है कि मस्तिष्क का समुचित विकास होता ही नहीं, इसलिए मस्तक के आकार मे भी वृद्धि नहीं होती है। इनकी ठुड्डी निकली हुई, ललाट पीछे को झुका हुआ और पृष्ठमस्तक-भाग चौरस होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी इन विशेषताओं के कारण लघुमस्तिष्क अभावोन्मादी अन्य उन्मादियों से भिन्न होते हैं।

मस्तिष्क जलवृद्धि अभावोन्माद (Hydrocephalic Amentia):—

मस्तिष्क जल वृद्धि अभावोन्मादियो की मस्तिष्क अवस्था, लघुमस्तिष्क अभावोन्मादियों के विपरीत होती है। जैसे लघुमस्तिष्क अभावोन्मादियो का मस्तक सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत छोटा होता है वैसे ही इनका मस्तक सामान्य लोगों से बहुत बड़ा होता है। कभी-कभी इनके मस्तक की परिधि ३० इंच तक भी पाई गयी है। इनका ललाट ऊँचा और निकला हुआ और नाक की जड़ में सूजन उभड़ी हुई रहती है। इनकी खोपड़ी ग्लोब के समान और चारों ओर समरस होती है। तालु (Fontanelles) कसे हुए और पतले मस्तक चर्म पर नसों की भी बहुलता रहती है। इसके अतिरिक्त इनमें शारीरिक रचना की और भी कई असामान्यताएँ पायी जाती हैं।

इनकी मानसिक योग्यता हर मात्रा की पायी जाती है। इसलिए जड़ता से लेकर मन्दता तक की मात्राएँ पायी जाती हैं। कोई-कोई तो मानसिक योग्यता में सामान्य व्यक्तियों के लगभग होते हैं। कुछ व्यक्तियों की भाषा में दोष पाए जाते हैं किंतु, कुछ ऐसे भी होते हैं जो बोलना अच्छी तरह जानते हैं। आँख और कान सम्बन्धी दोष भी इनमें पाये जाते हैं। अपस्मार (Epilepsy) और पक्षाघात (Paralysis) रोगों की इनमे अधिकता पायी जाती है। इनका मस्तक इतना बड़ा, पेशियाँ इतनी कमजोर और सहनियमन (Co-ordination) इतना दयनीय होता है कि कुछ व्यक्ति चलने और खेलने में भी अपने बचपन में असमर्थ ही रहते हैं और इसलिए खाट पर पड़े रहने के अतिरिक्त ये कुछ नहीं करते हैं। बाहुओं की अपेक्षा इनके पैर अत्यधिक ग्रस्त रहते हैं। इनमे से अधिकाश व्यक्ति शान्त, स्नेही, प्रसन्न चित्त एवं अच्छे स्वाभाव के होते हैं। ये व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक मस्तिष्क जल-वृद्धि अभावोन्मादी तथा वाह्य मस्तिष्क जलवृद्धि अभावोन्मादी लेकिन, इनमें पहले प्रकार की अधिकता रहती है।

इन उपर्युक्त चार प्रकारों के अतिरिक्त और भी कई औपचारिक प्रकार होते हैं; लेकिन, जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं, और प्रकारों की प्रधानता नहीं रहती। अतएव यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं हैं।

मनोदौर्बल्य एवं मानसिक रोग
(Mental Disorder)

हम पहले अध्यायों मे विभिन्न मानसिक व्याधियो का उल्लेख कर चुके हैं और इस अध्याय में मानसिक दुर्बलता की विभिन्न विशेषताओं पर भी प्रकाश डाल चुके हैं। इसलिए इन दोनों के अन्तरों का वर्णन कर देना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

इन दोनों के अन्तरो को व्यक्त करने के लिये, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मानसिक दुर्बलता जन्मजात (Inborn) होती है या कभी-कभी जन्म के बाद तत्काल ही किसी कारण विशेष से उत्पन्न होती है। इसे मनोवैज्ञानिक भाषा में अभावोन्माद (Amentia) कहते हैं। लेकिन, मानसिक व्याधियों में बौद्धिक शक्तियों का अभाव या कमी जन्मजात नहीं, अपितु अर्जित (Acquired) होती है। व्यक्ति विशेष में पहले बौद्धिक शक्तियाँ रहती हैं और बाद मे मानसिक व्याधि के कारण उनका जब वह उपयोग नहीं करता तो उन शक्तियो का ह्रास हो जाता है। फिर भी जिस प्रकार बौद्धिक शक्तियों का अभाव मानसिक दुर्बलता मे रहता है, चाहे वह किसी मात्रा में क्यों न हो, उस तरह सभी मानसिक व्याधियों में बौद्धिक शक्तियों का अभाव नहीं रहता। इस प्रकार की बौद्धिक शक्तियो के अभाव को मनोभ्रंशता (Dementia) कहते हैं, क्योंकि प्रारंभ में बुद्धि रहती है, बाद में मानसिक व्याधियो के चलते उसकी क्षति हो जाती है।

मानसिक दुर्बलता का आविर्भाव मनुष्य मे जन्म के समय या उसके बचपन में ही हो जाता है ; लेकिन मानसिक व्याधि का प्रादुर्भाव उसके जीवन में किसी समय भी होता है। अतएव मानसिक दुर्बलता का सम्बन्ध मनुष्य के शैशव (Infancy) और बचपन से है ; परन्तु, मानसिक व्याधि का सम्बन्ध उसके बाद की आयु से है। हम विभिन्न मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि वे किस आयु में प्रायः मनुष्य को पीड़ित करती हैं। अतएव यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

मानसिक दुर्बलता को निर्मूल करना असभव है। इसलिये कृत्रिम उपायों और साधनो द्वारा इसकी अवस्था मे सुधार ही लाया जा सकता है। अतः हम इसे स्थायी कह सकते हैं। लेकिन, जैसा कि हम स्थल विशेषों पर विभिन्न मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में देख चुके हैं, उनको मनोवैज्ञानिक एवं अन्य चिकित्सा-विधियों द्वारा निर्मूल किया जा सकता है। अतएव इसे हम कुछ अंशों में अस्थायी भी कह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक दुर्बलता मन की स्थायी अवस्था है ; लेकिन, मानसिक व्याधि अधिकांशतः अस्थायी और कुछ अंशो में ही स्थायी अवस्था है।

जैसा कि हम स्थल विशेष पर देख चुके हैं, मानसिक दुर्बलता मन की एक अपसामान्य (Subnormal) अवस्था (Condition) है ; क्योंकि सभी मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में औसत से कम ही बुद्धि विद्यमान रहती है ; लेकिन, मानसिक व्याधि असामान्य (Abnormal) अवस्था

है, भले ही कोई कम बुद्धिवाला व्यक्ति भी इससे ग्रस्त क्यों न हो। तब उस हालत में हम यही कहेंगे कि उसमें अपसामान्यता और असामान्यता दोनों ही हैं; लेकिन ऐसे उदाहरण दो-तीन प्रतिशत से अधिक नहीं देखने में आते।

यद्यपि मानसिक दुर्बलता को उत्पन्न करने में अन्य अगों का भी हाथ रहता है; किन्तु, इसमें वशानुक्रम का अत्यधिक हाथ रहता है, जैसा कि अभी अगले पृष्ठों में देखेंगे, लेकिन मानसिक व्याधियों में, जैसा कि हम देख चुके हैं, वातावरण का प्रभावशाली हाथ रहता है। कुछ मानसिक व्याधियों में वंशानुक्रम की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते; लेकिन इतना तो सत्य ही है कि जब मनुष्य अपने आपको वातावरण में अभियोजित करने में असमर्थ पाता है तो उस समय उसमें विभिन्न मानसिक व्यतिक्रमों का आविर्भाव होता है। अतएव यहाँ हम कह सकते हैं कि मानसिक दुर्बलता में वशानुक्रम और मानसिक व्याधियों में वातावरण की प्रधानता रहती है।

मानसिक दुर्बलता में शारीरिक और राचनिक (Structural) कई प्रकार के दोष और असामान्यताएँ पायी जाती हैं; लेकिन अधिकांश मानसिक व्याधियों में इस प्रकार के दोषों का सर्वथा अभाव रहता है। हम मानसिक दुर्बलता की विभिन्न शारीरिक विशेषताओं का वर्णन कर चुके हैं और मानसिक व्याधियों की भी विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डाल चुके हैं, अतएव यहाँ पुनः उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है।

हम पहले यह देख चुके हैं कि मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में बुद्धि की कमी रहती है, इसलिए इन्हें साधारण बातें ही बतलाई और सिखलाई जाती हैं। इसलिए इनमे विद्वता का अभाव रहता है और ये सूक्ष्म बातों तथा समस्याओं को समझने में भी असमर्थ रहते हैं। लेकिन, मानसिक व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रारंभ में तो उसमे बुद्धि का अभाव नहीं रहता, इसलिए किसी विषय में विद्वता प्राप्त करना उसके लिए सभव रहता है। हाँ, वह ऐसा तभी नहीं हो सकता जबकि वह मानसिक दुर्बल हो और मानसिक व्याधि से भी ग्रस्त हो।

जैसा कि हम विभिन्न स्थलों पर देख चुके हैं, मानसिक दुर्बलता की हालत में व्यक्तित्व-विच्छेद (Dissociation of personality) नहीं होता; किन्तु किसी प्रकार की भी मानसिक व्याधि की हालत में आंशिक (Partial) या पूर्ण (Complete) व्यक्तित्व-विच्छेद होना आवश्यक है। अतएव हम कह सकते हैं कि मानसिक व्याधि में व्यक्तित्व-विच्छेद पाया जाता है; किन्तु मानसिक दुर्बलता में इसका अभाव रहता है।

सभी प्रकार की मानसिक दुर्बलता के लिए नियन्त्रण (Control), सावधानी (Care , सरक्षण (Supervision) तथा मार्गोपदेशन अपेक्षित है। इनके अभाव में न तो कोई मानसिक दुर्बल व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है और न समाज की ही। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि उनका सरक्षण या नियन्त्रण क्यों और कितना आवश्यक है ; लेकिन मानसिक व्याधि के लिए सभी स्थलों पर सावधानी, संरक्षण आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई परिस्थिति बहुत ही गभीर और भयावह हो जाती है तभी सरक्षण और निगरानी की जरूरत मानसिक व्याधियों में पड़ती है।

विभिन्न अध्ययन इसके भी साक्षी हैं कि मानसिक दुर्बल व्यक्ति अधिक अपराध के कामों में अपना झुकाव रखते हैं; क्योकि उनमें उनके बुरे परिणामों को सोचने की शक्ति नहीं रहती। उनमें ससूचनशीलता अधिक रहती है, इसलिए बहकावे मे आकार भी वे अपराध के कामों को कर देते हैं ; लेकिन मानसिक व्याधियों में बहुत ही कम स्थलों पर अपराध करते हुए लोग पाये जाते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि अपराध-वृत्ति की प्रबलता मानसिक दुर्बलता में ही होती है, मानसिक व्याधि में नहीं।

मानसिक दुर्बलता की हालत में मनुष्य में कल्पना और रचनात्मक योग्यताओं का अभाव रहता है ; किन्तु मानसिक व्याधि के सम्बन्ध मे हम ऐसा नहीं कह सकते। हम पहले ही देख चुके हैं कि उनमें किस प्रकार दिवास्वप्न प्रभृति मानसिक व्यापारों का बाहुल्य रहता है।

विभ्रम (Hallucinations), व्यामोह (Delusions) आदि व्यापार मानसिक दुर्बलता में नहीं देखने में आते हैं; लेकिन मानसिक व्याधियो में इनकी प्रबलता रहती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि मानसिक रोगी किन-किन प्रकार के विभ्रमों और व्यामोहों के शिकार होते हैं। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति की आवाश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार मानसिक दुर्बलता में निम्न कोटि के साधारण सवेग पाये जाते हैं; किन्तु बहुत-सी मानसिक व्याधियों में सवेग बहुत ही समृद्ध होते हैं।

सामाजिक महत्त्व (Social Significance)

मानसिक दुर्बल व्यक्तियों की समस्या समाज के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि वर्त्तमान युग में ये समाज के कई पहलुओं (Aspects) को प्रभावित करते हैं। यदि हम शिक्षा के दृष्टिकोण से इनके महत्व को देखे तो हमें मालूम होगा कि ऐसे व्यक्तियों को सामान्य पाठशालाओं मे पढ़ने-लिखने की शिक्षा नहीं

दी जा सकती। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति से वे ही बच्चे लाभान्वित होते हैं जो सभी तरह से सामान्य है; किंतु इन बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली से कोई लाभ नहीं। इसीलिए विदेशों में ऐसे बच्चों के लिए विशेष प्रकार के शिक्षाकेन्द्र बने हुए हैं, जहाँ इनकी योग्यता के अनुसार शिक्षा दी जाती है। जिनमें यह दोष कम अश में पाया जता है उन्हें पढ़ने-लिखने की भी शिक्षा दी जाती है और जो इसके अयोग्य होते हैं, उन्हें दस्तकारी की शिक्षा दी जाती है। ऐसे शिक्षाकेन्द्रों की सख्या केवल न्यूयार्क में २५० के लगभग है, इसी प्रकार अन्य नगरों मे भी शिक्षा-केन्द्रों का आयोजन किया गया है। यद्यपि भारतवर्ष में भी सरकार ने गूँगे, बहरे और अन्धे व्यक्तियों की शिक्षा के लिए यत्र-तत्र शिक्षाकेन्द्रों का प्रबन्ध किया है; किंतु अभी ऐसी पाठशालाओं का नितांत अभाव है, जहाँ मानसिक दुर्बल व्यक्तियो को उनकी योग्यतानुरूप समुचित शिक्षा दी जा सके। अतएव भारतवर्ष के लिए भी ऐसे व्यक्तियों की शिक्षा की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है।

वैधानिक पहलू (Legel Aspect) से भी यह समस्या कम शोचनीय नहीं है। ऐसे व्यक्तियों में बुद्ध्य-भाव के कारण अपराध के कामों में अधिक झुकाव रहता है; क्योंकि इनमें उसके परिणाम को सोचने और समझने की शक्ति नहीं होती। सामान्य व्यक्तियों की तरह इनके चारित्रिक विकास का प्रस्फुटन समुचित रूप से नहीं होता जिसके फलस्वरूप ये प्राय: असामाजिक काम मे सलग्न रहते हैं। ये समाज के लिए बहुत ही घातक सिद्ध होते हैं और सरकार को इनसे बचने के लिए तरह-तरह के नियमों और कार्यालयों का निर्माण करना पड़ता है। मानसिक दुर्बल व्यक्ति अपराधी क्यों होते हैं, इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि इनमें अपराध (Crime) की जन्मजात प्रवृत्ति होती है; किंतु उनका दृष्टिकोण समुचित प्रतीत नहीं होता। दूसरे पक्ष के विद्वानों का कहना है कि ऐसे कामों के दुष्परिणाम को समझने और सोचने की शक्ति उनमें नहीं रहती, इसलिए ये स्वयं या दूसरे के बहकावे मे आकर ऐसे कामो को कर बैठते हैं। इनके अपराधी होने का यही दृष्टिकोण युक्तिसगत प्रतीत होता है, अत: मान्य भी है।

उपर्युक्त दो पहलुओं पर प्रकाश डालने से यह स्पष्ट है कि मानसिक दुर्बलता की समस्या आर्थिक दृष्टिकोण से भी कम महत्त्व की नहीं है। इन्हें समाज के योग्य बनाने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा की जरूरत पड़ती है, जिसके आयोजन में सरकार को अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, इनके संरक्षण और नियंत्रण के लिए सरकार को विभिन्न

कार्यालयों और वैधानिक नियमों का आश्रय लेना पड़ता है। वर्त्तमान में भारतवर्ष में इनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं है; किंतु ऐसी आशा की जाती है कि हमारी सरकार इस दिशा में अपना कदम शीघ्र ही बढ़ायेगी और ये व्यक्ति भी समाज के एक आवश्यक अंग बन सकेंगे।

मानसिक दुर्बलता के कारण

अभी तक हम इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते रहे हैं। यहाँ हम इसके विभिन्न कारणों पर संक्षिप्तत: प्रकाश डालेंगे और अन्त में यह देखने का प्रयास करेंगे कि इसको रोका कैसे जा सकता है अथवा इससे निर्मुक्ति क्योंकर मिल सकती है।

जब इसके कारणों पर विचार करते हैं तब हमे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विद्वानों का मत है कि मानसिक दुर्बलता वंशानुक्रम (Heredity) से प्राप्त होती है; किंतु इसका हाथ मानसिक दुर्बलता में कितना रहता है, इस संबंध में विद्वानों मे परस्पर मतभेद है। यदि हम विभिन्न अन्वेषकों की परिणाम-तालिका पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें मालूम होता है कि ट्रेडगोल्ड (Tredgold) के अनुसार ८० प्रतिशत स्थानों मे मानसिक दुर्बलता वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। गोडार्ड (Goddard) के अनुसार दो-तिहाई मानसिक दुर्बलता से पीड़ित बच्चों में वंशानुक्रम का ही हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्वेषकों के अनुसार यह दोष ४५ से ५० प्रतिशत व्यक्तियों में आनुवंशिकता के कारण होता है। यद्यपि उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विद्वान इसमें वंशानुक्रम के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं, तथापि यह किस अंश तक मानसिक दुर्बलता का कारण होता है, इसमे मतभेद है। इस संख्यात्मक अंतर के कारणों पर हम विचार करें तो हमें मालूम हो जायेगा कि सभी विद्वानों ने एक ही माध्यम से मानसिक दुर्बलता को निर्धारित नहीं किया है। इसलिए विभिन्न माध्यम की कसौटी के कारण ही उनके परिणाम में संख्यात्मक अंतर पड़ा है।

इस दिशा में आज से कुछ वर्ष पूर्व जो खोजे हुई हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने अपने अन्वेषणों के आधार पर मानसिक दुर्बलता में आनुवंशिकता के प्रभाव को स्वीकार किया है; किंतु उनलोगों ने वातावरण को तिरस्कृत न कर उसके महत्व को स्वीकार किया है। इस तरह हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिकों ने आनुवंशिकता के साथ-साथ वातावरण के प्रभाव को भी मानसिक दुर्बलता के सम्बन्ध में प्रदर्शित किया है। इसलिए हम आनुवंशिकता को ही नहीं बल्कि; वातावरण को भी इस दोष को आविर्भूत करने मे सहायक कह सकते हैं।

मानसिक दुर्बलता को आविर्भूत करनेवाले जन्म के पूर्व कारणों में हम उपदश (Syphilitic) रोग और मद्य का यहाँ उल्लेख कर सकते हैं। इस संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत पर विचार करने से हमें मालूम होता है कि उनलोगो ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि गर्भस्थ शिशु की उपदश-संक्रमणता (Syphilitic infection) का परिणाम मानसिक दुर्बलता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में हमे याद रखना चाहिये कि इस उपदश-सक्रमणता को हम आनुवशिक नहीं कह सकते और न उपदश-संक्रमणता को ही मानसिक दुर्बलता का एकमात्र कारण कह सकते है; क्योंकि सभी व्यक्ति, जिनमे यह संक्रमणता जन्म के साथ विद्यमान रहती है, मानसिक दुर्बलता के दोष से पीड़ित नहीं होते। फिर भी इसे इस दोष को उत्पन्न करने का सर्वेसर्वा कारण न समझने का आधार यह है कि यह एक ही अश में सभी व्यक्तियों मे विद्यमान नहीं रहती; बल्कि इसमें मात्रा-भेद पड़ता है। किसी बच्चे मे यह दोष अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है तो किसी में न्यून मात्रा में। अगर यही एकमात्र कारण होता तो मानसिक दुर्बलता की मात्रा में कदापि अन्तर नहीं पड़ता। किंतु, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस मानसिक दुर्बलता को उत्पन्न करने का श्रेय केवल आनुवशिकता को ही है। इसमें उपदंश का भी श्रेय रहता है परन्तु, सर्वांशतः नहीं, अपितु अंशतः।

जहाँ तक मद्य का प्रश्न है उसके संबध में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मद्य मानसिक दुर्बलता का कारण होता है; किंतु दूसरी विचारधारा के अनुसार मानसिक दुर्बलता के कारण मद्यपान व्यापार का आविर्भाव होता है। यदि हम गभीरतया विचार करें तो हमे मालूम होगा कि वस्तुतः दोनों विचारधाराओं में आंशिक सत्यता है। मद्य का प्रभाव बीज-रस (Germ-Plasm) पर अत्यत दूषित पड़ने के कारण बच्चे मानसिक दुर्बलता के शिकार हो जाते हैं और वे सयाने होकर मद्यपान के अभ्यासी बन जाते हैं।

अब हमें यह देखना है कि वस्तुतः मानसिक दुर्बलता में मद्य का कितना अधिक हाथ रहता है। अभी तक यद्यपि इस दिशा में जितने प्रयोग हुए हैं वे जानवरों पर ही हुए हैं तथापि, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि माता के मद्यपान के प्रभाव से गर्भस्थ शिशु निर्मुक्त नहीं रहता, क्योंकि बीज-रस पर उसका असर पड़ता है। इसलिये यदि सर्वांशतः नहीं तो अशतः मद्य का हाथ मानसिक दुर्बलता में अवश्य ही रहता है।

जन्म के पश्चात के कारणों में मस्तिष्क-क्षति, दूषित भोजन, विषैले पेय,

आक्षेप रोग (Convulsion), आदि अंगों का वर्णन किया जा सकता है; क्योंकि ये भी मानसिक दुर्बलता में सहायक होते हैं।

जब बचपन में किसी कारणवश मस्तिष्क-अचल में चोट लगने से उसमें किसी प्रकार की क्षति पहुँचती है तब बच्चे में मानसिक दुर्बलता का आविर्भाव होता है। ऐसी कई घटनाओ का वर्णन मनोवैज्ञानिक पुस्तकों में किया हुआ है, जिनसे यह स्पष्ट है कि बच्चे मे दो-तीन वर्ष की आयु तक मानसिक दुर्बलता का कोई भी लक्षण नहीं दीख पड़ता था। किंतु, दुर्भाग्यवश जब वह कोठे से गिरकर घायल हो गया तो चंगा होने के बाद उसमें मानसिक दुर्बलता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। उसके पहले उसमें इसके लक्षण नहीं थे और न तो परिवार के लोगों में ही। उपदंश या मद्यपान का भी पूर्णत: अभाव था, इसलिए ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क-क्षति के अतिरिक्त हम दूसरे अंग को मानसिक दुर्बलता का कारण नहीं कह सकते। किंतु, यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सभी स्थलों पर मस्तिष्क-क्षति मानसिक दुर्बलता का कारण नही होती; क्योंकि बहुत-सी ऐसी घटनाओ का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, जिनमें बच्चे को ऊपर से गिरने के कारण अत्यत चोट लगी; किंतु उसमे मानसिक दुर्बलता का आविर्भाव नहीं हुआ। जब आधार भूमि (Back ground) मे हमें कोई दूसरा कारण न मिले तो हमे इसे कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि और प्रकार के कारण मिले तो हम इसे उन कारणों का एक अश मात्र ही वह सकते हैं। मस्तिष्क मे चोट जन्म लेते समय बच्चे में और कई कारणों से भी लगती है।

मानसिक दुर्बलता पर दूषित भोजन का प्रभाव देखने के लिये मनोवैज्ञानिको ने विदेशी पाठशालीय छात्रों तथा छोटे छोटे जानवरों पर जो प्रयोग किया है उससे यह सिद्ध है कि जिन बच्चों मे मानसिक दुर्बलता के अकुर पहले से मौजूद थे उनकी दुर्बलता की मात्रा और प्रबल हो गयी। किंतु, जो बच्चे सामान्य थे उनमें उसका प्रभाव नगण्य था। लेकिन, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनपर दूषित भोजन का किसी तरह का असर नहीं पड़ा। इन प्रयोगों के आधार पर हम यही कहना उचित समझते हैं कि दूषित भोजन का प्रभाव मानसिक दुर्बलता पर उन्हीं बच्चों मे पड़ता है जिनमे इसके अकुर पहले से विद्यमान रहते हैं। जो बच्चे सामान्य रहते हैं उनमे दूषित भोजन मानसिक दुर्बलता को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि उसका प्रभाव बहुत कम मात्रा में पड़ता है।

इसको उत्पन्न करने में विषैले अग भी सहायक होते हैं। बहुत-सी बीमारियाँ बच्चों मे ऐसी होती हैं जिनमे उनका मस्तिष्कांचल विपाक्त हो

जाता है, जिसके फलस्वरूप बच्चों में मानसिक दुर्बलता आ जाती है। यदि शैशव काल ही में बच्चे विषैले पदार्थों का सेवन प्रारंभ कर देते हैं तो उनका शारीरिक एवं मानसिक दोनों विकास अवरुद्ध हो जाता है और अन्ततोगत्वा उनमें मानसिक दुर्बलता का दोष आ जाता है।

कुछ विद्वानों ने आक्षेप (Convulsion) को मानसिक दुर्बलता का कारण माना है; लेकिन, ट्रेडगोल्ड का कहना है कि आक्षेप-व्यापार उन बच्चों मे देखने में नहीं आता है जिनके परिवार में इसके कारणों का अभाव रहता है। इसलिये आक्षेप स्वयं आनुवंशिक होने के कारण मानसिक दुर्बलता का एक स्वतंत्र कारण नहीं कहा जा सकता है।

अब मानसिक दुर्बलता के उपयुक्त कारणों पर यदि हम विचार करें तो हमें मालूम होगा कि उनमे से कोई एक कारण सभी प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं की व्याख्या करने में असमर्थ है। इसलिए हम यही कह सकते हैं कि इस दोष को उत्पन्न करने मे एक ही अंग काम नहीं करता; बल्कि कई अंग एक साथ मिलकर काम करते हैं। जैसा कि स्थल विशेष पर कहा जा चुका है, इन अंगों के साथ-साथ वातावरण का भी विशेष हाथ रहता है। जो वातावरण मानसिक दुर्बलता को उत्पन्न करनेवाले अंगों के अनुकूल रहता है वे अंग अपना प्रभाव विशेष मात्रा में दिखलाते हैं।

निराकरण तथा निरोध विधियाँ

(Curative and preventive measures)

अब मानसिक दुर्बलता की अवस्था को सुधारने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विधियों का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियों के बचपन में ही इनकी शारीरिक और औपचारिक परीक्षा द्वारा दुर्बलता के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। अगर यह दोष संगीन (Serious) है तब तो सुधार की कोई संभावना नहीं। अतएव ऐसे व्यक्तियों को संरक्षण और परिचर्या के लिए संस्थाओं में रख देना ही हितकर है। हाँ, उनके भोजन और वातावरण के सुधार के लिए समुचित व्यवस्था मात्र पर्याप्त है। यदि यह दोष साधारण मात्रा में है तब कंठपिण्ड (Thyroid) स्राव-अर्क का उपचार करना हितकर होता है; लेकिन भोजन और वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक रहता है।

ऐसे मानसिक दुर्बलों की शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिसमें चिंतन की आवश्यकता कम पड़े। बड़े-बड़े विद्वानों ने ऐसे बच्चों की शिक्षा

का बहुत ही सुन्दर आयोजन किया है। आज बहुत-से समुन्नत देशों में ऐसे लोगों को वर्गविशेष में शिक्षा दी जाती है। वेरी ने ऐसे बच्चों के वैयक्तिक शिक्षण पर विशेष जोर दिया है। उसका कहना है कि ऐसे बच्चों की अभिरुचियों और भाषा की योग्यता पर ध्यान रखकर ही उन्हें कुछ सिखलाना श्रेयस्कर है। मिशिगन ट्रेनिंग स्कूल में ऐसे बच्चों को दस्तकारी, मनोरंजन और सामाजिक कामों की शिक्षा दी जाती है। ऐसे बच्चों को कुर्सी एवं टेबुल की मरम्मत, घर की सफाई, कपड़े धोने आदि के समाजोपयोगी कार्यों की शिक्षा दी जाती है और वे अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने में कुछ अंशों में सफल होते हैं। लेकिन; अभी तक ऐसे व्यक्तियों के लिए हमारे देश में किसी तरह की व्यवस्था नहीं की गयी है। ऐसी आशा की जाती है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार शीघ्र ही अपना कदम इस दिशा में उठाएगी और ऐसे व्यक्तियों को समाजोपयोगी बनाने में सहायक होगी।

उपर्युक्त निराकरण तथा सुधार-संबंधी उपायों के अतिरिक्त निरोध विधियों का आश्रय लेना विशेष रूप से कल्याणकारी सिद्ध होगा।

संरक्षण (Supervision) :—कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि मानसिक दुर्बलता के निरोध के लिए ऐसे व्यक्तियों का संरक्षण आवश्यक है। इसके पक्ष में उन लोगों ने दो तार्किक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। उनका कहना है कि ऐसे लोग समाज में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन लोगों का संरक्षण करना समाज का कर्त्तव्य है। इन्हें समाज में रखकर ही हम अपने कर्त्तव्य को समझ सकते हैं, अन्यथा नहीं। इनको समाज से अलग संरक्षण में रखकर हम इस दोष से कदापि वंचित नहीं हो सकते; बल्कि इस तरह वृद्धि की ही संभावना अधिक है। लेकिन, यह निरोधक विधि दो कठिनाइयों को उपस्थित करती है। पहली बात तो यह है कि इस विधि में समय और द्रव्य दोनों की अधिक-से-अधिक जरूरत है। इतना ही नहीं; बल्कि इस प्रकार न सभी मानसिक दुर्बल व्यक्तियों का संरक्षण संभव है और न तो इससे यह दोष ही निर्मूल हो सकता है।

स्थलांतर (Segregation) :—कुछ विद्वानों ने स्थलांतर को निरोध-विधि व्यक्त किया है। उनका कहना है कि जिसमें यह दोष हो उसे समाज से अलग रखना इस दोष को कम करने में सहायक होगा। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जब तक मनुष्य जीवन में प्रवेश नहीं करता तब तक इस दोष का निश्चयात्मक रूप से ज्ञान लोगों को नहीं होता। पुनः कितने ऐसे मानसिक दुर्बल देखने में आते हैं जिनमें यह दोष बहुत ही कम रहता है और वे पूर्णतः समाजोपयोगी होते हैं। इसलिए इस विधि को

सार्थक बनाने के लिए बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करना आवश्यक है जो कि संभव नहीं है और यदि बिना प्रतीक्षा किये सभी को स्थलांतरित कर दिया जाय तो उन व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा जो कि किसी प्रकार से समाज के लिए घातक नहीं हों। अतएव यह विधि निरोध के लिए पूर्णतः संतोषप्रद नहीं है।

शून्यकरण (Sterlization) :—आज कल कई देशों में मानसिक दुर्बल व्यक्तियों के लिए शून्यकरण वैधानिक नियम बना दिया गया है। इस नियम के अनुसार जिस व्यक्ति में मानसिक दुर्बलता रहती है, उसकी सन्तानोत्पत्ति-शक्ति को यन्त्र द्वारा नष्ट कर दिया जाता और वह संतान उत्पन्न करने के योग्य नहीं रह जाता है। यह विधि इस दोष को रोकने के लिए रामबाण का काम कर सकती है। लेकिन, इसकी सफलता समाज पर ही निर्भर करती है। जब तक सभी लोग इस नियम का पालन स्वेच्छापूर्वक नहीं करते तब तक इससे कोई फायदा नहीं। यद्यपि कई पाश्चात्य देशों में इसको लागू किया गया है; लेकिन जनता का रूख इसकी ओर ठीक न रहने से इससे विशेष लाभ नहीं हो रहा है।

संताननिग्रह (Birth-control) :—प्राचीन काल से ही सभी देशों में कुछ विलासप्रिय बुद्धिमान व्यक्ति संतान-निग्रह पर जोर देते आ रहे हैं; वे इसका समर्थन समाज-कल्याण और मानसिक दुर्बलता के निरोध के लिए नहीं; बल्कि अपनी विलासप्रियता के फलस्वरूप करते रहे हैं। लेकिन इधर जो संस्थाएँ संतान-निग्रह की विदेशों में स्थापित हुई हैं, उन्होंने अपने अन्वेषणों से यह प्रमाणित कर दिया है कि वस्तुतः संतान-निग्रह माता और संतान दोनों के मानसिक स्वास्थ के लिए आवश्यक और लाभप्रद है। किंतु, इसकी महत्ता बुद्धिमानी से काम लेने पर ही जानी जा सकती है। मानसिक दुर्बल व्यक्तियों के लिए तो बुद्धिमानी से इस विधि को काम में लाना असंभव ही है; लेकिन अगर मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त व्यक्तियों पर यह विधि किसी तरह लागू की जा सके तो निस्संदेह यह दोष बहुत अंश तक रोका जा सकता है।

गर्भपात (Abortion) :—कई विद्वानों ने गर्भपात विधि का अनुमोदन किया है। उनका कहना है कि जब किसी स्त्री में अविहित गर्भाधान के लक्षण दिखलाई देते हैं तो समाज के भय से उसके अन्तर्जगत में कई प्रकार के द्वन्द्व छिड़ जाते हैं। इस मानसिक स्थिति के कारण गर्भस्थ शिशु मानसिक दुर्बलता का शिकार बन जाता है। अतएव इससे निर्मुक्त होने के लिए गर्भपात का आश्रय लेना आवश्यक है। यह विधि यहाँ और

बाहर सभी देशों में प्रचलित है; लेकिन भारतवर्ष में लुक-छिप कर ही ऐसा किया जाता है। इसलिए माताओं के स्वास्थ्य पर इसका बहुत बुरा असर पड़ता है। विदेशों में इस विधि का व्यवहार मानसिक चिकित्सकों और डाक्टरों का आश्रय लेकर किया जाता है, इसलिए इसका बुरा असर नहीं पड़ता।

विवाह-प्रमाण-पत्र (Marriage certificate):—कई स्थलों पर विदेशों में ऐसे कार्यालय खोले गये हैं, जिनका काम स्त्री पुरुषों की परीक्षा करना और उन्हें विवाह के लिए प्रमाण पत्र देना है। जिनमें मानसिक दुर्बलता की शिकायत रहती है उन्हें यह प्रमाण-पत्र नहीं दिया जाता है। जो स्त्री-पुरुष इस दोष से युक्त रहते हैं उन्हें विवाह के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। लेकिन, निराकरण की यह विधि अभी खूब प्रचलित नहीं हो सकी है; क्योंकि इसे कार्यान्वित करने में भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं।

इस प्रकार निराकरण और निरोध की जितनी भी विधियाँ हैं उन सबमें कोई-न-कोई कठिनाई और दोष अवश्य हैं। इसलिए हमे एक विधि को न अपनाकर कई विधियों का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।

इन विधियों के अतिरिक्त भी इस दोष को कम करने के लिए मन और शरीर से स्वस्थ व्यक्तियों को सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रोत्साहित करना आवश्यक है; ताकि स्वस्थ एव बुद्धिमान सन्तानों की वृद्धि हो। पारिवारिक पारितोषिक की व्यवस्था करने से भी सन्तान लालन-पालन में किसी को कठिनाई नहीं होगी और सभी लोग अच्छी सन्तान उत्पन्न करने की कोशिश करेंगे। बुद्धिमान व्यक्तियो को उच्च शिक्षा के लिए पारितोषिक प्रदान करना भी माता-पिता को बुद्धिमान बच्चों को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करेगा।

घर, पाठशाला तथा बच्चों की अन्य परिस्थितियों में सुधार करना इस दोष को रोकने में विशेष सहायक सिद्ध होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि जितने मानसिक दुर्बल बच्चे या प्रौढ़ मौजूद हैं उनकी शिक्षा, सरक्षण आदि का समुचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। ऐसा करने से कुछ समाजोपयोगी बन सकेंगे और बाकी समाज को किसी तरह की क्षति नहीं पहुँचा सकेंगे। स्वस्थ लोगो को और उनके बच्चों को सरकार की ओर से तरह-तरह की सुविधा देनी आवश्यक है; ताकि वे मन और शरीर से स्वस्थ बने रहें और मानसिक दुर्बल बच्चों को जन्म न दें। ऐसा करने पर वस्तुतः इस दोष को नियन्त्रित और कम किया जा सकता है और आनेवाली सन्तान में से कोई भी मानसिक दुर्बलता का शिकार नहीं हो सकता है।

दसवाँ अध्याय

आचारोन्माद

(Moral Insanity or Psychopathic Personality)

आचारोन्माद का स्वरूप

हमने पिछले अध्यायों मे विभिन्न प्रकार की असामान्यताओं तथा असामान्य व्यक्तियों का उल्लेख किया है ; किन्तु कुछ ऐसे असामान्य व्यक्ति भी पाये जाते हैं जिन्हें हम पिछले अध्यायों मे वर्णित असामान्यताओं की किसी श्रेणी में नहीं रख सकते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियो को विद्वानो ने आचारोन्माद व्यक्तित्व के अन्तर्गत रखा है। वस्तुत: ये व्यक्ति पूर्व वर्णित श्रेणियों से पूर्णत: भिन्न होते हैं। ऐसी ही असामान्यता को विद्वानों ने मनोविकृत व्यक्तित्व (Psychopath or Psychopathic Personality), दैहिक हीनता (Constitutional Inferiority), नैतिक न्यूनता (Moral Imbecility) आदि कई नामो से व्यक्त किया है ; लेकिन हम अपनी सुविधा और स्पष्टता के लिए इसे 'आचारोन्माद' के नाम से व्यक्त करना श्रेयस्कर समझते हैं।

हाँ, ऐसे व्यक्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ उसके जीवन के प्रारंभ काल मे ही पायी जाती हैं जिसके फलस्वरूप कुछ लोगो का ऐसा विश्वास है कि ऐसे लोग जन्मजात (Inborn) विशेषताओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के व्यक्ति में मनोविकृति (Psychosis) या मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis) की विशेषताएँ नहीं पायी जाती हैं; किन्तु वह सामाजिक अभियोजन में असफल रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि वैधानिक (Legal) दृष्टिकोण से वह सामान्य समझा जाता है; किन्तु सामाजिक असफलता से निमुक्त होने में वह सफल नहीं होता है। बुद्धि के दृष्टिकोण से भी वह व्यक्ति सामान्य या सामान्योपरि (Above Average) होता है; किन्तु इतना होते हुए भी वह अपने अनुभवों से न तो लाभान्वित होता है और न अपमानित या दण्डित होने पर अपने व्यवहार को परिमार्जित ही करता है। क्लेक्ले (Cleckley) ने आचारोन्माद की विशेषताओं का वर्णन बहुत ही सुन्दर एव व्यवस्थित ढंग मे किया है। अतएव इसके स्वरूप की समुचित जानकारी के लिए उसके द्वारा

व्यक्त विशेषताओं का उल्लेख कर देना पाठकों के लिए विशेष लाभप्रद होगा।

आचारोन्माद से ग्रस्त व्यक्ति में न तो मनोविकृत-व्यक्तित्व (Psychotics) की तरह कोई अविवेकशीलता (Irrationality) के लक्षण होते हैं और न मनोस्नायु-विकृति (Psychoneurosis) के ही कुछ लक्षण मिलते हैं। ऐसा व्यक्ति साधारणतः बहुत मनोहारी, सावधान, और चालाक होता है। बुद्धि-परीक्षण में भी वह सामान्य या उससे अधिक बुद्धि का परिचय देता है। लेकिन, वह अपने आचरण को इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि उसका आचरण उसकी बुद्धि का परिचय नहीं देता है। अतएव वह आचरण-सम्बन्धी निर्णय में असफल होकर अपनी निर्णयात्मक योग्यता की दरिद्रता का परिचय देता है। उसमें लज्जा का अभाव रहता है इसलिए जीवन में बार-बार कठिनाई में पड़ने पर भी उसके लिए वह कभी पश्चात्ताप नहीं करता है। वह जो कुछ भी दोष करता है उसके लिए वह स्वय अपने को उत्तरदायी नहीं समझता है। जब वह दूसरों के साथ कोई अनुचित व्यवहार कर देता है तो वह उसका दोष भी दूसरों ही के मत्थे मढ़ता है। और यदि कभी दोष करने पर उसके लिए क्षमायाचना भी करता है तो उसकी उस क्षमायाचना में कोई सार नहीं रहता है; क्योंकि वह वस्तुत अपने को दोषी समझता नहीं है। इसलिए उसकी क्षमायाचना मे सत्यता की कुछ भी गध नहीं रहती है। अन्य व्यक्तियों के प्रति वह अपना उत्तरदायित्व कुछ नहीं समझता है चाहे समस्या कितनी भी गम्भीर क्यों न हो। अपने किसी अनुचित व्यवहार के लिए उसे समाज के सामने कुछ कहना भी होगा, इसका उसे कुछ ध्यान नहीं रहता है। अपने गत जीवन में उसने किन-किन अवसरों पर झूठा व्यवहार किया है इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं रहती। उसकी भविष्य की प्रतिज्ञाएँ पूर्णत· झूठी होती हैं किन्तु, अपनी किसी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह बार-बार झूठी प्रतिज्ञा का आश्रय लेता है। वह दूसरे व्यक्तियों को धोखा देने या अन्य अपराध के कामों को अनावश्यक करने का अभ्यासी होता है। चोरी करना, झूठ बोलना या किसी प्रकार का किसी के साथ विश्वासघात करना उसके सामान्य जीवन की कार्यवाही होती है। वह साधारण-सी बात के लिए भी अपने को ऐसे कामों के द्वारा खतरा में डालने से तनिक भी आगा-पीछा नहीं करता है। जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, वह अपने गत अनुभवों से कुछ लाभान्वित नहीं होता है, इसलिए वह सदा अपने ऐसे व्यवहारों को करता रहता है, जिससे उसका सामाजिक अभियोजन उचित रूप से नहीं होता और समाज को भी कठिनाई झेलनी पड़ती है।

इतना ही नहीं; बल्कि वह इतना आत्मकेन्द्रित (Ego centric) होता है कि अन्य लोगों की कुछ भी परवाह वह नहीं करता। यही कारण है कि वह उन व्यक्तियों की भी आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक या अन्य कठिनाइयों का कारण होता है, जिनके प्रति वह अत्यधिक सम्मान या प्रेम प्रदर्शित करता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि वह आत्मकेन्द्रित इतना अधिक होता है कि कभी भी वह इतना सोचने का कष्ट नहीं करता है कि उसके चलते किसी अन्य व्यक्ति की क्या क्षति हो रही है। उसका सवेगात्मक (Emotional) मानसिक जीवन भी अत्यधिक दरिद्र स्वरूप का होता है। यों तो साधारणतः देखने पर यह ज्ञान होना कठिन है कि इस प्रकार के व्यक्तित्व में संवेगात्मक पहलू का अभाव है ; लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति प्रेम, घृणा, क्रोध आदि संवेगों का अनुभव करता है उस मात्रा मे ऐसा व्यक्ति कदापि नहीं करता है। इसलिए कोई वर्तमान या गत सवेगात्मक परिस्थिति भी उसे सामान्य व्यक्ति की तरह प्रभावित नहीं करती है।

जैसा कि अभी ऊपर व्यक्त किया गया है, ऐसा व्यक्ति संवेगों का शिकार नहीं होता, सामान्य बुद्धि की भी उसमें कमी नहीं रहती है और न तो भ्रम और विभ्रम से ही वह ग्रस्त रहता है; किंतु ऐसे व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि (Insight) का पूर्णतः अभाव रहता है। यही कारण है कि उसे इतनी समझ कभी नहीं होती है कि उसके आचरण का दूसरों पर कैसा असर पड़ता है और न तो अपने व्यवहार में सुधार लाना ही वह आवश्यक समझता है। इसीलिए वह अपनी परिस्थिति की सार्थकता को भी समझने में असमर्थ होता है और कभी भी लज्जा या सकोच का अनुभव अपने आचरण के प्रति नहीं करता। ऐसे व्यक्ति कभी किसी व्यक्ति के किये गये उपकार या दयालुता का प्रतिकार नही करते हैं। इनके उपकारकों की संख्या अत्यधिक होती है ; किंतु ऐसे व्यक्ति अपने उपकार करनेवालों मे भी स्वार्थसाधन की गध पाते हैं। इतना ही नहीं ; बल्कि क्लेक्ले का ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह भी कथन है कि ऐसे लोग आसव (Alcohol) का सेवन अत्यधिक करते हैं; किंतु इनके सेवन करने का ध्येय उसके रसास्वादन से अपने को अचेतनावस्था में करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता है। लेकिन, इस सम्बन्ध में उनकी इस आदत को मनोस्नायुविकृति के रोगियों के आदत से भिन्न समझना चाहिये ; क्योकि ऐसे रोगियो के आसव सेवन का ध्येय अपने आपको आराम पहुँचाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है। अतएव, पाठकों को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि आचारोन्मादी व्यक्ति आसव का सेवन

करते हैं; लेकिन उनके आसव सेवन मात्र से उन्हें हमें मनोस्नायुविकृति का रोगी समझना कदापि उचित नहीं है। ऐसे व्यक्तियों की यह अपनी विशेषता है कि वे आसव का सेवन अपमानित होने की ही इच्छा से करते हैं; क्योंकि उनको पीने के बाद मादकता की अनुभूति मान, यश या धन से भा अधिक प्रिय होती है। आचारोन्मादी किसी कार्य को वह भला हो या बुरा बहुत दिनों तक करने मे असमर्थ होता है। इसलिए एक काम को छोड़ना और दूसरे को करना ही उसका एक मात्र ध्येय होता है। वह इतना झक्की (Inpulsive) स्वभाव का होता है कि जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे किसी भी मूल्य पर तत्काल ही संतुष्ट करना चाहता है। लैंगिक अभिरुचि की प्रबलता और प्रधानता भी ऐसे व्यक्ति में पायी जाती हैं; किन्तु वह ऐसे कार्य में निरंतर संलग्न नहीं रहता। वह कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए कभी आत्महत्या करने का नहीं सोचता, जैसा कि साधारण मनुष्य ऊब कर कर बैठता है। आत्महत्या की प्रवृत्ति उसमें अत्यधिक निर्बल होती है। ऐसे व्यक्तियों का पारिवारिक स्तर भी सामान्य या उससे अधिक हो रहता है, इसलिए कोई-कोई सामाजिक पूर्णता भी किसी-किसी दिशा में प्राप्त कर लेते हैं। आचारोन्मादियों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि कितने ही प्रोफेसर, डाक्टर या अन्य ऐसे पदों के अधिकारी होते हैं। अन्तमें उनके सम्बन्ध में हम इतना कह देना भी अप्रासंगिक नहीं समझते हैं कि आचारोन्मादी अपने जीवन को असफल बनाने के लिए कोई भी कार्य कर बैठता है। यही कारण है कि ऐसे व्यक्तियों का सामाजिक अभियोजन भी उचित नहीं होता है।

आचारोन्माद का वर्गीकरण

विद्वानों ने आचारोन्माद को कई श्रेणियों में विभक्त किया है; लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन श्रेणियों में सभी प्रकार के आचारोन्मादी आ जाते हैं। इसलिए यहाँ कुछ प्रमुख श्रेणियों का ही उल्लेख किया जायेगा; किंतु पाठकों को यह सदा ध्यान मे रखना होगा कि इन श्रेणियों में वर्णित प्रकारों के अतिरिक्त इसके अन्य प्रकार भी होते हैं।

दुखदायी (Trouble makers) :—जो व्यक्ति दुखदायी (Trouble maker) होता है वह मनोविकृति (Psychosis) का शिकार अधिकांशतः होता है। स्वभावतः वह झगड़ालू होता है, इसलिए वह साधारण बात को लेकर भी किसी व्यक्ति विशेष पर मुकदमा करने का अभ्यासी होता है। इस प्रकार का आदमी इतना आत्मकेन्द्रित (Egocentric) तथा प्रतिष्ठा का इच्छुक होता है कि यह दूसरे व्यक्तियों के भला-बुरा पर कुछ विचार नहीं करता है। इसमें आदमियों की पहचान कत्तई नहीं होती है, इसलिए

इसमें भाव (Feeling), स्थायीभाव (Sentiment) आदि का भी अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति का कोई सच्चा हितैषी नहीं होता है। वह दैनिक जीवन की घटनाओं और बातों को अनावश्यक अपनी प्रधानता के लिए पकड़ता रहता है और अपना एक विचार ही बना लेता है। वह जो कुछ समझता या विश्वास करता है उसकी अलोचना सुनने का इच्छुक नहीं होता। उसका कुछ विचार ही ऐसा होता है कि वह जो कुछ समझता है वही ठीक है, इसलिए उसकी सत्यता पर किसी को सन्देह करना युक्तिसगत नही है। ऐसे व्यक्ति मे कभी-कभी निस्सार प्रफुल्लता और प्रहसन भी प्रदशित करने की निपुणता होती है, इसलिए जिन लोगों से वह यदाकदा मिलता है उनपर उसका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। किन्तु जब वह किसी के निरतर सम्पर्क में रहने लगता है तो अपने झक्कीपन (Crankiness) के कारण उससे झगड़ा और कलह मोल ले लेता है। वह छोटी-छोटी बातों पर भी अपने को अपमानित एव तिरस्कृत पाता है। वस्तुत ऐसे व्यक्ति से समाज के सभी लोग तंग रहते हैं और यदि हम आँख खोलकर देखे तो अपने दैनिक जीवन में अपने आस-पास भी ऐसे लोगों की सख्या में कमी नहीं पाते हैं।

विषमकेन्द्री (Eccentrics):—विषमकेन्द्री व्यक्तियों के मानस जीवन में समरसता का अभाव रहता है। कभी वे कुछ करते या सोचते हैं तो कभी कुछ। उनका आन्तरिक जीवन भी अव्यवस्थित रहता है। उनके किसी प्रकार के व्यवहार में झक्कीपन की गन्ध रहती है। इसलिए उनका चिन्तन, बोली, प्रेरणा, वेशभूषा आदि सभी उनके झक्कीपन के ही द्योतक होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि कुछ सामान्य व्यक्तियों में भी इस प्रकार के विचित्र व्यवहार और झक्कीपन देखने में आते हैं; किन्तु इन समानताओं के ही अधार पर दोनों प्रकार के व्यक्तियों को एक वर्ग में रख देना उचित नहीं होगा और न तो सभी ऐसे झक्की व्यक्तियों को आचारोन्मादी ही कहना ठीक होगा। वस्तुत· सभी आचारोन्मादी झक्की भी नहीं होते हैं। जो व्यक्ति आचारोन्मादी झक्की होता है उसके चरित्र में एक ऐसी कमजोरी होती है जिसकी अभिव्यक्ति वह अवसाद (Depression), चिन्ता (Anxiety) एव प्रेरणाओ में करता है। उसमें हिस्टिरिया के लक्षण भी देखने में आते हैं। अपनी इस आन्तरिक कमजोरी को वह अतिपूर्ति (Compensation) के द्वारा छिपाने की कोशिश करता है, इसलिए वाहियात विचित्रताओं और इसी प्रकार के अन्य व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेषको अपने दुखों का कारण समझकर उससे घृणा करने लगते हैं; जिसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं रहती

है। ऐसे लोगो मे लैंगिक शिशुता (Infantilism) या विरक्ति भी देखने में आती है।

भ्रमणकारी (Vagrants) :—जो व्यक्ति आचारोन्मादी भ्रमणकारी होता है वह एक स्थान पर रहने में अपने को असमर्थ पाता है और इस प्रकार के जीवन में रहकर एक जगह जीविकोपार्जन करके रहने में जो आराम हो सकता है उसकी अपेक्षा वह तरह-तरह के कष्टों को सहन करना ही अच्छा समझता है। यों तो बहुत से सामान्य व्यक्ति भी अपने अपराध को छिपाने, स्वास्थ्य रक्षा, जीविकोपार्जन या मनोविकृति का शिकार होने के कारण बराबर एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं, किन्तु आचारोन्मादी भ्रमण-कारी ऐसे व्यक्तियों से भिन्न होता है। उसके भ्रमण का न तो कोई स्पष्ट कारण दृष्टिगोचर होता है और न उपर्युक्त कोटियों में ही आता है। वह भ्रमण की प्रबल इच्छा से बाध्य होकर घूमता रहता है।

इस प्रकार के व्यक्तियो मे कुछ बहुत ही कार्य निपुण होते हैं और काम भी उत्तमता के साथ करते हैं; लेकिन कुछ दिन काम करने के बाद वे बिना किसी कारण के काम छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं और वहाँ भी कुछ दिन काम करने के बाद पुन: दूसरी जगह जाने के लिए उस काम को छोड़ देते हैं। इस प्रकार वे निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। अगर उनसे पूछा जाय तो वे कुछ उत्तर नहीं देते कि वे कहाँ जाना चाहते हैं। हाँ, इतना ही कहने में वे समर्थ होते हैं कि वे कहीं अन्यत्र जाना चाहते हैं; क्योंकि यह इच्छा उनमें अत्यधिक प्रबल है। इस स्थान अनिश्चितता के कारण ऐसे व्यक्तियों को कभी-कभी दण्ड तक भी भोगने की नौबत आ जाती है; क्योंकि अपराधी और मोनोविकृत (Psycotics) के सन्देह में ऐसे लोग निर्दोष होते हुए भी कानून के पंजे में पाये जाते हैं।

विकृत मिथ्याभाषी (Pathological liars) :—विकृत मिथ्या-भाषी व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह निराधार झूठ बोलने का अभ्यासी होता है। उसकी यही प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते ठग विद्या (Swindling) के रूप मे विकसित हो जाती है। वस्तुतः वह झूठ बोलने के लिए विवश रहता है; किन्तु वह विवशता (Compulsion) किसी ध्येय विशेष को प्राप्त करने के विचार मे नहीं होती है। वह झूठ इसलिए बोलता है कि वह झूठ बोलने की प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने मे पूर्णत: असमर्थ होता है। उसका इस प्रकार का झूठ बोलना किसी घटना या व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होता; बल्कि उसके व्यक्तित्व की एक विशेषता ही होती है कि अकारण जीवन पर्यन्त वह झूठ बोला करता है। किसी अभीष्ट

को प्राप्त करने के लिए नहीं; बल्कि आत्मसंतोष के लिए ही वह झूठ बोलता है। इसलिए बेईमानी करने के लिए झूठ बोलने और विकृत मिथ्या-भाषण में अन्तर होता है। विकृत मिथ्या-भाषण का कोई ध्येय नहीं होता; किन्तु बेईमानी के मिथ्या-भाषण का अपना कोई ध्येय विशेष होता है।

कभी-कभी ऐसा व्यक्ति अपने या अन्य व्यक्ति को दोषी ठहराने का आदी हो जाता है। ऐसे मिथ्या-भाषण अपराध के कारण भी बन जाते हैं; किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी अपराधियों मे विकृत मिथ्या-भाषण की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसे व्यक्तियों में किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक अस्वस्थता भी नहीं देखने में आती है।

ऐसे लोगों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक किसी विषय को जानने या समझने की योग्यता होती है। उनकी अभिरुचियाँ भी विभिन्न प्रकार की होती हैं और वे तत्क्षण बुद्धि के (Quick witted) होते हैं ; किन्तु सामान्य प्रत्ययो (Concepts) और निर्णयों (Judgements) का विकास-क्रम दोषी होता है। उनका निर्णय अपने से अतिरिक्त विषयों के सम्बन्ध में स्पष्ट और ठीक भी होता है। उनमें आत्मविवेचन (Selfcriticism) की कमी होती है और वे अत्यधिक आत्मकेन्द्रित (Egocentric) चिन्तन के अभ्यासी होते हैं ; इसलिए उनका अपने सम्बन्ध में जो निर्णय होता है वह पूर्णतः दोषपूर्ण होता है। यद्यपि उनकी चिन्तन प्रक्रिया पूर्ण रूपसे तार्किक होती है; किन्तु उसमें नैतिक विवेचन का सर्वांशतः अभाव रहता है।

लैण्डिस (Landis) बोल्स-(Bolles) की "टेक्स्ट बुक आफ एबनार्मल साइकोलॉजी" से विकृत मिथ्या - भाषी का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। उस पुस्तक में एक ३५ वर्ष के बढ़ई का उल्लेख किया गया है, जो विकृत मिथ्या-भाषी था। एक दिन वह राज्य के उच्चाधिकारियो के पास पहुँचा। वहाँ जाकर अधिकारियों को उसने निराधार सूचना दी कि उसने एक राजनीतिज्ञ की हत्या ईर्ष्यावश कर डाली है। पुलिस द्वारा खोज करने पर मालूम हुआ कि उसकी वह सूचना पूर्णतः निराधार थी और वह व्यक्ति जीवित था। जब यह बात उस व्यक्ति को मालूम हुई तो उसने आश्चर्य का प्रदर्शन किया। इतना ही नही, पुलिस को खोज करने पर यह भी पता चला कि वस्तुतः वह मिथ्या-भाषी, जीवन मे उस व्यक्ति को कभी मिल भी नहीं सका था। पाठक भी यदि अपने इर्द-गिर्द सावधानी से देखें तो ऐसे निराधार मिथ्या-भाषियो की कमी नहीं मिलेगी ऐसा मालूम होता है कि एकमात्र झूठ बोलना ही इनका काम होता है।

अवसादी आचारोन्मादी (Depressive Psychopaths) :— अवसादी आचारोन्मादी व्यक्ति के जीवन में उदासीन भाव की ही निरंतर प्रधानता रहती है। वह बहुत गंभीर और अति विवेकशील (Over conscientious) स्वभाव का होता है। दैनिक जीवन की घटनाओं का जो असर उस पर पड़ता है उससे अपना पिण्ड छुड़ाने में वह पूर्णतः असमर्थ होता है। वह इतना निराशावादी (Pessimist) होता है कि उसका भविष्य उसे भयावह तथा अन्धकारमय दृष्टिगोचर होता है। ऐसा व्यक्ति अपने सम्बन्ध में सदा न्यूनांकन (Under estimation) करता है। इसलिए भावी दुखद परिस्थितियों से बचने के लिये वह आत्महत्या कर बैठता है। ऐसे व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वास्तविकता से पिण्ड छुड़ाने या मानसिक एवं शारीरिक शान्ति के लिए यह आत्महत्या को ही सुलभ एवं श्रेयस्कर साधन समझता है। लेकिन, यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अवसादी आचारोन्मादी व्यक्ति ही आत्महत्या नहीं करते, बल्कि अन्य प्रकार के लोग भी कभी-कभी अपनी वर्तमान परिस्थितियों से घबड़ा कर और आत्महत्या का साधन सुलभ होने पर आत्महत्या कर बैठते हैं। इसलिए सभी आत्महत्या कारकों को अवसादी आचारोन्मादी समझना उचित नहीं होगा।

नैतिक दोषी (Moral Defectives) :—जो व्यक्ति नैतिक दोषी होता है उसमे मानसिक दुर्बलता मौजूद रहती है। उसमें अपराध वृत्ति भी काफी प्रबल होती है। इसलिए दूसरों की रक्षा के लिए उसका नियंत्रण एवं निरीक्षण आवश्यक होता है। उसकी रक्षा के लिए भी उसकी सावधानी अपेक्षित है। ऐसा व्यक्ति साधारण पाठशालीय शिक्षा से लाभान्वित होता है। वह अपने व्यवहार को युक्तिसंगत व्यक्त करने में समर्थ होता है और दूसरों से बातचीत भी सफलतापूर्वक करता है। लेकिन, यह सब होते हुए भी उसका सामाजिक अभियोजन संतोषप्रद नहीं होता; क्योंकि ऐसा करने में वह असमर्थ रहता है। इस प्रकार का व्यक्ति किसी टिकाऊ ध्येय को प्राप्त करने के लिए वर्तमान की क्षणिक मनोहारी परिस्थिति को न तो नियंत्रित करने में समर्थ होता है और न किसी प्रकार की कार्य-योजना (Plan) बनाने में ही सफल होता है। उसमें ठोस निर्णय करने की शक्ति का अभाव होता है और वह किसी कार्य के वास्तविक मूल्य को भी नहीं समझ पाता है। न तो इस प्रकार का व्यक्ति किसी प्रकार के अनुभव से लाभान्वित होता है और न उचित-अनुचित के लिए किसी संवेग का ही अनुभव

करता है। वस्तुतः उसमें उचितानुचित पहचानने की योग्यता नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति में लज्जा, पश्चात्ताप, कृतज्ञता, स्नेह आदि का अभाव होता है। वह इतना स्वार्थी होता है कि किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार या भाव का कभी विचार नहीं करता है। उसमें आत्मसम्मान (Self-respect) की भी कमी होती है।

बुद्धिहीन अपराधी (Senseless criminals) :—बुद्धिहीन अपराधियो का आंशिक व्यक्तित्व-विच्छेद (Partially dissociated personality) रहता है; किन्तु उनमें इसका ज्ञान भी रहता है। वे हिस्टिरिया के रोगियों और मनोविकृतों की भाँति अपने व्यवहार से अनभिज्ञ नहीं रहते। ऐसे व्यक्ति बिना किसी कारण के ही चोरी, हत्या, लूट, अपमान आदि के कार्यों को करते हैं। अपने ऐसे व्यवहार का उन्हें कुछ भी कारण नहीं मालूम होता है और दूसरों को भी उनका व्यवहार असगत ही मालूम होता है। अपने ऐसे व्यवहार के द्वारा वे अपनी आक्रामक (Agrresive) वृत्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। उनमे एक आवेग (Impulse) का झोंक आता है और वे अपराध के काम को कर बैठते हैं। अपने इस आवेग को वे नियंत्रित करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे अपराधी स्वयं यह कहते हुए पाये जाते हैं कि "कह नहीं सकता मैं क्यो ऐसा अनुचित काम कर बैठता हूँ, लेकिन इतना अवश्य है कि मै इसे रोक नहीं सकता हूँ।"

ऐसे लोगो को संतुष्ट करना असंभव है और न तो ऐसे व्यक्ति किसी कार्य को नियमित रूप से करते ही हैं। इस प्रकार के व्यक्ति आवेग में आकर तरह-तरह की हानियाँ उठाते हैं। संवेगात्मक अपरिपक्वता (Emotional immaturity) भी इनमें देखने में आती है। इनका व्यवहार इस बात का द्योतक होता है कि सामाजिक नियमो का ये उलंघन करना चाहते हैं। वस्तुतः इनके आदर्शात्मा (Super ego) पर अबोधात्मा (Id) की विजय होती है। ऐसे व्यक्तियो में मनोवैज्ञानिक असंतुलन के कारण मानसिक तनाव (Tension) बना रहता है और जब ये अपराध के कामों को कर बैठते हैं तब मानसिक तनाव समाप्त हो जाता है, जिससे इन्हे एक प्रकार की शान्ति मिलती है। इन श्रेणियो के अतिरिक्त लैंगिक आचारोन्मादी (Sexual Psychopaths), उत्तेजित (Excitable) आदि और भी कई प्रकार आचारोन्माद के होते हैं; किंतु उनका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक नहीं हैं। लैंगिक आचारोन्माद का उल्लेख स्थल विशेष पर कर दियां गया है।

इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि ऐसे व्यक्तियों पर मनोचिकित्सा का कोई असर देखने में नहीं आता है। यदि प्रारंभ में ही नियंत्रण करने की कोशिश की जाय तो कुछ अवसरों पर कल्याण की संभावना की जा सकती है।

कारण

आचारोन्माद के कारणों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानो ने इसे एक जन्म-जात दोष मानकर वंशानुक्रम के महत्त्व पर जोर दिया है। उनके अनुसार आचारोन्माद का कारण वंशानुक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने इस कथन के पक्ष मे उन लोगो ने पर्याप्त प्रमाणो को उपस्थित किया है। इसके सम्बन्ध में उन लोगों का कहना है कि किसी प्रकार की शिक्षा और विधि आचारोन्माद को सुधारने में सफल नहीं होती; अगर यह दोष वशानुक्रम के के कारण नहीं होता तो इसका निराकरण शिक्षा अथवा अन्य उपायो से अवश्य ही होता। लेकिन, कुछ आचारोन्मादियो का अध्ययन करने से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने इस शील-गुण को अपने जीवन के अनुभवों से अर्जित किया है। अतएव इसे एक वंशानुक्रमिक दोष मानना उचित नहीं जॅचता है।

मनोविश्लेषणवादियो ने इसकी व्याख्या मानसिक कारणों के आधार पर की है। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि आचारोन्मादियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवन के प्रारंभ में असंतुलन, मानसिक संघर्ष, निरोध (Inhibition), अतृप्त इच्छा, असुरक्षित भाव तथा अन्य भाव-ग्रंथियों का राज्य था। इन्हीं मानसिक कारणों के चलते मनुष्य आचारोन्माद के व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। मनोविश्लेषणवादियों का यह दृष्टिकोण पूर्णतः तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभी ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि बचपन के इतिहास का अध्ययन करने से ऐसे व्यक्तियों में तरह-तरह के असंतुलन, सघर्ष आदि के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन ऐसा कहना कठिन है कि आचारोन्मादियो के सभी व्यवहार मानसिक कारणों के ही फलस्वरुप होते हैं। यदि इस कथन मे पूर्ण सत्यता होती तो बाहरी उपचारो का प्रभाव अवश्य पड़ता; लेकिन सभी अवसरों मे सफलता नही मिलती। इसलिए इस कारण की महत्ता मे भी सर्वांशतःविश्वास करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसी की परिपुष्टि फ्रैंज अलेक्जेण्डर (Franz Alexander) ने भी अपने ढग से की है।

इसी प्रकार कुछ विद्वानो ने इस दोष के कारण को वातावरण-जन्य मानते

हुए यह व्यक्त किया है कि वातावरण का इसमें महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। उनका कहना है कि जिन व्यक्तियों का पालन-पोषण आचारोन्मादियों तथा अन्य प्रकार के असंतुलित व्यक्तियों के बीच होता है वे आचारोन्मादी व्यक्तित्व को विकसित करते हैं। ऐसे विद्वानों ने आचारोन्मादियो का उपचार वातावरण के परिवर्तन द्वारा करने का प्रयास किया है। कुछ अंशो में तो वातावरण के परिवर्तन से उन्हें अवश्य सफलता मिली है; किन्तु अधिकांश अवसरो पर उन्हें असफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सका है। अतएव उनका यह दृष्टिकोण भी सर्वमान्य नहीं हो सका है।

इसी प्रकार कुछ आचारोन्मादी व्यक्तियों का अध्ययन करके कुछ विद्वानों ने यह व्यक्त किया है कि मस्तिष्क व्याधि (Organic Brain Disease) के कारण कोई व्यक्ति आचारोन्माद के व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। इस कथन की पुष्टि भी विद्वानों ने प्रौढ़ एवं बालकों का अध्ययन करके किया है। लेकिन, अभी इस दिशा में इतना काम नहीं हो सका है कि इसी को कोई एक मात्र कारण मान बैठे। संभव है आगे चलकर इसकी सर्वांग सत्यता प्रमाणित हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसके कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है लेकिन, यदि हम इसपर गभीरतया विचार करें तो मालूम होगा कि हम उपर्युक्त किसी अंग की उपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तुतः इसके आविर्भाव में सभी अंगों का हाथ रहता है, लेकिन प्रधानता इसमें मनोवैज्ञानिक कारणो की ही रहती है। जब कोई व्यक्ति ऐसे वातावरण में पालित-पोषित होता है, जहाँ कि उसके अबोधातम (Id), बोधात्मा (Ego) और आदर्शात्मा (Super-ego) की कार्यवाहियो में समन्वय नहीं रहता तो उसके मन में तरह-तरह के संघर्ष उत्पन्न होते हैं। उन संघर्षों के कारण वह बेचैनी का अनुभव करता है और जब उसकी अबोधात्मा का आवेग इतना प्रबल होता कि वह उसे नियंत्रित नहीं कर सकता है तब वह आचारोन्माद के व्यवहारों का प्रदर्शन करता है। इससे उसे शान्ति और संतुष्टि मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक कारणों को जन्म देने में अन्य अंगों का भी हाथ रहता है।

आचारोन्माद और मनोस्नायुविकृति

हम आचारोन्माद और मनोस्नायुविकृति की विशेषताओं का उल्लेख कर चुके हैं। इसलिए इस स्थल पर इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जब हम दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि दोनों

असामान्यताओं में कई पहलुओं में समानता पायी जाती है। जहाँ तक इन दोनो के कारणों का प्रश्न है उनके सम्बन्ध में यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे आचारोन्मादी व्यक्ति, जो मस्तिष्क व्याधि के कारण असामान्य व्यवहार करते हैं उनको छोड़ कर अन्य प्रकार के आचारोन्मादी व्यक्तियों की असामान्याताएँ उन्हीं कारणो के फलस्वरूप होती हैं जिन कारणों से कोई व्यक्ति मनोस्नायुविकृति का शिकार होता है। जिस प्रकार वंशानुक्रम, जीवन के प्रारंभिक अनुभव और वर्तमान कठिनाइयाँ मनोस्नायु-विकृति को जन्म देती हैं उसी प्रकार इन्हीं कारणो के चलते कोई व्यक्ति आचारोन्माद का भी शिकार होता है। दोनों प्रकार के व्यक्तियों का एक मात्र ध्येय अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना और इच्छाओं को संतृप्त करना ही होता है। हाँ, उनका पथ विभिन्न भले ही हो। लेकिन, इन समानताओं के रहते हुए भी दोनों प्रकार के व्यक्तियो मे कई प्रकार की भिन्नताएँ पायी जाती हैं।

इन भिन्नताओ का सूक्ष्मतया अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि आचारोन्मादी व्यक्ति की आदर्शात्मा अत्यधिक कमजोर होती है, इसलिए वह अपने अचेतन आवेगों (Impulses) को नियंत्रित करने मे समर्थ नही होता है; किन्तु मनोस्नायुविकृति-ग्रस्त व्यक्ति की आदर्शात्मा, सामान्य या अत्यधिक प्रबल होती है। इसलिए वह बोधात्मा (Ego) को नियंत्रित करने में भी सफल मनोरथ होती है। आचारोन्माद से पीड़ित व्यक्ति अपने माता-पिता से संवेगात्मक सम्बन्ध प्रस्थापित करने मे असफल होता है; किंतु मनोस्नायुविकृति से पीड़ित व्यक्ति का सम्बन्ध-स्थापन उचित रूप से होता है; परन्तु उसमे व्याघात पड़ जाता है। आचारोन्मादी अपनी अचेतन इच्छाओं की संतुष्टि अपने व्यवहारों द्वारा स्पष्ट रूप से करता है; लेकिन मनो-स्नायुविकृति-ग्रस्त व्यक्ति की अचेतन इच्छाओं की सतुष्टि प्रत्यक्षतया न होकर अव्यक्त रूप से सांकेतिक क्रियाओं द्वारा होती है जिनकी चर्चा पिछले अध्यायों में पर्याप्त रूप से की गयी है, अतएव यहाँ उदाहरणों की आवश्यकता नही है। आचारोन्मादी के व्यवहार मे समरसता देखने मे आती है, किंतु मनोस्नायु-विकृति के लक्षणों में समरसता नहीं रहती। इसलिए वे कभी उग्र रूप धारण कर लेते हैं तो कभी क्षीण और निर्बल भी दृष्टिगोचर होते हैं। आचारोन्मादी के व्यवहार सामाजिक दृष्टिकोण से विचित्र, वाहियात और आक्रामक स्वरूप के होते हैं; किन्तु मनोस्नायुविकृति मे उनका नियन्त्रण रहता है। अलेक्जेडर ने मनोस्नायुविकृति की उपमा एकसत्ता-शासन से दी है जहाँ बोधात्मा (Ego) की प्रधानता रहती है और वही सभी इच्छाओं

का नियंत्रण करती है। किन्तु, आचारोन्माद की तुलना उसने शासन रहित देश से की है जहाँ किसी एक सत्ता का अभाव रहता है और सभी व्यक्तियों मे असुरक्षा का भाव काम करता है तथा सभी मनमानी, बिना किसी नियंत्रण के, करते हैं। आचारोन्मादी व्यक्ति की सभी इच्छाएं अनियंत्रित रहती हैं, अतएव वे सभी प्रत्यक्ष रूपसे अपनी संतुष्टि व्यवहार के माध्यम से करती हैं।

आचारोन्मादी समाज से किसी प्रकार का संवेगात्मक संबंध स्थापित करने में असमर्थ होता है। दूसरी ओर मनोस्नायुविकृति का व्यक्ति सम्बन्ध स्थापित करता है; किन्तु उसमे परनिर्भरता की प्रवृत्ति अधिक रहती है। आचारोन्मादी शारीरिक कष्टो का शिकार नहीं होता; किन्तु मनोस्नायुविकृति से ग्रस्त व्यक्ति तरह-तरह की शारीरिक पीड़ाओ को अधिकांशतः व्यक्त करता है। पहले प्रकार के रोगी मे चिता का नाम नहीं रहता; किन्तु मनोस्नायु-विकृति के रोगियों मे विभिन्न प्रकार की चिताओं की बहुलता रहती है। अधिक काल तक आचारोन्मादी व्यक्ति सामाजिक एवं औद्योगिक अभियोजन मे सफल नहीं होता; किन्तु मनोस्नायुविकृति-ग्रस्त व्यक्ति का सामाजिक एवं औद्योगिक अभियोजन अधिकांशतः सामान्य और कभी-कभी श्रेष्ठ भी होता है। इतना ही नहीं, बल्कि आचारोन्मादी की प्रतिक्रियाएं नैतिक परिस्थितियों मे अनुपयुक्त होती हैं; किन्तु दूसरे प्रकार के व्यक्तियो में ये प्रतिक्रियाएं या तो सामान्य होती हैं या अतिरंजित होती हैं। जहाँ आचारोन्मादी दीर्घकालीन ध्येय को प्राप्त करने में असमर्थ होता है वहाँ मनोस्नायुविकृति का रोगी उसे प्राप्त करने मे सफल मनोरथ होता है। आचारोन्मादी को सामाजिक अभि-योजन मे कठिनाइयाँ होती हैं, किन्तु मनोस्नायु का रोगी वैसा करने मे कभी-कभी पूर्णतः असमर्थ होता है। अधिकारियो को संतुष्ट रखने की इच्छा का आचारो-न्मादी में अभाव रहता है; किन्तु मनोस्नायुविकृति का रोगी इस कार्य को सफलतापूर्वक कर लेता है। अपनी ध्वंसात्मक वृत्तियों के कारण जब तक कि कोई बाह्य प्रलोभन (Incentive) न हो आचारोन्मादी उपचारक को किसी प्रकार का सहयोग प्रदान नहीं करता है; किन्तु अधिकांश अवसरों पर मनोस्नायु विकृति का रोगी उपचारक को अपना पूर्ण सहयोग देता है, इसलिए वह अपनी कठिनाइयों से भी निर्मुक्त होता है।

इस प्रकार औपचारिक दृष्टिकोण से दोनों प्रकार की असामान्यताओं की भिन्नताओ को समझना और जानना सरल है किंतु, कई स्थलों पर इन रोगियों में कुछ ऐसी विशेषताएं देखने में आती हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ

निश्चयात्मक रूप से व्यक्त करना कठिन हो जाता है। इसलिए कोई व्यक्ति विशेष आचारोन्माद से पीड़ित है या मनोस्नायुविकृति से यह कहना कठिन हो जाता है।

सामाजिक और वैधानिक पहलू

आचारोन्माद हमारी एक सामाजिक समस्या है; किन्तु अभी तक इसे विद्वानों ने इस दृष्टिकोण से नहीं देखा है। प्राचीन काल से ही ऐसे लोगों को नीची दृष्टि से देखने की परिपाटी सी चली आ रही है और अभी तक दण्ड देने की व्यवस्था रही है। लेकिन, हर्ष का विषय है कि वर्तमान युग मे इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है और विभिन्न राष्ट्रो की दृष्टि इस दिशा मे गयी है। अभी तक ऐसे व्यक्तियों के सुधार की कोई व्यवस्था नहीं थी; क्योंकि लोगों का ऐसा विश्वास था कि दण्ड देने के अतिरिक्त ऐसे लोगों के सुधार का अन्य कोई उपाय नहीं है। किंतु, इधर सामूहिक मनोचिकित्सा (Group-Psychotherapy) का जब से प्रचलन हुआ है तब से लोगों का यह विश्वास हो गया है कि ऐसे लोगों के लिए सामूहिक मनोचिकित्सा लाभप्रद होती है। अब किसी अपराध के करने पर दण्डमात्र नहीं दिया जाता, बल्कि मनोवैज्ञानिक रूप से उनके सुधार की भी कोशिश की जाती है। कई देशों में तो दण्डावधि अपराध के स्वरूप से ही निर्धारित नहीं होती, बल्कि अपराधी के व्यक्ति—इतिहास के द्वारा भी निर्धारित होती है और ऐसे लोगों के उपचार और सुधार की व्यवस्था की जाती है। इस दिशा में अभी पूरी सफलता तो नहीं मिल सकी है, लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि समाज का विचार ऐसे लोगों के प्रति उदार बना रहा तो अवश्य ही एक दिन ऐसा आयगा कि आचारोन्मादियों को दण्ड देने की व्यवस्था न कर उनके सुधार की ही व्यवस्था रह जायगी। अभी इस दिशा मे विशेष खोजों की आवश्यकता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

मनोचिकित्सा (Psychotherapy)

मनोचिकित्सा की व्याख्या और ध्येय

हम विभिन्न प्रकार की असामान्यताओं का उल्लेख कर चुके हैं और यत्र-तत्र उनसे निर्मुक्त होने के उपायों को भी व्यक्त कर चुके हैं। इसलिए इस स्थल पर विभिन्न मनोचिकित्सा विधियों पर सङ्क्षिप्ततःप्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। लेकिन, उनका उल्लेख करने के पहले इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातों को व्यक्त कर देना युक्ति संगत प्रतीत होता है, यथा, मनोचिकित्सा क्या है? इसका ध्येय या प्रयोजन क्या है, मनोचिकित्सक कैसा होना चाहिये, आदि? मनोचिकित्सा की व्याख्या करने के लिए हम थोड़े शब्दों में कह सकते हैं कि व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न उलझनो को जिन मनोवैज्ञानिक साधनों और उपायो से सुलझाया जाता है उन्हीं को मनोवैज्ञानिक भाषा में मनोचिकित्सा कहते हैं। लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि विदेशो में बड़े-बड़े डाक्टरों ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को अपनाया है या मनोवैज्ञानिको ने डाक्टरी विधियों को आश्रय दिया है। इसलिए वर्त्तमान में विभिन्न प्रकार की मानसिक व्याधियो तथा अन्य व्यक्तित्व सम्बन्धी उलझनो को सुधारने के लिए दर्जनों चिकित्साविधियाँ भी प्रचलित हो गयी हैं। कुछ तो, उनमें से बहुत प्राचीन हैं और आज भी उनका प्रचार यत्र-तत्र होता है और कुछ बहुत ही नवीन हैं जो अभी विकसित हो रही हैं। अतएव यहाँ प्रमुख विधियों का ही उल्लेख संक्षिप्ततः किया जायेगा। यों तो हम सभी को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं; लेकिन यहाँ उनका वर्गीकरण करना आवश्यक नहीं है।

जहाँ तक मनोचिकित्सा के ध्येय या प्रयोजन का प्रश्न है उसके उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि इसका एक मात्र ध्येय किसी असामान्य मनुष्य को सामान्य बनाना है ताकि वह अपनी व्याधि से निर्मुक्त होकर अपने जीवन को सुरक्षित समझे। इतना ही नहीं; बल्कि वह अपने आपको इस प्रकार समझ जाय कि उसमें आत्मविश्वास के भाव अंकुरित और विकसित हो सके और वह समाज में आत्म-सम्मान प्राप्त कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि मनोचिकित्सा का ध्येय व्यक्तित्व की उलझनों को दूर कर व्यक्ति को सामाजिक वातावरण में अभियोजन (Adjustment) में सहायता पहुँचाना

है। इसी को और भी स्पष्ट करने के लिए हम थोड़े शब्दों मे यह कह सकते हैं कि इसका ध्येय व्यक्ति की प्रसन्नता और सामाजिक अभियोजनशीलता को प्राप्त करने के साधनों को उपलब्ध करने मे सहायक होना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक चिकित्सा का ध्येय असामान्य व्यक्तियो को सामाजिक प्राणी बनाना मात्र है।

मनोचिकित्सक कैसा हो ?

अब हमारे सामने प्रश्न चिकित्सक के अपेक्षित गुणो के सम्बन्ध मे है। यह प्रश्न भी साधारण महत्त्व का नहीं है; क्योंकि सभी व्यक्ति मनोचिकित्सक न तो हैं और न बन ही सकते हैं। हाँ, मनोविज्ञान का अध्ययन कोई भी कर सकता है। लेकिन, यह निर्विवाद है कि मनोविज्ञान का अध्ययन मात्र ही मनोचिकित्सक होने के लिए पर्याप्त नहीं है। जिस प्रकार शिक्षक की कला मे निपुण होने के लिए उच्च शिक्षा का प्राप्त करना ही नहीं अपितु, और कई बाते भी आवश्यक होती हैं, उसी प्रकार मनोचिकित्सक होने के लिए भी व्यक्ति मे कई गुणो का होना अनिवार्य है।

अगर हम इस पर गंभीरतया विचार करे तो मालूम होगा कि मनोचिकित्सक के लिए सबसे प्रमुख और महत्त्व की जो चीज है वह उसका व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व की छाप समाज या किसी व्यक्ति पर क्या पड़ती है इसके सम्बन्ध मे विशेष कहने की आवश्यकता नही है; क्योंकि पाठक अपने दैनिक जीवन मे इसकी महत्ता निरंतर ही देखते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, विभिन्न मानसिक संघर्षों के फलस्वरूप ही तरह-तरह की मानसिक व्याधियाँ या अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी उलझनें उत्पन्न होती हैं। अतएव प्रत्येक मनोचिकित्सक को मानसिक स्वास्थ्य नितांत आवश्यक है; क्योंकि जब तक वह मन से स्वस्थ नहीं रहेगा तब तक वह कदापि चिकित्सा करने मे सफल नहीं हो सकता है। उसे किसी प्रकार के पक्षपात और पूर्व विचारो से स्वतंत्र होना नितात आवश्यक है। उसका दृष्टिकोण सभी रोगियों के प्रति एक ही समान होना चाहिये ताकि वह निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह कार्य सम्पादित कर सके। उसके लिए यह जरूरी है कि वह अपने भावों और इच्छाओं को नियन्त्रित करने में समर्थ हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसका चरित्र भी इतना परिपक्व और उज्ज्वल होना चाहिये कि वह किसी प्रकार के संवेग से प्रवाहित होकर अपने आपको न खो बैठे। चिकित्सा करते समय प्रायः रोगियों की मनोवृत्ति चिकित्सक के प्रति प्यार और लैंगिक (Sexual) भावों की होती है, जैसा कि फ्रायड ने कई अवसरों पर अनुभव किया था। अतएव ऐसी सांसारिक

कमजोरियो से मनोचिकित्सक को स्वतंत्र और परे रहना आवश्यक है। इन दोषो से युक्त चिकित्सक को अपने कार्य में कदापि सफलता नहीं मिलती और जनता की मनोवृत्ति भी उसके प्रति अच्छी न रहने के कारण वह अविश्वास का पात्र बन जाता है।

प्रत्येक मनोचिकित्सक को अपने रोगियो के प्रति उदार और स्नेहयुक्त होना अपेक्षित है। प्रेम और उदारता के वशीभूत होकर रोगी चिकित्सक में विश्वास करते हैं और अपना पूर्ण सहयोग चिकित्सक को देते हैं जिससे उसे चिकित्सा करने मे काफी सहायता मिलती है। इतना ही नही, बल्कि चिकित्सक को प्रशिक्षित (Trained) होना भी जरूरी है ताकि वह इस विधि में पूर्ण दक्षता प्राप्त किया हो। इसके अभाव मे चिकित्सक का सफल होना संभव नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि चिकित्सक में उन सभी गुणों का होना आवश्यक है जो कि रोगियो का उसमे विश्वास जमाने में सहायक हों।

मनोचिकित्सा-प्रकार

संसूचन (Suggestion) :—ससूचन विधि से मानसिक रोगों का उपचार बहुत पुराने जमाने से प्रचलित है। यदि हम इस विधि के आविर्भाव और विकास के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि पाश्चात्य देशो के पादरी और भारतीय ऋषि-महर्षि तथा पण्डित इसका व्यवहार विभिन्न मानसिक बीमारियों को अच्छा करने मे करते थे। आज के भारतीय पण्डितो और ओझो की झाड़फूंक ससूचन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लेकिन, इस विधि का व्यवहार जिस उत्तमता और अधिकता के साथ जितना आज से कुछ वर्ष पहले मनोवैज्ञानिक जगत में हुआ था उतना कभी देखने मे नहीं आता। ससूचन विधि से किसी मानसिक रोगी को रोग से निर्मुक्त करने के लिये मनोचिकित्सक उसे तरह-तरह से ससूचित करता है और यह व्यक्त करता है कि उसकी व्याधि अच्छी हो रही है। इसका परिणाम रोगी के मन पर ऐसा पड़ता है कि वह वस्तुतः धीरे-धीरे व्याधि निर्मुक्त हो जाता है। इसी संसूचन का दूसरा पहलू आत्म-संसूचन (Auto suggestion) का है, जिसका पृष्ठपोषक कुए (Coue) था। वह अपने रोगियो को आत्म-संसूचन विधि से ही व्याधि निर्मुक्त होने के लिए प्रोत्साहित करता था। उसके सभी रोगी प्रतिदिन दिन और रात दोनों कालों में बीस-बीस बार एक ही सूत्र की पुनरावृत्ति करते थे। उस सूत्र का मूल आशय था, 'मै दिन प्रति दिन हर तरह से अच्छा हो रहा हूँ'। सचमुच इस

सूत्र का चमत्कार रोगियों को चंगा करने में उसके समय अत्यधिक था। बाद में भी मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए इसे अन्य विद्वनों ने अपनाया। यदि हम इसके महत्त्व पर विचार करे तो ज्ञात होगा कि किसी न किसी रूप में सभी चिकित्सा-विधियों में संसूचन चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो अवश्य ही मौजूद रहता है। आज भी रोगी जिस चिकित्सक की योग्यता और कौशल में विश्वास करता है उसी की चिकित्सा से अच्छा होता है। झाड़-फूँक की सार्थकता इसी पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि अन्ततोगत्वा पर-संसूचन भी आत्म-संसूचन हो जाता है। जब तक स्वयं रोगी अपने को संसूचित नहीं करता तब तक उसे कुछ भी लाभ नहीं होता। वस्तुतः इस विधि का व्यवहार करना बहुत आसान है और किसी काल और स्थान मे भी इसको काम में लाना संभव है। लेकिन, इतना होते हुए भी इसमें कई प्रकार के दोप हैं, जिनके कारण इसका प्रचलन उतना नहीं है जितना कि पहले था।

इसके दोषों पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि यद्यपि इसकी उपादेयता कई स्थलो पर देखी जाती है। लेकिन, इस विधि के द्वारा कोई मानसिक रोग समूल नष्ट नहीं होता; क्योंकि चिकित्सक रोग के कारणों को जानने का प्रयास नहीं करता, अपितु वाह्य लक्षणों को ही ससूचन के द्वारा दूर करता है। इसका फल यह होता है कि कारण हमारे अज्ञात मन से नष्ट नहीं होता। इतना ही नहीं; बल्कि रोग से छुटकारा भी स्थायी नहीं होता और पुनः कुछ दिनो के बाद रोगी उसी रोग का शिकार बन जाता है अथवा कभी कभी अन्य रोगो के लक्षण भी पहले लक्षणो के स्थान मे आविर्भूत हो जाते हैं। इस विधि के व्यवहार से मनोस्नायुविकृतियो (Psychoneuroses) को लाभ तो अवश्य होता है; किन्तु रोगी परावलम्बी स्वभाव का बन जाता है। उसकी इच्छाशक्ति इतनी निर्बल हो जाती है और व्यक्तित्व इतना कमजोर हो जाता है कि किसी प्रकार के कार्य के लिए वह परमुखापेक्षी बन जाता है। अतः पग-पग पर उसे मार्गोपदेशन (Guidance) की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसकी उपादेयता स्थायी और सर्वांग सुन्दर नहीं कही जा सकती है।

सम्मोहन (Hypnosis)—शार्को (Charcot) प्रभृति विद्वानों ने मनोस्नायुविकृतियों की चिकित्सा सम्मोहन विधि से करना प्रारम्भ किया और इसका बोलबाला भी बहुत दिनो तक रहा। यह एक प्रकार की कृत्रिम समाधि (Trance) की अवस्था है, जिसमें प्रयोज्य (Subject) का मन पूर्णतः अचेतन रहता है। कुछ विद्वानो ने इसे भ्रमवश कृत्रिम निद्रा

अथवा अन्य नामों से भी अभिव्यक्त किया है। लेकिन, हम इसकी विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख न करके इतना ही कहना आवश्यक समझते हैं कि यह चिकित्सा की वह विधि है जिससे रोगी को संसूचन के द्वारा अचेतन बना दिया जाता है।

रोगी मे इस अवस्था को लाने के लिए उसे एक आराम कुर्सी पर बैठा कर पूर्णतः शिथिल होने का आदेश दिया जाता है। तत्पश्चात उसे किसी उत्तेजना विशेष पर ध्यान लगाने को कहा जाता है, यथा, किसी चीज को ध्यानपूर्वक देखना या किसी ध्वनि को सुनना। पुनः उसे प्रयोक्ता (Experimenter or hypnotizer) तरह-तरह के ऐसे संसूचनों (Suggestions) को देता है कि रोगी वस्तुतः अचेत हो जाता है। अधिकांशतः संसूचन निम्नांकित प्रकार के ही रहते हैं, जिनकी पुनरावृत्ति की जाती है। "आप की पलकें नींद के मारे झपकी ले रही हैं", "आप सो रहे हैं", "आप तो बिलकुल सो गये," आदि।

जब प्रयोक्ता को यह मालूम हो जाता है कि रोगी उसकी इच्छानुसार अचेतन हो गया तब वह सम्मोहन की अवस्था की परीक्षा करता है, ताकि किसी प्रकार की कार्यवाही मे अशुद्धि न हो जाय। इसके लिए वह सम्मोहित व्यक्ति से कहता है कि "आप तो इतनी गाढ़ी निद्रा मे सो गये हैं कि आप अपनी आँखों को खोल नहीं सकते"। इसके बाद वह उसे आँखों को खोलने का आदेश देता है; लेकिन पहले संसूचन का असर इतना बलिष्ट होता है कि कोशिश करने पर भी सम्मोहित व्यक्ति अपनी पलकों को उठाने में असमर्थ रहता है। तब पुनः प्रयोक्ता उससे कहता है कि "आपकी दाहिनी भुजा तो इतनी शून्य हो गयी है कि कुछ चुभाने पर भी नहीं मालूम होगा"। इसके बाद वह पिन या सुई गड़ाता है, किन्तु सम्मोहित व्यक्ति किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं करता है। इसके बाद वह उसमें विभ्रम (Hallucination) आदि के व्यापारों की परीक्षा करता है और जब उसे यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि रोगी वस्तुतः सम्मोहित अवस्था में है तब वह रोगी को अपनी ऐसी गत अनुभूतियों को स्मरण करने का आदेश देता है, जिनकी याद रोगी को चेतनावस्था में नहीं रहती है। कभी-कभी रोगियो को ऐसी अनुभूतियो को सम्मोहनोत्तर स्मरण करने का भी आदेश प्रयोक्ता देता है। चेतनाचेतन किसी अवस्था मे भी भूली हुई स्मृतियों को स्मरण मात्र करने से रोगी को कुछ काल के लिए अपनी मानसिक व्याधि से निर्मुक्ति मिल जाती है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सम्मोहनावस्था के संसूचनों से रोगी

अपनी विगत स्मृतियों को अपनी चेतनावस्था में भी स्मरण करने में समर्थ होता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी व्याधि से निर्मुक्त होता है। इस विधि से हिस्टिरिया, अनिद्रा, मानसिक तनाव आदि रोगों को अत्यधिक लाभ पहुँचता है; लेकिन इतना होते हुए भी इसमें कई दोष हैं। इस विधि से व्याधि के ऊपरी लक्षण समाप्त हो जाते हैं; लेकिन जिस मानसिक कारण से रोग की उत्पत्ति होती है उस कारण का निर्मूल नहीं होता, इसलिए आराम स्थायी न होकर क्षणिक ही होता है। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा कुछ मनोस्नायु विकृतियों को ही लाभ होता है, सभी मानसिक व्याधियों को नहीं। इस विधि से सभी रोगियों की चिकित्सा भी नहीं हो सकती; क्योंकि सभी व्यक्तियों को सम्मोहित करना संभव नहीं होता। सम्मोहित तो वे ही व्यक्ति होते हैं जिनकी इच्छा सम्मोहित होने की रहती है।

सम्मोहित होने पर बहुत व्यक्ति सम्मोहन-कर्त्ता पर अनुचित कार्यों के अभियोग में न्यायालय में मुकदमा कर देते हैं। यद्यपि ऐसे मुकदमों की सुनवाई नहीं होती, तथापि ऐसी घटनाएँ चिकित्सक के लिए बहुत बुरी होती हैं। इतना ही नहीं; बल्कि इसके दोषों को व्यक्त करते हुए यहाँ तक कहा जाता है कि जिसको सम्मोहित किया जाता है उसकी इच्छा शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि वह परावलम्बन प्रवृत्ति का हो जाता है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि इस दिशा में कई प्रयोग किये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि इससे, जैसा कि लोगों का विचार है, रोगी को किसी प्रकार की क्षति नहीं होती। जैसा कि एरिकसन (Erickson) के प्रयोग से स्पष्ट है, कोई भी नैतिक बुद्धि का आदमी सम्मोहित अवस्था में अनुचित कार्यों को नहीं करता। इसलिए ऐसा अभियोग लगाना चिकित्सकों के लिए किसी प्रकार का अपमान जनक नहीं होता। तब इतना अवश्य है कि इसका व्यवहार बहुत सावधानी के साथ ऐसे ही रोगियों पर करना श्रेयस्कर है, जो इस विधि से चिकित्सा कराने के लिए समुत्सुक हों।

मनोविश्लेषण (Psychoanalysis) :—मनोविश्लेषण विज्ञान के जन्मदाता फ्रायड ने ही मनोस्नायुविकृतियों की चिकित्सा के लिए मनोविश्लेषण विधि को प्रचलित किया। लेकिन, इसके पहले कि हम इसका उल्लेख करें, यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि फ्रायड ने भी प्रारंभ में अपनी चिकित्सा में सम्मोहन विधि को ही आश्रय दिया। आगे जब उसे उसकी सीमाएँ मालूम हो गयीं तो उसने रोगियों के अचेतन मन को जानने और उनके कारणों को निर्मूल करने के लिए अपने मनोविश्लेषण में स्वतंत्र साहचर्य (Free Association) को आश्रय दिया और

उसकी यह विधि मनोविश्लेषण विधि से प्रसिद्ध हुई। तब से आज तक अनेक विद्वानों ने विभिन्न देशो में इस विधि से कितने मानसिक रोगियों को अच्छा किया है।

इसके द्वारा रोगी को अच्छा करने के लिए एक शान्त एवं अर्द्ध प्रकाशित कमरे में आराम कुर्सी पर आराम से बैठाया जाता है। चिकित्सक स्वयं रोगी के सिरहाने की ओर इस प्रकार एक दूसरे आसन पर बैठता है कि रोगी उसे देखने में समर्थ नहीं होता। तब चिकित्सक रोगी को स्वतंत्र-साहचर्य विधि के द्वारा स्वयं कुछ अपने सम्बन्ध में कहने का आदेश देता है। वह रोगी पर अपना इस प्रकार प्रभाव जमा लेता है और उसके प्रति इस तरह सहानुभूति प्रदर्शित करता है कि रोगी चिकित्सक में विश्वास करने लगता है। जब चिकित्सक रोगी को स्वतंत्रतापूर्वक अपने मन में आये हुए विचारों और गत अनुभूतियों को बिना किसी संकोच और लज्जा के व्यक्त करने को कहता है तो रोगी भी अपनी बातें कहना प्रारंभ कर देता है। यो तो उसकी बाते सुनने मे प्रत्यक्षतः सारहीन मालूम होती हैं; लेकिन उन्हीं की ओट में रोगी के रोग का रहस्य भी रहता है। चिकित्सक रोगी की बातों में किसी प्रकार का रोड़ा नहीं अटकाता; बल्कि उसे निर्बाध अपनी बातों को व्यक्त करने देता है। यदि किसी कारणवश रोगी को कुछ कहने में दिक्कत होती है तो मनोविश्लेषक उसकी मदद भी कर देता है। साधारण रोगी होने पर सप्ताह में तीन से चार दिन तक ही इस प्रकार स्वतंत्र-साहचर्य के द्वारा रोगी को अपनी बातो को कहने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है।

इसके दो पहलू होते हैं—प्रतिरोध (Resistence) तथा स्थानान्तरण (Transference)। प्रारंभ में प्रतिरोध की प्रधानता रहती है, इसलिए इस अवस्था में या तो रोगी के मन मे व्यक्त करने के लिए बिचार ही नहीं उत्पन्न होता या वह कुछ कहना ही नहीं चाहता है। यह अवस्था कुछ घण्टों से लेकर कई दिनों तक भी रह सकती है। स्थानान्तरण की अवस्था में जिसके निषेधात्मक (Negative) तथा धनात्मक (Positive) दो उपपहलू हैं रोगी विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है। पहली अवस्था में, वह मनोविश्लेषक को इस प्रकार घृणा की दृष्टि से देखता है कि वह उसके पास नियमित रूप से चिकित्सा कराने के लिए भी नही आता है। वह चिकित्सक को तरह-तरह के अपशब्दो से अपमानित करने का प्रयास करता है, लेकिन उसे अपने इस कारनामें की तनिक भी चेतना नही रहती है। उसकी यह अवस्था कई दिनों तक निरंतर बनी रहती है। इसके बाद दूसरे पहलू (धनात्मक) का आगमन होता है जब कि मनोविश्लेषक उसके प्रेम

का केन्द्र ही बन जाता है। जिस चिकित्सक को वह पहले घृणा करता था उसको इतना अधिक प्यार करने लगता है कि वह अपने को पूर्णतः मनो-विश्लेषक की मर्जी पर छोड़ देता है। इसी अवस्था में उसके रोग के लक्षण नष्ट हो जाते हैं और वह भी स्वस्थ हो जाता है। लेकिन, यह अवस्था चिकित्सक के लिए बहुत नाजुक होती है; क्योंकि रोगी से पिण्ड छुड़ाना साधारण कार्य नहीं रहता है। इसलिए इस परिस्थिति मे रोगी को वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान कराना जरूरी है ताकि वह अपने आप पर निर्भर रहने में समर्थ हो सके। यद्यपि ऐसा करने से रोगी अपनी परिस्थिति को क्रमशः समझ जाता है; तथापि उसको समझने मे बहुत समय लगता है। अतएव ऐसी परिस्थिति में चिकित्सक को बहुत ही धैर्य और सावधानी से काम लेना आवश्यक है।

समय की बचत के लिये अन्य मनोविश्लेषकों ने प्रतिरोध की हालत में एक उत्तेजक शब्द (Stimulus word) देने की व्यवस्था की है। उत्तेजना दे देने से रोगी अपनी गत स्मृतियों को स्मरण करने और उन्हें व्यक्त करने मे समर्थ होता है। विश्लेषक का कार्य उचित निर्देशन देना मात्र रह जाता है। कुछ चिकित्सक इस अवस्था मे मादक द्रव्यों का भी व्यवहार करते हैं, जिससे रोगी अपने सभी दुखों को कह सुनाता है। इसी प्रकार समय की बचत के लिए और भी साधनो का उपयोग किया जाता है; लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस विधि का उपयोग करने के लिए कई बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। रोगी को कुछ अंशों में बुद्धिमान तथा शिक्षित होना जरूरी है। इतना ही नही रोगी का चिकित्सक को सहयोग देना और रोग निमुक्त होने की उसकी इच्छा भी अपेक्षित है; क्योंकि ऐसा न रहने से इस विधि से चिकित्सा करना संभव नहीं है। रोगी की अवस्था भी ५० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये क्योंकि; अधिक आयु के रोगियो पर इसकी उपादेयता दृष्टिगोचर नहीं होती।

यह विधि मनोचिकित्सा के जगत मे एक नयी देन है। इसकी वैज्ञानिकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन, जिस प्रकार अन्य वैज्ञानिक विधियाँ प्रामाणिक हैं उस कोटि मे इसे रखना सर्वथा भ्रम मूलक है; क्योंकि चिकित्सा के लिए जो प्रदत्त (Data) इस विधि से संग्रहित किये जाते हैं या जिन अज्ञात कारणों को जाना जाता है उनकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है। इससे मनोविकृति विज्ञान की समस्याओं को समझने और सुलझाने मे चिकित्सकों को काफी प्रोत्साहन मिला है और हिस्टरिया तथा अन्य मनोस्नायुविकृतियों (Psychoneuroses) के लक्षणों को दूर करने

में जो चिकित्सकों को सफलता मिली है उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते ; लेकिन इतना होते हुए भी इसमें कई त्रुटियाँ विद्यमान हैं। मनोविकृतियो को अच्छा करने में यह विधि सार्थक सिद्ध नहीं हो सकी है। समय भी काफी लगता है, इसलिए रोगी और चिकित्सक दोनों को बहुत दिनों तक प्रतीक्षा की अवस्था में रहना पड़ता है। मनोविश्लेषको की संख्या नहीं के बराबर है, इसलिए जो इस विधि से चिकित्सा करते हैं वे रोगियों से काफी रुपया वसूल करते हैं। इस कारण इस विधि से धनी रोगी ही लाभान्वित होते है, दरिद्र रोगी नहीं। इस अंश मे हम कह सकते हैं कि यह विधि सर्वव्यापक नहीं है और जब तक मनोविश्लेषक उदारता से काम नहीं लेंगे तब तक इससे गरीब रोगियो को न तो कोई फायदा हो सकता है और न यह विधि सर्वव्यापक ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त भी, जैसा कि पहले ही स्थल-विशेष पर व्यक्त किया जा चुका है, इसका व्यवहार ५० वर्ष तक की आयु के रोगियो पर ही होता है। अधिक उम्रवाले रोगियों को इससे लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता है।

पुनर्शिक्षण (Re-education) :—जितनी प्रकार की मनो-चिकित्सा की विधियाँ हैं उनमें से कई ऐसी हैं जिन्हें हम बहुत ही प्रशस्त अर्थ मे पुनर्शिक्षण कह सकते हैं। उनका एक मात्र ध्येय रोगियो की कठिनाइयो को दूर कर उन्हे वातावरण के अनुरूप अभियोजन कराना है, जो मार्गोपदेशन या शिक्षा द्वारा ही संभव है। वस्तुतः पुनर्शिक्षण के द्वारा हम उन व्यक्तियों को जो अपने व्यवहारों और सवेगों को नियंत्रित करने मे असमर्थ हैं उचित सलाह और मार्गोपदेशन देते हैं ताकि वे अपने व्यवहारों एव संवेगों का नियंत्रण कर सकें। इसी को थोड़े शब्दों मे हम कह सकते हैं कि किसी रोगी को आत्म-नियत्रण अथवा संवेग-नियंत्रण के लिये उचित सलाह देना या मार्गोपदेशन करना ही पुनर्शिक्षण है। इसके द्वारा चिकित्सक अपने रोगी को वातावरण मे अभियोजित करने के लिये उचित शिक्षा अथवा सलाह देता है।

पुनर्शिक्षण का एक मात्र ध्येय मानसिक रोगी मे आत्मविश्वास उत्पन्न करना है। जब कभी चिकित्सक ऐसा करने मे अपने को असफल पाता है तब वह उसमे किसी समुदाय, व्यक्ति-विशेष अथवा किसी ऐसी शक्ति मे विश्वास उत्पन्न कराता है जिससे कि वह अपने को सुरक्षित समझे। जब मनुष्य अपनी शक्तियो और अपनी कमियों को समझ जाता है तब उसमें इतनी पर्याप्त सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को हल करने और विभिन्न परिस्थितियों में अभियोजित करने मे सफल होता है। लेकिन

जिस रोगी में आत्मविश्वास का आविर्भाव नहीं होता उसकी मनोचिकित्सा की प्रणाली परिवर्तित कर दी जाती है। मानसिक रोगी, जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, अपनी समस्या को सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पाकर किसी बाहरी शक्ति की सहायता में विश्वास करता है। उसके विश्वास करने का कारण यह होता है कि वह जिस समस्या को स्वयं हल करने में असमर्थ रहता है, वह यह समझता है कि उस बाहरी शक्ति की सहायता से उसे वह हल करने में सफल होगा और इससे उसका जीवन सुरक्षित एवं संतुलित रहेगा। ऐसे रोगी प्रोत्साहन, ससूचन, नैतिक शिक्षा आदि के सहारे अभियोजित करने में समर्थ होते हैं। ऐसे रोगियों का, किसी समूह के सदस्य होने से भी, संतोष-जनक अभियोजन होता है। मनोस्नायुविकृत रोगी स्वयं यह जानने के योग्य नहीं होता कि वह अपनी शक्तियों में विश्वास करे या किसी बाहरी शक्ति में विश्वास करे। इसलिये मनोचिकित्सक के लिये यह आवश्यक है कि वह रोगी की शक्तियों का अध्ययन अच्छी तरह करके ही उसे आत्मविश्वास या बाह्यशक्ति में विश्वास करने के लिये निर्देशित एवं प्रोत्साहित करे।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि मनोचिकित्सक के लिये यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि किस रोगी को किस प्रकार का पुनर्शिक्षण अपेक्षित है। रोगी के बहुत ही दृढ़ या निर्बल व्यक्तित्व के रहने पर चिकित्सक को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है; लेकिन ऐसे व्यक्तित्व के रोगी बहुत ही कम मिलते हैं। अधिकाश रोगी ऐसे होते हैं जो न तो दृढ कहे जा सकते और न निर्बल ही। इसलिए इस विधि में मनोचिकित्सक की दिक्कतें कुछ बढ़ जाती हैं। हाँ, कुछ मनोचिकित्सकों में इतनी विलक्षणता होती है कि वे रोगी को देखते ही उसकी कठिनाइयों को समझ जाते हैं और उसे उचित मार्गोपदेशन द्वारा रोग निर्मुक्त कर देते हैं; लेकिन यह विलक्षणता किसी प्रकार के प्रशिक्षण के फलस्वरूप नहीं होती; बल्कि चिकित्सा करते-करते अनुभव के आधार पर होती है। चिकित्सक की यह विलक्षणता कितने प्रयत्न और भूलों के फलस्वरूप होती है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। इस प्रकार पुनर्शिक्षण विधि की निपुणता और सफलता प्रशिक्षण पर नहीं; बल्कि चिरकालीन अनुभव पर निर्भर करती है। इसलिए इस विधि को अपनाने के लिए किसी को प्रशिक्षित करना सरल कार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त इस विधि की उपादेयता मनोस्नायुविकृत रोगियों पर ही देखी जाती है, मनोविकृत रोगियों (Psychotics) पर नहीं। इस सम्बन्ध में फ्रेंज (Franz) का कहना है कि यह विधि मनोविकृतियों पर भी लाभप्रद प्रमाणित हो सकती है।

लेकिन, इससे लाभ उसी रोगी को हो सकता है जो अपनी कठिनाई को समझने में समर्थ है और जिसे इतना ज्ञान है कि वह अन्य सामान्य व्यक्तियो से भिन्न है। इतना ही नहीं बल्कि, इस भिन्नता को दूर करने की उसमे उत्कट इच्छा का होना भी निहायत जरूरी है। अपनी कठिनाई को दूर करने के लिये उसे अपनी शक्तियो मे विश्वास करना जरूरी है ही। साथ-साथ उसे मनोचिकित्सक की योग्यता में भी अत्यधिक विश्वास होना आवश्यक है। जब रोगी और चिकित्सक दोनो मिलकर किसी कठिनाई-विशेष को सुलझाने का प्रयास करें तभी किसी मनोविकृति को इस विधि से लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। किंतु ऐसा होना बहुत ही कठिन है; क्योंकि जब तक रोगी रोगग्रस्त रहता है तब तक वह पूर्ण सहयोग देने मे असमर्थ रहता है। इस प्रकार इस विधि से मनोस्नायुविकृति के रोगियों को ही लाभ पहुँचता है, मनोविकृतियो से पीड़ित रोगियो को नहीं। लेकिन, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि इस सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का कहना है कि यदि इस विधि का समुचित रूप से उपयोग किया जाय तो मनोविकृतियो को निमूर्ल करने मे भी यह विधि अत्यधिक लाभप्रद प्रमाणित हो सकती है।

निद्रा (Sleep):—कुछ मनोचिकित्सको ने मानसिक रोगियो की उलझनो को सुलझाने के लिये निद्रा-चिकित्सा-विधि का आश्रय लिया है। किसी मानसिक रोगी की उलझनों को सुलझाने के लिये चिकित्सक रोगी को शामक औषधि द्वारा कृत्रिम निद्रा मे कई दिनो तक सुला देता है। उसे खिलाने के लिये या तो उसकी नींद भंग करता है या इंजेक्शन के द्वारा उसे खिलाने का प्रबन्ध करता है। इसके बाद निद्रा-भंग होने पर रोगी को लाभ मालूम होता है। इस विधि का उद्‌घाटन क्लेसी (Klaesi) ने सन् १९२२ ई० में किया और ब्लेकवेन (Bleckwenn) ने इसका व्यवहार सन् १९३० ई० में मनोविकृतियो से पीड़ित रोगियों पर किया जिसमें उसे काफी सफलता मिली। लेकिन, इस विधि का व्यवहार करने के लिये रोगियों को इतनी देख-भाल की आवश्यकता होती है कि इसका व्यवहार सभी संस्थाओ में संभव नहीं है। जहाँ देख-भाल करनेवालो की कमी नहीं है वहाँ इसका व्यवहार सरलता-पूर्वक किया जा सकता है। गत महायुद्ध के पीड़ित सैनिकों पर भी सन् १९४० ई० मे इसका व्यवहार सार्जेंट (Sargent) तथा स्लाटर (Slater) ने किया और रोगियो को अच्छा करने मे उन्हे पर्याप्त सफलता मिली।

इसकी सफलता का रहस्य यह है कि जब किसी रोगी को किसी प्रकार का आघातजन्य अनुभव होता है तो उसकी कृत्रिम निद्रा उसके उस अनुभव को भूलने मे सहायक होती है और इसके परिणामस्वरूप निद्रोपरांत वह व्याधि

निमुक्त हो जाता है। इस कथन की पुष्टि हेस्टिंग्स (Hastings), राइट (Wright) तथा ग्लुएक (Glueck) ने भी सन् १६४४ ई० में की। यद्यपि इस चिकित्सा-विधि से रोगियो को काफी लाभ होता है और मनोचिकित्सकों ने इसकी उपादेयता प्रमाणित कर दी है, तथापि यह विधि अभी कुछ विद्वानों द्वारा संशय की दृष्टि से देखी जाती है। ऐसे प्रयोगात्मक प्रमाणों की कमी नहीं है जो इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि किसी अनुभव को प्राप्त करने के बाद की निद्रा उसकी धारणा मे अधिक सहायक होती है। अतएव अभी इस दिशा मे अन्वेषण की आवश्यकता है, तभी विद्वानों का संशय दूर किया जा सकता है।

विश्राम-विधि (Relaxation):—मानसिक व्याधियो तथा अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी उलझनों को दूर करने के लिये विश्राम-विधि की उपादेयता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस विधि पर वेयर मिचेल (Weir mitchell) तथा जैने ने काफी जोर दिया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, जब कोई मनुष्य वाह्य विश्व के वातावरण में अपने आपको अभियोजित करने मे असमर्थ पाता है तो वह कई शारीरिक और मानसिक लक्षणों का शिकार बन जाता है। ऐसे लक्षणों को विकसित करने का अभिप्राय इनके द्वारा अपने को वास्तविक कष्टों और दुखो से बचाना रहता है। इसलिये जब किसी मानसिक रोगी की चिकित्सा किसी विधि से की जाती हैं तो वह चिकित्सा उसके लिए दण्डस्वरूप ही होती है। यही कारण है कि चिकित्सा के दण्ड से निमुक्त होने के लिए रोगी पुनः वातावरण के प्रति अपना अभियोजन करता है और उसके रोगो के लक्षण नष्ट हो जाते हैं।

इस विधि से चिकित्सक रोगी के आराम की समुचित व्यवस्था करता है। उसे एकान्त में रखता है और उसे अन्य लोगो से वार्तालाप नहीं करने देता है। उसके शारीरिक पोषण तथा आराम पर काफी ध्यान दिया जाता है, तब चिकित्सक उसे पुनरभियोजन के लिए प्रोत्साहित एवं संसूचित करता है। परिणामतः रोगी वास्तविक जगत में अभियोजन करने मे समर्थ होता है और उसके सभी लक्षण निर्मूल हो जाते हैं। जिन मानसिक रोगों की उत्पत्ति परिश्रान्ति (Fatigue), कार्यभार (Pressure of work), संवेगात्मक आघात (Emotional shock) आदि कारणों से होती है उन रोगों को निर्मूल करने मे विश्राम-चिकित्सा-विधि अवश्य ही सफल होती है। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी स्थलों और सभी रोगियो पर यह विधि लाभप्रद प्रमाणित होती है। इस विधि की सफलता के

लिए कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि विश्राम का अभिप्राय यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि रोगी को निरंतर बिस्तरे पर लेटने के लिए विवश किया जाय। इसका मतलब यह है कि रोगी जिस वातावरण में रहे उस वातावरण को इतना सरल बना दिया जाय कि उसमे रहने में उसे किसी प्रकार का परिश्रम न करना पड़े और न उसे किसी प्रकार की कठिनाई का ही अनुभव हो। जहाँ तक सभव हो मनोचिकित्सक को परिस्थिति की विषमताओं को हटा देना चाहिये, ताकि रोगी को किसी तरह की परेशानी न उठानी पड़े। साथ ही, रोगी की समस्याओं को, जहाँ तक सभव हो वहाँ तक चिकित्सक को स्वयं, हल कर देना अपेक्षित है ताकि उसपर किसी तरह का जोर न पड़े और वह परिश्रान्ति, संवेग आदि का शिकार न हो सके। उसके उत्तरदायित्वो को कम कर देना भी आवश्यक रहता है। इन अंगो को नियंत्रित कर देने पर रोगी अवश्य ही वास्तविकता के प्रति अपने को अभियोजित करने में सफल होता है। लेकिन, इसका व्यवहार सभी नहीं कर सकते। अतएव इस विधि को अपनाते वक्त मनोचिकित्सक को सावधानी से काम लेना विशेष कल्याणकर है। इसके अतिरिक्त रोगी का व्यक्ति-इतिहास (Case-History) जानकर ही इसका व्यवहार करना लाभप्रद है ; क्योंकि जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, सभी प्रकार के रोगियो पर इसका व्यवहार सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। अतएव रोग के कारण को जानकर इसका व्यवहार करना श्रेयस्कर है।

आघात-चिकित्सा (Shock therapy) :—मानसिक रोगियों की चिकित्सा के लिये आघात का व्यवहार बहुत दिनो से चला आता है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि जिस प्रकार कोई आदमी किसी प्रकार के आघात से मानसिक रोग का शिकार हो सकता है, उसी प्रकार मानसिक रोगी को आघात देना उसे सामान्य बनाने मे सहायक हो सकता है। इसीलिए आघात चिकित्सा का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता भी है; लेकिन उसका रूप आज जैसा नहीं है।

आधुनिक काल मे इस विधि को मनोचिकित्सको ने मनोविकृतियो से पीड़ित रोगियों पर विशेष रूप से अपनाया है और उन्हें अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता भी मिली है। सोलोमन (Soloman), काफमैन (Kaufman) तथा डी' इल्सियाक्स (D'Elseaux) ने सन् १६३१ ई० में मनोविदलता के रोगियो को आक्सीजन और कार्बन-डी-आक्साइड के मिश्रण को विवशतः सुँघाकर आघात-विधि से चिकित्सा की। इस आघात से

रोगियों को लाभ हुआ ; किन्तु यह लाभ स्थायी नहीं था। ज्यो-ज्यो आघात का प्रभाव घटता गया त्यो-त्यों रोगियो की सुधरी हुई अवस्था मे गड़बड़ी आती गयी।

सन् १९३५ ई० में सेकेल (Sakel) ने उपर्युक्त आघात-प्रणाली के दोषों से दूर होने के लिये इनसलिन-आघात-प्रणाली को अपनाया। खुराक से अधिक इनसलिन (Insulin) की सुई देने पर रोगी बेहोश हो जाता है और पुनः शक्कर देने पर वह चेतना में आता है। सेकेल ने इनसलिन-आघात के द्वारा ८८ प्र० श० मनोविदलता के रोगियों (Schizophrenics) को अच्छा किया है। लेकिन, ग्लुएक (Glueck) ने सिर्फ ५५ प्र० श० रोगियों पर सफलता की सूचना सन् १९४६ ई० मे प्रकाशित की है। आघात प्रतिदिन दिया जाता है और पन्द्रह आघातो से लेकर पचास-साठ आघात तक रोगी को देने पड़ते हैं। अगर रोग नये रहे तो कुछ ही आघातों मे वे निर्मूल हो जाते हैं।

सेकेल की तरह मेडुना (Meduna) ने भी कर्पूर तथा मेट्राजॉल के द्वारा आघात देकर मनोविदलता के रोगियों को अच्छा किया है। इन औषधियो की सुई देकर रोगी को आघात पहुँचाया जाता है और वह अचेतन हो जाता है। अपने शरीर के अंग-प्रत्यंगों को वह इतना ऐंठता है कि कभी-कभी उसकी हड्डियो को भी क्षति पहुँचती है। इसलिये इस भयावह परिस्थिति से बचने के लिये इसके साथ ऐसी औषधि मिला दी जाती है जिससे अग शून्य हो जाते हैं और वे इधर-उधर नही घूमते। इसमे दूसरा दोष यह है कि रोगी अत्यधिक भयभीत हो जाते हैं और वे इस विधि से चिकित्सा कराने के लिये तैयार नही होते।

उपर्युक्त कारणों से आजकल विद्युत - आघात - प्रणाली का आश्रय अधिक लिया जाता है। विद्युत्-आघात मेट्रोजॉल की तरह खतरनाक प्रमाणित नहीं होता और संवेगात्मक उपद्रवों मे अत्यधिक लाभप्रद भी होता है। यद्यपि कुछ अशों मे यह आघात मेट्रोजॉल से श्रेयस्कर है; लेकिन इनसलिन के सामने इसका महत्त्व कम हो जाता है। विद्युत-आघात द्वारा श्री एच० पी० मैती साहब ने भी मनोविकृति के रोगियों को अच्छा करने मे दक्षता प्राप्त की है। यदि इस विधि को भारतीय मनोचिकित्सक अपनावें तो मनो-रोगियों की अवस्था मे सुधार होना सभव है।

शल्य-चिकित्सा (Surgical therapy):—यों तो मानसिक रोगियो की चिकित्सा के लिए प्रारंभ से ही चिकित्सकों ने प्रयास किया है; लेकिन मनोविकृतियो को निर्मूल करने के लिए कुछ विद्वानो ने शल्य- चिकित्सा-

विधि का आश्रय आधुनिक युग मे सफलतापूर्वक लिया है। इस विधि से मस्तिष्क का आपरेशन करके मस्तिष्कस्थित श्वेतमज्जा (Thalamus) का सम्बन्ध पूर्वअग्रिमवाह्यावरण (Prefrontal Cortex) से अलग कर दिया जाता है और रोगी अपने रोग से निमुक्त हो जाता है। इस विधि का व्यवहार उन्हीं मनोविकृतियों को अच्छा करने के लिए होता है, जो साधारण चिकित्सा-विधियों से अच्छी नहीं होती हैं। अवसाद (Depression) और मनोविदलता के रोगियों को इससे काफी लाभ होता है; किंतु अन्य प्रकार के रोगियो को कोई फायदा इस विधि से नहीं होता। यो तो आपरेशन करने से बौद्धिक क्रियाओं मे किसी प्रकार की क्षति दृष्टिगोचर नहीं होती है; लेकिन व्यक्तित्व सम्बन्धी कई प्रकार के परिवर्तन देखने मे अवश्य आते हैं। मस्तिष्क-आघात से जो परिवर्तन संभव हैं वे सभी परिवर्तन इस विधि को अपनाने से देखने में आते हैं। ऐसा करने से रोगी झक्की हो जाता है और संवेगो को नियंत्रित करने में भी समर्थ नहीं होता। असामाजिक व्यवहारों को रोकना उसकी शक्ति से बाहर हो जाता है और किसी क्रिया को देर तक करने में भी वह समर्थ नहीं होता।

इसलिए इस सम्वन्ध में यह स्मरणीय है कि यदि रोगी अन्य उपायों से अच्छा हो सके तो कदापि इस विधि को अपनाना श्रेयस्कर नही है। यद्यपि आपरेशन करने मे जीवन का भय नहीं रहता; लेकिन इस आपरेशन से जो दोष आविर्भूत होते हैं वे हमेशा के लिए बने रह जाते हैं। अतएव एक दोष से वचने के लिए दूसरे दोषों को जन्म देना चिकित्सक के लिए कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

सामूहिक चिकित्सा (Group therapy):—द्वितीय महायुद्ध मे जब अधिकांश सैनिक विभिन्न मनोस्नायु-विकृतियों से पीड़ित हुए तो उनकी वैयक्तिक मनोचिकित्सा कठिन हो गयी; क्योंकि उस समय रोगियों की संख्या अत्यधिक और चिकित्सकों की संख्या अत्यल्प थी। इसलिए अधिकारियों ने सामूहिक चिकित्सा की आवश्यकता को महसूस किया और रोगी-सैनिको की चिकित्सा सामूहिक रूप से होने लगी। यह विधि सैनिको के लिए अधिक लाभप्रद भी प्रमाणित हुई, क्योकि प्रायः सभी सैनिको की आधार-भूमि (Back ground), लक्षण, रोग और समस्याएँ समान स्वरूप की ही थीं।

सामूहिक चिकित्सा-विधि को अपनाकर चिकित्सक दस से तीस समलिंगी रोगियों की चिकित्सा एक साथ करता है। ये रोगी एक समूह मे एकत्रित होकर अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में आपस में बातचीत करते

हैं। चिकित्सक ऐसे समय में एक नेता और निर्देशक का कार्य करता है। समय-समय पर वह रोगियों को अपनी समस्याओं को व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है और उन समस्याओं को अन्य रोगियो के समक्ष स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है। यदि कोई रोगी अपनी उलझनों को नहीं व्यक्त करता तो उसे वह व्यक्त करने के लिए निर्देशित एवं प्रोत्साहित करता है। वह रोगियों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी प्रोत्साहन देता है। फलतः सभी रोगी अपनी समस्याओं पर मिलकर विचार-विमर्श करते और जब उन्हें इसका ज्ञान हो जाता है कि हम जैसी समस्या हमारे अन्य साथियों को भी हैं तब उन्हें एक प्रकार की सन्तुष्टि होती है। रोगी इस का अच्छी तरह निरीक्षण करता है कि उसके अन्य साथी उसकी समस्याओं को किस प्रकार समझते हैं और वह स्वयं भी अन्य साथियों की उलझनों को विधेयात्मक दृष्टिकोण से समझने की कोशिश करता है। जब रोगी अपनी और दूसरों की समस्याओं को समझ लेता है तब उसमें आत्म-संतोष का भाव अंकुरित होता है और वह स्वय अपने सम्यक अभियोजन के लिए प्रयास करता है। उसमे सामाजिक असुरक्षा का जो भाव विकसित रहता है उससे वह निर्मुक्त हो जाता है और इस प्रकार उसमें सहनशीलता की शक्ति विकसित होती है। यह उसे अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि जो कठिनाइयाँ उसे हैं वैसी उसके अन्य साथियों को भी हैं, अतएव वह अन्य लोगो से बुरा कदापि नहीं है।

इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना उचित है कि सामूहिक चिकित्सा को सफल बनाने के लिए निपुण एव प्रशिक्षित मनोचिकित्सक का होना आवश्यक है। सप्ताह में तीन से चार बार प्रति दिन एक घण्टा की व्यवस्था अपेक्षित है। समूह को एकत्रित करके उस संगठन के ध्येय के सम्बन्ध मे यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इसका एकमात्र ध्येय रोगियों की समस्याओं को सुलझाना है। अतएव प्रत्येक रोगी अपनी उलझनो को दूसरों से व्यक्त करने और उनपर विचार करने के लिए स्वतंत्र है। इसके अतिरिक्त समूह से प्रत्येक रोगी का एकीकरण करा देना चिकित्सक का प्रधान कार्य है। इतना ही नहीं; बल्कि प्रत्येक रोगी के व्यक्ति-इतिहास और झझटों को जानना भी चिकित्सक के लिए आवश्यक है।

अब जहाँ तक इस चिकित्सा के गुणों का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध मे यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस विधि से बेचैनी, दोष-भाव तथा शत्रुता-भाव को आसानी से निर्मूल किया जाता है। इससे रोगी सामाजिक जीवन व्यतीत करने मे सफल होता है; क्योंकि अभियोजन करने मे उसे किसी प्रकार

की कठिनाई नहीं होती है। निःसंदेह इसकी उपादेयता स्नायुमनोविकृतियों को निर्मूल करने में देखी जाती है; लेकिन अभी तक यह कहना कठिन है कि इससे लाभ स्थायी होता है कि नहीं। इसलिए इस दिशा में अभी अन्वेषण की आवश्यकता है। लेकिन, सबसे बड़ा उपकार जो इस विधि से है वह एक साथ कई रोगियो की चिकित्सा करना है। इससे समय और शक्ति दोनो की बचत होती है।

संगीत-चिकित्सा (Music therapy) :—संगीत - चिकित्सा आधुनिक युग की देन है। अभी इस दिशा में पर्याप्त कार्य नहीं हो सका है, लेकिन बहुत-से चिकित्सको ने मनोरोगियो को अच्छा करने के लिए इसका आश्रय लिया है और कुछ अशों में उन्हें सफलता भी मिली है। यह हमारा दैनिक अनुभव है कि जब हम कोई गाना सुनते हैं तो उसके सुनने से ही हमारी कितनी स्मृतियाँ और सवेग जाग्रत हो जाते हैं। इसी प्रकार जब किसी मानसिक रोगी को संगीत सुनाया जाता है तो उसके सुनने से उसमें तरह-तरह के साहचर्य, कल्पनाएँ अनुजीवित हो जाती हैं और वह कुछ विश्राम की अनुभूति करता है। इस विधि के गुणो को, जैसा कि आल्टशुलर (Altshuler) ने कहा है, हम यह कहते हुए व्यक्त कर सकते हैं कि संगीत में रोगी के संवेगात्मक एवं बौद्धिक पहलुओं को उत्तेजित करने की शक्ति होती है। इसे सुनते ही रोगी का उमंग (Mood) परिवर्तित हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसके ध्यान को बुरे विचारों से हटाकर सुन्दर एवं स्वस्थ विचारों में लगाया जाता है। संगीत सुनने मात्र से रोगी के रक्त-चाप (Blood pressure), पाचन क्रिया (Metabolic Process) आदि कई प्रकार के शारीरिक परिवर्तन तो होते ही हैं साथ-ही-साथ उसके ध्यान-विस्तार (Span of Attention) मे भी वृद्धि आ जाती है और रोगी एक समय में कई आवश्यक कामों पर ध्यान देने में समर्थ होता है। इस विधि के इन गुणों को व्यक्त कर देने के बाद हम इतना और कह देना आवश्यक समझते हैं कि यदि सावधानी से काम लिया जाय तो वस्तुतः इससे रोगियो का अत्यधिक लाभ हो। अतएव इस दिशा मे अभी अधिक उहापोह करने की आवश्यकता है। संगीत के महत्व को भारतीय ऋषि-महर्षियों ने भी रोगनिराकरण मे स्वीकार किया है। आशा है, इसे आज का भारत मनोवैज्ञानिक ढग से शीघ्र ही अपनाने में समर्थ हो सकेगा।

व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational therapy) :—आजकल व्यवहार की विभिन्न असामान्यताओ को दूर करने के लिए रोगियों से तरह-तरह के काम कराये जाते हैं और इसी माध्यम से उनके रोगो की चिकित्सा हो जाती है। आज चिकित्सा-सम्बन्धी जितनी समृद्ध संस्थाएँ हैं

वहाँ चटाई बुनने, चमड़ा बनाने, लकड़ी का सामान बनाने, कपड़ा बनाने, आदि विभिन्न कामो को करने की व्यवस्था रहती है और जब मानसिक रोगी वहाँ जाते हैं तब उन कामो को कराकर उनकी चिकित्सा की जाती है। जब किसी रोगी को किसी कार्य विशेष को करने के लिए नियुक्त कर दिया जाता है तो उसका ध्यान उस कार्य मे लग जाता है और जिन सवेगो से वह घिरा रहता है, ध्यान न देने के कारण, उन्हे वह भूल जाता है। इसके फलस्वरूप उसकी असामान्यताएँ काम करते-करते निर्मूल हो जाती हैं। मुन्सी (Muncie) ने व्यावसायिक चिकित्सा की उपादेयता को व्यक्त करते हुए कहा है कि जब रोगी कार्य मे लगे रहते हैं तो उन्हे समय सामान्य रूप से व्यतीत होता हुआ मालूम होता है; लेकिन किसी प्रकार का काम न रहने से क्षण मात्र व्यतीत होना भी मुश्किल हो जाता है। मुन्सी का यह कथन पूर्णतः सत्य है, पाठक स्वयं इसका अनुभव कर सकते हैं कि वेकार समय किस प्रकार बोझ मालूम होता है। इतना ही नहीं; वल्कि जो शक्तियाँ रोगी मे रहती हैं उनको लगाने के लिए कार्य करने से प्रोत्साहन मिलता है और रोगी मे पूर्णता के भाव अंकुरित होते हैं। लेकिन, इस विधि को अपनाने के लिए यह ध्यान मे रखना जरूरी है कि जहाँ तक संभव हो वहाँ तक रोगियों से सामूहिक कार्य कराया जाय; क्योंकि ऐसी परिस्थिति से उनमे सहयोग, मैत्री, आदि के वांछित गुणों का आविर्भाव होता है।

ग्रन्थ-चिकित्सा (Bibliotherapy) :—कुछ विद्वानों ने बालको और नवयुवको की समस्याओ को सुलझाने और उनको उचित तरीके से मार्गोपदेशित करने के लिए विभिन्न श्रेणियो के ग्रन्थों की रचना की है। कर्चर (Kircher) ने विभिन्न आयु और समस्याओं के लिए विभिन्न ऐसे ग्रन्थों की रचना की है और मूर (Moore) ने उनका उपयोग भी सफलतापूर्वक किया है। जब कोई व्यक्ति किसी समस्या का शिकार होता है तो उसको पुस्तके पढने के लिए दे दी जाती हैं और इस प्रकार उसके अध्ययन के आधार पर चिकित्सक उसके व्यक्तित्व और समस्या के सम्बन्ध मे आवश्यक सूचनाएँ देता है। यद्यपि इस दिशा में अभी सतोष-प्रद कार्य नहीं हो सका है; लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि विद्वानों के प्रयास से इस दिशा मे शीघ्र ही उन्नति होगी और शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं को सुलझाने में इस विधि का अधिक-से-अधिक व्यवहार हो सकेगा। लेकिन, यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि इस विधि से सभी प्रकार के रोगी लाभान्वित नहीं हो सकते। इससे उपकार उन्ही बालकों या नवजवानों का होगा जो शिक्षित हैं। अशिक्षित व्यक्ति कदापि लाभान्वित नहीं हो सकते।

अतएव अभी इसमें ऐसे साधनो के सग्रह की आवश्यकता है जिससे अशिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं को भी सुलझाया जा सके और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनको समुचित सूचना दी जा सके।

मनो-अभिनय (Psycho-drama) :—मनो-अभिनय चिकित्सा को प्रचलित करने का श्रेय मोरेनो (Morenc, 1944) को है। यह विधि सामूहिक चिकित्सा विधि से मिलती जुलती है; लेकिन इसकी कार्य-प्रणाली उससे भिन्न है। सामूहिक चिकित्सा मे रोगी अपनी समस्याओं को समूह के सामने उपस्थित करके उस पर अपना विचार व्यक्त करते हैं; लेकिन इसमें रोगी अपने मनोनुकूल अपनी समस्याओं का अभिनय करते हैं। इस प्रकार करने से अपनी कल्पनाओ और समस्याओ को प्रकाशित करने का उन्हे सुन्दर अवसर मिलता है। यों तो अभिनय-कार्य रोगी अपनी इच्छा के अनुसार ही करते हैं; लेकिन आवश्यकता समझने पर मनोचिकित्सक उन्हें निर्देशित एवं प्रोत्साहित भी करता है। यद्यपि यह विधि अभी पूर्णतः विकसित नहीं हुई है; लेकिन ऐसी आशा की जाती है कि इसके विकास से कई प्रकार की व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओं और असामान्यताओं को नियन्त्रित एव निर्मूल किया जा सकता है। जैसा कि हम पहले ही व्यक्त कर चुके है, रोगियों का अभिनय अपने मनोनुकूल होता है। इसलिये उस अभिनय के माध्यम से वे अपनी समस्याओं और दूसरों के प्रति सवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का ही प्रदर्शन करते हैं। अतएव उनकी समस्याओ और असामान्यताओं का ज्ञान मनोचिकित्सक को हो जाता है और उनको वह उचित रूप से नियन्त्रित एवं निर्मूल करने में सफल होता है।

आगुलिक चित्रण-चिकित्सा (Fingure-Printing therapy) :— इस विधि का व्यवहार पहले पहल शा (shaw) ने सन् १६३४ ई० में किया। सन् १६४० ई० में मोस (Mosse) ने इसका व्यवहार मनोस्नायु-विकृतियों के प्रौढ़ रोगियों पर किया। सन् १६४१ ई० मे हार्म्स (Harms) ने भी इसका व्यवहार बालकों पर सफलतापूर्वक किया। आंगुलिक चित्रण द्वारा किसी के व्यक्तित्व को समझने के लिये पर्याप्त सामग्री मनोचिकित्सक को प्राप्त होती है। साथ ही, रोगियों की चिकित्सा करते समय चिकित्सक रोगियों को अपनी कल्पनाओ के प्रकाशन का काफी अवसर प्रदान करता है। वस्तुतः यह विधि कला अभिव्यंजन का ही एक पहलू है। जिस प्रकार विभिन्न चित्रकारियो और चित्रणों के द्वारा किसी व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त होता है उसी प्रकार आंगुलिक चित्रण द्वारा भी रोगियो के सवेग, उलझनो, आदि आवश्यक बातो की जानकारी चिकित्सक को होती

है। इसलिये उसे चिकित्सा करने में काफी मदद मिलती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस दिशा में भी अभी विशेष कार्य की आवश्यकता है तभी इसकी उपयोगिता चिकित्सा-क्षेत्र में बढ सकेगी।

इन विधियों के अतिरिक्त जल-चिकित्सा (Hydro therapy), ज्वर-चिकित्सा (Fever therapy), आदि कई चिकित्सा विधियाँ हैं, लेकिन उन सबका यहाँ उल्लेख करना सभव नहीं है। इस बात को भी हमे ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सभी प्रकार के रोगियों के लिये एक ही विधि को सर्वांगसुन्दर नही कहा जा सकता। इसलिये रोगी के रोग, लक्षण, कारण, व्यक्ति—इतिहास आदि की पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद ही सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार किसी विधि विशेष का व्यवहार करना श्रेयस्कर है। कहीं-कहीं कई विधियो का एक ही साथ आश्रय लेना भी मनोचिकित्सक के लिये अपेक्षित है। किसी विधि विशेष की उपादेयता रोगी, चिकित्सक तथा अन्य उपलब्ध सुविधाओं पर निर्भर करती है। इसलिए विधि विशेष का चुनाव अत्यधिक सावधानी से करना आवश्यक है।

बारहवाँ अध्याय

स्वप्न (Dream)

विषय-प्रवेश

वर्तमान युग मे स्वप्न हमारे अचेतन मन की गुत्थियों को सुलझाने और व्यक्तित्व-अध्ययन करने का एक प्रधान साधन है और आज सभी विद्वान इसमे अपनी अभिरुचि रखते हैं। लेकिन, फ्रायड के पहले स्वप्न का इतना वैज्ञानिक महत्त्व नहीं था। हाँ, इतना अवश्य था कि जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार का स्वप्न देखता था तो वह लोगो से उसके अभिप्राय को जानने की कोशिश करता था। इसके इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि यह हमारी सुपुप्तावस्था का एक काल्पनिक अनुभव है जिसका सम्बन्ध हमारे अचेतन मन से है। किंतु, इसके इस अचेतन स्वरूप की विशेषता पर विशेष ध्यान न देकर मानव-जाति इसके विभिन्न सार्थक पहलुओं मे अपनी अभिरुचि आदि काल से ही रखती आयी है। क्या पाश्चात्य और क्या प्राच्य सभी देशो के विद्वान इस अचेतन मानसिक अनुभव को जानने की कोशिश करते रहे हैं; किंतु उनके जानने का दृष्टिकोण विभिन्न रहा है।

प्राचीन काल मे जब कोई व्यक्ति स्वप्न देखता था तो वह यह समझता था कि उसको स्वप्न किसी दैवी शक्ति के कारण हुआ है। यदि उसका स्वप्न सुखद होता था तो वह उस दैवी शक्ति को प्रसन्न समझता था। अतः स्वयं भी खुश होता था; लेकिन बुरे स्वप्नों को देखने से उसे उस दैवी शक्ति की असतुष्टि का आभास मिलता था और वह उस शक्ति को तरह-तरह की पूजा-अर्चना के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा करता था। इस सम्बन्ध मे भारतीय मनीषियो का यह दृष्टिकोण था कि सोते समय आत्मा स्थूल शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म शरीर मे प्रवेश कर जो कुछ अनुभव करती है, वही स्वप्न है। किंतु, ज्यों-ज्यों समय व्यतीत हुआ त्यों-त्यों स्वप्न की व्याख्या परिवर्तित होती गयी और जब दैहिक-विज्ञानवेत्ताओं (Physiologists) का बोलबाला हुआ तो उन विद्वानों ने इसे दैहिक एवं भौतिक आधारों पर समझने की कोशिश की। अन्ततोगत्वा फ्रायड ने पहले की सभी विचार-धाराओ को अप्रामाणिक उद्घोषित करके इसके वैज्ञानिक अध्ययन और महत्त्व पर जोर दिया। तबसे आज तक इसका वैज्ञानिक अध्ययन होता आया है।

लेकिन, इस दिशा मे जो महत्त्वपूर्ण काम फ्रायड ने किया है उतना महत्त्व अन्य किसी विद्वान को प्राप्त नहीं हुआ है। फ्रायड तथा उसके अनुयायियो के कार्यों का स्थल-विशेष पर उल्लेख किया जायेगा। अतएव यहाँ हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि स्वप्न सुषुप्तावस्था का मानसिक अनुभव है, जिसका सम्बन्ध इसकी अचेतनावस्था से है। प्रायः कुछ दिन पहले कुछ लोगो का ऐसा विश्वास था कि यह अनुभव असामान्य व्यक्ति के मन की उपज है; लेकिन अब यह विचार दोषपूर्ण प्रमाणित हो चुका है और अब सभी लोग इसे स्वीकार करते हैं कि सामान्य और असामान्य सभी प्रकार के लोग स्वप्नो का अनुभव करते हैं। हाँ, सभी स्वप्न किसी को याद नहीं रहते। इसीलिए जगने पर उनके सम्बन्ध में कुछ भी याद नहीं रह जाता है और हम लोग समझते हैं कि हम नित्य-प्रति स्वप्न नही देखते, बल्कि कभी-कभी देखते हैं।

स्वप्न की विशेषताएँ

स्वप्न के स्वरूप के सम्यक ज्ञान के लिए इसकी विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। आत्म अनुभवों और इस विषय के अध्ययन के आधार पर इसकी विशेषता के प्रसंग मे यह कहना उचित प्रतीत होता है कि स्वप्न सांकेतिक (Symbolical) होते हैं। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि हम स्वप्न में जो कुछ भी देखते हैं उससे उसका अर्थ भिन्न होता है, जो स्वप्न-विश्लेषण के द्वारा जाना जाता है। प्रायः हम जो कुछ भी स्वप्न में देखते हैं वह बहुत ही अतार्किक (Illogical) वेढंगा अथवा निरर्थक मालूम होता है; किन्तु जब हम उसका विश्लेषण कराते हैं तो वही स्वप्न निरर्थक न रह कर सार्थक प्रतीत होने लगता है। यहाँ इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि स्वप्न सांकेतिक क्यों होते हैं? इसका उत्तर स्थल विशेष पर दिया जायगा। संक्षेप में, अचेतन मन को चेतन मन के प्रतिबन्ध (Censor) का बराबर डर बना रहता है। इसलिए वह अपनी इच्छाओ की संतृप्ति प्रत्यक्ष रूप से न कर अप्रत्यक्ष रूप से प्रतीकों (Symbols) के द्वारा करता है। इसीलिए सभी स्वप्न सांकेतिक होते हैं और जो कुछ हम स्वप्न मे अनुभव करते हैं उसका अर्थ उससे भिन्न होता है।

स्वप्न की दूसरी विशेषता इसका विभ्रमात्मक (Hallucinatory) स्वरूप का होना है। जब हम स्वप्न देखते हैं तो उस समय उसकी वास्तविकता पर हमे पूर्ण विश्वास रहता है। अच्छे स्वप्न देखने पर लोग प्रसन्न और दुखद तथा भयावह स्वप्नो को देखने से दुखी और भयभीत होते हैं। लेकिन, वस्तुतः

इन स्वप्नो का कोई विधेयात्मक (Objective) आधार नही होता। जिस प्रकार हमारे विभ्रम (Hallucinations) बिना किसी वाह्य-उत्तेजना के उत्पन्न होते हैं और हम क्षणमात्र के लिए उनकी वास्तविकता पर विश्वास करते हैं उसी प्रकार हमारे स्वप्न भी हमारे मानसिक जगत की देन हैं। अतएव हमारे स्वप्न विभ्रमात्मक स्वरूप के होते हैं।

स्वप्न आत्मगत (Subjective) तथा आत्मसम्बन्धित होते हैं। हम स्वप्न चाहे किसी प्रकार का क्यो न देखे, वह सदा आत्मगत स्वरूप का होता है। स्वप्नद्रष्टा के स्वप्नो की सत्ता वाह्यविश्व मे न होकर उसके मानस-क्षेत्र में होती है। वह जो कुछ अनुभव करता है उसका ज्ञान अन्य किसी व्यक्ति को नहीं होता, इसलिए सभी स्वप्नो को आत्मगत कहा जाता है। स्वप्न आत्म-सम्बन्धित इसीलिए कहे जाते हैं कि उनका सम्बन्ध सदा स्वप्नद्रष्टा से रहता है, चाहे देखते समय यह सम्बन्ध दूसरे से क्यो न मालूम होता हो। इस कथन की सत्यता स्वप्नो की व्याख्या से आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगी। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान युग मे स्वप्न पर जितने भी अन्वेषण हुए हैं वे सब इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि सभी स्वप्नो से हमारी किसी-न-किसी प्रकार की असंतुष्ट इच्छा संतुष्ट होती है। इसीलिए विद्वानो ने इसे इच्छा-पूर्ति का साधन व्यक्त किया है। हम आगे चलकर विभिन्न सिद्धान्तो की व्याख्या से देखेंगे कि स्पप्नों से हमारी अतृप्त इच्छाओ की संतुष्टि किस प्रकार होती है।

स्वप्न सत्यवादी होते हैं। स्वप्नद्रष्टा जो कुछ भी स्वप्न मे देखता है वह उसके लिए सत्य रहता है। स्वप्न के अनुभव भले ही असंगत या अरुचिकर हों; लेकिन वे स्वप्नद्रष्टा की आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करते हैं। यदि कोई पत्नी स्वप्न मे अपने पति की मृत्यु देखे या माता अपने प्रिय पुत्र का मृत शरीर देखे तो जगने पर उसका चेतन मन ऐसी इच्छा को भले स्वीकार न करे; लेकिन स्वप्न विश्लेषण करने पर तो उस वास्तविक अचेतन इच्छा का उद्घाटन हो ही जाता है। जिस प्रकार अचेतन मन वास्तविकता की उपेक्षा करता है उसी प्रकार स्वप्न भी वास्तविकता की उपेक्षा करते हुए स्वप्नद्रष्टा की वास्तविक इच्छा को व्यक्त कर देता है। संक्षेप मे स्वप्न सत्यवादी होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न की कुछ और विशेषताएँ भी व्यक्त की जा सकती हैं, लेकिन वे उतनी प्रधान नहीं हैं जितनी कि ऊपर की विशेषताएँ।

निद्रावधि तथा स्वप्न

यह प्रश्न विचारणीय है कि हमलोग स्वप्न जब तक सोते हैं तब तक देखते हैं या नींद के किसी भाग विशेष में ही देखते हैं। इस प्रश्न

का उत्तर देने के लिए कुछ विद्वानो ने प्रयत्न किया है और अपने प्रयास के फलस्वरूप उन्होंने इसका उत्तर भी दिया है; लेकिन उनके उत्तर का समर्थन निश्चयात्मक रूप से अभी तक नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का इस सम्बन्ध में ऐसा दृष्टिकोण है कि जब तक मनुष्य नींद मे रहता है तब तक स्वप्न देखता है; लेकिन उसके सभी स्वप्न याद नहीं रहते हैं, क्योंकि चेतना के अभाव मे सभी स्वप्नो का सस्कार मन पर नहीं रह जाता। इसलिए जब मनुष्य जगता है तो उसे एकाध स्वप्न याद रह जाते हैं और वह समझता है कि स्वप्न कभी-कभी ही दिखलाई पड़ते हैं। लेकिन, इस दिशा मे काल्किन्स (Calkins) तथा सैनफोर्ड (Sanford) ने जो संभव एवं व्यवस्थित अध्ययन किया है उसके आधार पर उनका कहना है कि चार बजे सुबह के बाद जब नींद हल्की रहती है, उस समय तीन-चौथाई स्वप्न दृष्टिगोचर होते हैं। इस अध्ययन का सारांश यह है कि स्वप्नो के देखने की अधिकता नींद के अन्तिम चरण मे रहती है। इस सम्बन्ध में बेरिएन (Berrien) का भी अध्ययन उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार नींद के पाँचवे और छठे घण्टों में स्वप्नों की पहले घण्टों की अपेक्षा अधिकता रहती है। इस निष्कर्ष के खण्डन कर्त्ताओ का कहना है कि जिन विद्वानों ने यह निष्कर्ष अपने अध्ययनों के आधार पर दिया है उनका यह निर्णय भी तो उनके जगने या प्रत्यावाहन की शक्ति पर ही आधारित है। वे अपने स्वप्नों को तभी अंकित कर सके जब कि वे सोकर उठे या स्वप्नो के चलते जब उनकी नीद टूट गयी। सभव है वे सभी स्वप्नों को देखते समय न जग सके हों या जगने पर सबको याद न कर सके हों। उनकी यह युक्ति कम तार्किक नहीं है। इसलिए इस सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक उत्तर न देकर यही कहा जा सकता है कि स्वप्नों की अधिकता निद्रावधि में जब भी रहती हो; लेकिन, जितना स्वप्न प्रत्यावाहित हो सके हैं उनके आधार पर यही युक्ति-संगत है कि नींद के अन्तिम चरण में स्वप्नों की अधिकता रहती है और उन्हीं का प्रत्यावाहन भी होता है।

स्वप्न-साधन (Materials of Dreams)

स्वप्न में किन उपकरणों की प्रचुरता रहती है, इसे जानने के लिए विद्वानों ने अन्तर्निरीक्षण तथा प्रश्नावलि पद्धतियों का आश्रय लिया है। इस दिशा मे हमे बेण्टले (Bentley) तथा उसके अनुयायियों के कार्य का उल्लेख मिलता है। उन विद्वानों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह व्यक्त किया है कि स्वप्न मे प्रतिमाओं (Images) की प्रधानता रहती है। ये

प्रतिमाएँ मुख्यतः दृष्ट्यात्मक (Visual) तथा ध्वन्यात्मक (Auditory) स्वरूप की होती हैं। दृष्ट्यात्मक प्रतिमाओ मे भी रंगीन प्रतिमाओ का अभाव-सा रहता है; किन्तु भूरी (Grey) प्रतिमाओ की प्रधानता रहती हैं। दुःखद स्वरूप के स्वप्न सुखद स्वरूप के स्वप्नों से दूने होते हैं। स्वप्न के समय बहुत ही कम अवसरो पर चिन्तन का प्रमाण मिलता है, वह भी किसी उपयोग का नही होता है। अन्य प्रकार की प्रतिमाओं का भी अध्ययन विद्वानो ने किया है, जिसका अध्ययन इस बात का साक्षी है कि स्वप्न मे अन्य प्रकार की प्रतिमाओं का भी अनुभव स्वप्नद्रष्टा को होता है; लेकिन उनकी पुनरावृति (Frequency) जाग्रतावस्था की ही तरह कम होती है। कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जो इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। लेकिन, सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार हमलोगों को जाग्रतावस्था मे दृष्ट्यात्मक और ध्वन्यात्मक प्रतिमाओ की बहुलता और अन्य प्रतिमाओ की कमी रहती है उसी प्रकार स्वप्न मे भी इन्ही दो प्रकार की प्रतिमाओ की अधिकता और अन्य प्रकारों की कमी रहती है। स्वप्नद्रष्टा रगीन प्रतिमाओ का अनुभव स्वप्न मे यदाकदा ही करता है।

यद्यपि प्रत्ययात्मक (Ideational) उपकरणो की अधिकता स्वप्न मे नहीं मिलती है; लेकिन इतना तो निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि स्वप्नावस्था मे इसका पूर्णतः अभाव भी नही रहता है। जिन गत अनुभवो को व्यक्ति सामान्यास्वस्था मे प्रत्यावाहित करने मे समर्थ नहीं होता उनका अनुभव भी वह स्वप्न में कर लेता है।

किमिन्स (Kimmins) ने जो अध्ययन इस दिशा मे किया है उससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न अवस्था के स्वप्न-उपकरणों में अन्तर होता है। बचपन के प्रारम्भ मे परियो की अधिकता रहती पर बचपन के अन्तिम चरण मे इच्छापूरक और भयावह स्वप्नो का बाहुल्य रहता है। किशोरावस्था के स्वप्नों में तरह-तरह के उपकरण दृष्टिगोचर होते हैं। स्वप्न पर सामाजिक और आर्थिक वातावरण का भी असर पड़ता है। दरिद्र परिवार के बच्चे भोजन और खिलौनो का अधिक स्वप्न देखते हैं। अपराधी बच्चों के स्वप्न सामान्य बच्चो के स्वप्नों से भिन्न होते हैं। कारागार का जीवन व्यतीत करनेवाले अपने को स्वप्नावस्था मे सदा निर्मुक्त वातावरण मे पाते हैं।

स्वप्न-प्रकार

मनुष्य जिन स्वप्नो को देखता है उनके स्वरूप के आधार पर उन्हे कई श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। यहाँ विभिन्न वर्गीकरणो के आधार पर

कुछ प्रमुख प्रकार के स्वप्नो का उल्लेख कर देना अप्रासगिक नहीं होगा।

विभिन्न प्रकार के स्वप्नों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि सभी प्रकार के स्वप्नो में चिंता स्वप्नों की अधिकता रहती है। मनुष्य ऐसे भयावह स्वप्नो को देखता है कि वह जगने पर भी भयभीत ही बना रहता है। ऐसे स्वप्न क्यों होते हैं और उनकी क्या सार्थकता है, इससे हमारा सम्बन्ध यहाँ नहीं है। इन बातों पर स्वप्न सिद्धान्त मे स्थल विशेष पर प्रकाश डाला जायेगा। लेकिन, इतना जानना आवश्यक है कि ऐसे स्वप्न आवाल-वृद्ध सभी को होते हैं। इस प्रकार के स्वप्न को रात्रिअश्विका (Night-Mare), रात्रिभीतिभय (Night-Terrors), चिता-स्वप्न (Anxietydream) आदि कई नामो से व्यक्त किया जाता है। ऐसे स्वप्न स्वप्न-द्रष्टा को स्वप्नावस्था मे अत्यधिक भयभीत और चिंतित कर देते हैं। अपने को जान से मारने के लिए किसी को घातक हथियारो के साथ स्वप्न में देखना इस प्रकार के स्वप्न का उदाहरण है। ऐसे स्वप्नो की सामान्यावस्था में कमी नहीं है।

भावी स्वप्न (Prophetic dreams) ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे वर्तमान या गत जीवन से नहीं रहता; बल्कि हमारे भावी जीवन से रहता है। हम ऐसी घटनाओं का अनुभव कभी-कभी स्वप्न में करते हैं जो वस्तुतः भविष्य मे होकर ही रहती हैं। बहुत-से व्यक्तियों के आगमन के विषय मे देखा जाता है और वे वस्तुतः स्वप्न के बाद आ जाते हैं। भारतवासियो का अधिकांशतः ऐसा ही विश्वास है। लेखक को भी कभी-कभी ऐसे प्रश्न देखने का अवसर मिला है, जिनकी सत्यता बाद मे प्रमाणित हुई है।

क्रियात्मक (Kinesthetic) स्वप्नों की भी कमी हमारे जीवन में नहीं है। संभवतः शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसने कभी न कभी उड़ने, दौड़ने, गिरने आदि के स्वप्नो का अनुभव न किया हो। ऐसे स्वप्नो पर कई विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण काम किया है, जिनमे किमिन्स हॉर्टन (Horton) श्रीमती एर्नाल्ड-फोर्स्टर (Mrs Arnold-forster) प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

गति-असमर्थता स्वप्न कभी-कभी देखने मे आते हैं। जिस प्रकार लकवा का रोगी शारीरिक अवयवो की असमर्थता के कारण घूमने-फिरने मे असमर्थ होता है वही अवस्था स्वप्न मे भी होती है। जब कोई घातक जानवर या शत्रु स्वप्न मे पीछा करता है तो लाख चेष्टा करने पर भी स्वप्नद्रष्टा उससे अपनी रक्षा भागकर करने मे अपने को असमर्थ पाता है।

मृत्युस्वप्न (Dream of the dead) का अनुभव भी हम लोग अपने स्वप्नों में करते हैं। जीवित प्रियजन को स्वप्न में मरते हुए देखना हम लोगों का सामान्य अनुभव है। माताएँ अपने पुत्र, पत्नियाँ अपने पति के मरने का स्वप्न देखती हैं।

कभी-कभी एक ही स्वप्न को कई आदमी एक साथ ही व्यक्त करते हैं। ऐसे स्वप्न को सामूहिक स्वप्न (Collective dream) कहते हैं। जब कोई परिस्थिति आतंकमय रहती है तो प्रायः कई व्यक्ति भयावह स्वप्नों को व्यक्त करते हैं। परिस्थिति एक रहने पर ही सामूहिक स्वप्नों का अनुभव लोगों को होता है।

जब कोई व्यक्ति एक ही स्वप्न का बार-बार अनुभव करता है तो ऐसे स्वप्न को हम लोग पुनरावर्तक स्वप्न (Recurrent dream) की श्रेणी में रखते हैं। वस्तुतः ऐसा स्वप्न मानव-समाज को चकित कर देता है कि एक ही स्वप्न बार-बार कोई मनुष्य क्यों देखता है। ऐसे स्वप्नों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का विचार है कि ये स्वप्नद्रष्टा के असामान्य मन के द्योतक होते हैं। लेखक के एक विद्यार्थी ने कुछ दिन पहले एक पुरुष के ऐसे ही स्वप्न का कारण पूछा। वह पुरुष विशेष जब सोता था तो रात में स्वप्न देखता था कि वह धान के खेत के मेड़ पर होकर जा रहा है, रास्ते में एक विषधर साँप उसे मिल जाता है और वह उसे काटने के लिए दौड़ता है। उससे रक्षा के लिये पुरुष भागता है और उसकी नींद खुल जाती है। ऐसे स्वप्नों की भी कमी कुछ लोगों के जीवन में नहीं है। हाँ, इतना अवश्यक है कि सभी लोग ऐसे स्वप्नों का अनुभव नहीं करते हैं।

हेलेन केलर (Hellen Keller), ह्वीलर (Wheeler) आदि के अन्वेषणों से यह स्पष्ट है कि अंधे और गूँगे व्यक्तियों के स्वप्न सामान्य व्यक्ति के स्वप्नों से भिन्न होते हैं। इस दिशा में जो अध्ययन हुए हैं उनसे प्रमाणित है कि ऐसे व्यक्तियों के स्वप्नों में प्रतिमाओं की वह प्रचुरता नहीं रहती जो कि सामान्य व्यक्तियों के स्वप्नों में रहती है। यदि स्वप्न-द्रष्टा पाँच-सात वर्षों के बाद अन्धा हुआ रहता है तो उसके स्वप्नों में दृष्ट्यात्मक प्रतिमाएँ देखने में आती हैं। जन्मान्ध रहने पर उसमें इस प्रकार की प्रतिमा का पूर्णतः अभाव रहता है। इसलिए ऐसे लोग स्वप्नों में ऐसी ही प्रतिमाओं का अनुभव करते हैं जिन्हें कि वे अपनी जाग्रतावस्था में अनुभव करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ दोषी रहती हैं उतनी ही कम प्रतिमाओं का अनुभव अन्धे और बहरे या अन्य प्रकार के शारीरिक

दोषों से युक्त व्यक्ति करते हैं। प्रायः ये ही स्वप्नों की प्रधान श्रेणियाँ है। इनके अतिरिक्त भी नगे होने, ब्याह होने, मकान बनाने आदि के स्वप्न लोगों को अधिकाशतः हुआ करते हैं।

स्वप्न-घटक (Dream contents)

हम पहले ही इस बात का उल्लेख स्थल विशेष पर कर चुके हैं कि स्वप्न देखने मे बड़े ही असगत बेतुका और विचित्र मालूम होते हैं। बहुत-से स्वप्न तो स्वप्नद्रष्टा को पूर्णतः निरर्थक मालूम होते हे; किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। फ्रायड ने अनेक स्वप्नो का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि हम जो कुछ स्वप्न में देखते हैं उसका अर्थ उससे भिन्न होता है, जिसकी जानकारी स्वप्नद्रष्टा के स्वतंत्र साहचर्य (Free Association) के द्वारा होती है। स्वप्नद्रष्टा जो कुछ स्वप्न में देखता है या जगने के बाद याद करता है उसे फ्रायड ने व्यक्तघटक (Manifest Content) की संज्ञा दी है। प्रधानतः यह स्वप्नद्रष्टा को ज्ञात रहता है, भले ही जगने हर उसके प्रत्यावाहन मे कुछ न्यूनाधिक हो जाय। लेकिन, यह व्यक्तघटक ही स्वप्न का अर्थ नहीं होता ; बल्कि उस स्वप्न का अर्थ तो उसके पीछे छिपा रहता है, जिसकी जानकारी स्वप्न-विश्लेषण करने पर होती है। इसे फ्रायड ने 'अव्यक्त घटक' (Latent content) के नाम से अभिव्यक्त किया है। यों तो व्यक्तघटक एव अव्यक्तघटक में कोई समानता देखने में नहीं आती है ; क्योंकि व्यक्त से अव्यक्त घटक पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः भिन्न होता है ; लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता कि दोनों ही घटक एक ही रहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वप्नद्रष्टा की वास्तविक इच्छा की ही अभिव्यक्ति छद्मवेश मे व्यक्त-घटक द्वारा होती है। इस अभिव्यक्ति का एक मात्र साधन स्वप्न-रचना (Dream mechanismy) है, जिसपर आगे प्रकाश डाला जायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वप्न के दो पहलू होते हैं—एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। अव्यक्त पहलू ही स्वप्न की वास्तविकता पर प्रकाश डालता है और व्यक्त पहलू अव्यक्त का ही सांकेतिक (Symbolic) और छद्मवेशी (disguised) रूप होता है, इसलिए वह अधूरा और असंगत प्रतीत होता है। व्यक्तघटक की जानकारी स्वप्नद्रष्टा को रहती है और अव्यक्त की जानकारी उसे मनोविश्लेषण के द्वारा होती है।

स्वप्न-प्रतीक (Dream-symbols)

हम यह देख चुके है कि हमे स्वप्न मे जो कुछ भी अनुभव होता है उसका अर्थ उससे भिन्न अधिकांश स्थलों पर होता है। इससे यह स्पष्ट है कि हम

जो कुछ किसी स्वप्न में अनुभव करते हैं उन अनुभवो का संकेत किसी अन्य अर्थ की ओर होता है ; क्योंकि उनका अर्थ उन संकेतो के पीछे छिपा रहता है और इसकी जानकारी विश्लेषण करने पर होती है। पिछले पृष्ठो मे हम इसका भी उल्लेख कर चुके हैं कि स्वप्न के समय हमारा मन प्रतीकों (Symbols) का आश्रय लेकर ही तो अपनी दबी हुई इच्छाओं का प्रकाशन करता है। स्वप्न के इन तथ्यों को जानकर बहुत से विद्वानो ने कुछ प्रमाणित प्रतीको को व्यक्त करने का प्रयास किया है। अतएव हम यहाँ उन्हीं कुछ प्रमुख प्रतीकों का उल्लेख फ्रायड के आधार पर करेंगे और यह देखेंगे कि उनकी कहाँ तक यथार्थता एव सार्थकता है।

फ्रायड ने प्रतीको का उल्लेख करते हुए राजा-रानी और महान व्यक्तियों को स्वप्न मे देखना माता-पिता का प्रतिरूपक (Representative) माना है। राजकुमार या राजकुमारी स्वय स्वप्नद्रष्टा के द्योतक होते हैं। छड़ी, छाता, पेड़ का तना, चाकू, कटार आदि प्रतीक पुरुष या पुरुषलिंग के द्योतक होते हैं। नाव, जहाज, घर, कमरा. सन्दूक आदि पदार्थ स्त्री के गुप्तांग की ओर सकेत करते हैं। कभी-कभी कमरा (Room) स्त्री की ओर भी सकेत करता है। ताला और कु जी स्त्री-पुरुष लिग के परिचायक होते हैं। चूहे, बन्दर तथा अन्य छोटे-छोटे जीव भाई-बहन के प्रतिरूपक होते हैं। विभिन्न प्रकार के फल जैसे, आम, अमरूद, नारंगी आदि स्तन का सकेत करते हैं। चलने, चढने, उतरने आदि क्रियात्मक स्वप्न लैगिक सभोग के द्योतक होते हैं। बौने व्यक्ति, अगूठे आदि भी पुरुष लिग के बोधक होते हैं। कई प्रकार के प्रतीको से एक ही चीज का भी बोध होता है। स्वप्न में किसी प्रकार का टेबुल या नाव का सकेत स्त्री की ओर भी होता है। नेकटाई, गमछा आदि पुरुष-लिग के प्रतिरूपक होते हैं। स्टेकेल (Stekel) छोटे-छोटे बच्चो, छोटे भाई, छोटी-लम्बी चीजों आदि को भी पुरुष-लिग का बोधक मानता है। बच्चों के साथ खेलना या उन्हें पीटना हस्तमैथुन (Masturbation) को व्यक्त करता है। कभी-कभी छोटे जीव-जन्तु अवांछित भाई-बहन का भी बोध कराते हैं।

स्टेकेल ने दाएँ-बाएँ को उचित-अनुचित का बोधक माना है। इसलिए इस सम्बन्ध मे उसका कहना है कि बाएँ से समजातिलैंगिकता, अनुचित-लैंगिक सम्बन्ध या लैंगिक विकृतियो का बोध होता है और दाएँ से विवाह, वेश्या-सम्बन्ध आदि का बोध होता है। स्टेकेल ने बहन को स्तन का द्योतक माना है। उसके अनुसार यात्री का सामान, पाप या पुरुष-लिग का बोध कराता है।

झाड़ी, झुरमुट आदि पौधों को लिंग-बाल का द्योतक कहा गया है। इसी प्रकार फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने विभिन्न प्रकार के प्रतीकों को व्यक्त किया है। इसी तरह के प्रतीक भारतवासियों द्वारा भी आज से हजारों वर्ष पहले ही व्यक्त किये गये थे। उनमें से कुछ प्रतीक तो फ्रायड के प्रतीकों से मिलते-जुलते हैं; किंतु कुछ उससे पूर्णतः भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में हम यह कहना उचित समझते हैं कि फ्रायड और उसके अनुयायियों ने इन प्रतीकों को विधेयात्मक (Objective) एवं विश्वजनीन (Universal) व्यक्त किया है। किंतु, अन्य मनोवैज्ञानिक उनसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति विशेष के साथ-साथ प्रतीकों का अर्थ बदलता रहता है, इसलिए प्रतीक पूर्णतः आत्मगत हैं। एडलर तथा युंग ने प्रतीकों को व्यक्तिगत एवं आत्मगत माना है। अतएव सभी विद्वान इन प्रतीकों की विधेयात्मकता और विश्वजनीनता में पूर्णतः विश्वास नहीं करते और वे कुछ अंशों में ठीक भी हैं। हमारा भी अनुभव यही प्रमाणित करता है कि एक प्रतीक के रहने पर भी स्वप्न की व्याख्याओं में भिन्नता होती है। किसी प्रतीक विशेष का क्या अभिप्राय है इसकी तो जानकारी स्वप्न के अध्ययन से होती है। फिर भी, यदि सभी प्रतीक विश्वजनीन होते तो एक ही स्वप्न की व्याख्या विभिन्न विद्वान विभिन्न रूपों में कैसे करते ? अतएव निष्कर्ष स्वरूप हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि स्वप्न में प्रतीकों का स्थान बहुत ही महत्त्व का है ; किंतु उनका अर्थ व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है, अतएव वे आत्मगत एवं व्यक्तिगत ही हैं, विधेयात्मक और विश्वजनीन नहीं।

स्वप्न-रचना (Dream Mechanism)

जिन मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा अव्यक्त-घटक की अभिव्यक्ति व्यक्त-घटकों (Manifest Contents) में होती है उसे फ्रायड तथा अन्य विद्वानों ने स्वप्न-रचना का नाम दिया है। यद्यपि इन स्वप्न-रचनाओं को अब सभी विद्वान स्वीकार करते हैं ; लेकिन उन्हें प्रकाश में लाने का एक मात्र श्रेय फ्रायड को है। फ्रायड के अनुसार वे स्वप्न-रचनाएँ, घनीकरण सिद्धान्तों पर प्रकाश डाले उन स्वप्न रचनाओं का यहाँ उल्लेख कर देना (Condensation), नाटकीयता (Dramalization), विस्थापन (Displacement), प्रतीकीकरण (Symbolization), तथा पश्चातविस्तार (Secondary Elaboration) की हैं। इन्हीं स्वप्न क्रियाओं का उल्लेख हम यहाँ साङ्क्षिप्तः करेंगे।

घनीकरण (Condensation) :—घनीकरण वह स्वप्न-रचना है जिसके द्वारा अव्यक्तघटक के कई बीज-तत्व व्यक्तघटक के एक बीज-तत्व द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। वस्तुतः जो कुछ स्वप्नद्रष्टा स्वप्न मे व्यक्तघटक के रूप में देखता है उसका विश्लेषण करने पर बहुत ही विशद रूप हो जाता है। स्वप्न-कल्पना की सबसे बड़ी यह विशेषता है कि वह बहुत ही सक्षेप रूप में किसी घटना इच्छा या वस्तु को व्यक्त करना चाहती है। इस रचना के द्वारा कई अचेतन इच्छाएँ एक साथ अभिव्यक्ति पाकर अपने को संतुष्ट करने मे समर्थ होती हैं। दो विरोधी इच्छाओं या बीज-तत्वो का प्रकाशन भी घनीकरण के द्वारा एक ही व्यक्तघटक के द्वारा होता है। इस रचना का प्रधान कारण यह है कि हमारे अचेतन मन मे कई प्रकार की इच्छाएँ अपनी संतुष्टि के लिए संघर्ष किया करती हैं। इसलिए इस रचना के द्वारा एक ही साथ कई इच्छाओं की अभिव्यक्ति और सतुष्टि हो जाती है। जब हम स्वप्न में एक ही व्यक्ति को जानवर की बोली, आदमी का रूप और पक्षियो के पंख से युक्त पाते हैं तो हमे घनीकरण के उदाहरण मिलते हैं। प्रायः हम लोग अपने स्वप्न मे देखा करते हैं कि एक ही आदमी कई प्राणियो का रूप धारण कर लेता है। इसकी वास्तविकता तो विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होती है ; किंतु इतनी बात तो हुई ही कि इस रचना के द्वारा अचेतन मन अपनी इच्छाओ की अभिव्यक्ति सक्षेप रूप से कर लेता है। इसके अतिरिक्त, इस रचना का आश्रय लेने से वास्तविक इच्छा का ज्ञान भी आसानी से चेतन मन और उसके प्रतिहारी (Censor) को नहीं होता, इसलिए अचेतन मन को अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करने में विशेष कठिनाई का सामना नही करना पड़ता है।

विस्थापन (Displacement):—विस्थापन, दूसरी स्वप्न-रचना है जो अव्यक्तघटक को विकृत रूप मे व्यक्तघटक के रूप मे प्रकट करती है। इसीके फलस्वरूप, जैसा कि पहले ही स्थल विशेष पर कहा जा चुका है, व्यक्तघटक बहुत ही बेढगे और विचित्र मालूम होते हैं। इसके द्वारा अव्यक्त घटक के किसी बीज-तत्व के संवेगात्मक महत्त्व को बहुत ही साधारण और अनावश्यक व्यक्तघटक द्वारा व्यक्त कर दिया जाता है। यद्यपि इस रचना की प्रधानता स्वप्नों मे बहुत अधिक है ; लेकिन इसकी उपयोगिता अपने सामान्य जीवन मे भी हम लोग पाते हैं। जब हमें अपने माता या पिता से किसी कारणवश घृणा हो जाती है तो उस घृणा को हम उन पर प्रकाशित न कर अपने उच्चाधिकारी के प्रति प्रकाशित करते हैं। इसी रचना के कारण व्यक्त स्वप्न के कुछ घटक प्रधान और

रुचिकर मालूम होते हैं और कुछ साधारण और अरुचिकर मालूम होते हैं; किंतु स्वप्न-विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि व्यक्तघटक का प्रधान अंग वस्तुतः अव्यक्तघटक का अप्रधान अंग था और अप्रधान अग प्रधान था। घनीकरण और विस्थापन रचनाओं की सहायता से वस्तुतः अचेतन मन अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति करने मे काफी अशों तक सफल होता है। इस रचना के कारण स्वप्नद्रष्टा के स्वप्न मात्र को जान लेने से ही उसकी इच्छा की जानकारी नहीं होती; बल्कि उसका विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। एक महिला ने एक बार स्वप्न देखा कि एक मरे हुए व्यक्ति को लोग गाते बजाते हुए अन्तिम संस्कार के लिए ले जा रहे हैं। इस दृश्य को देखकर उसने अपना विचार व्यक्त किया कि वस्तुतः ऐसे साधारण आदमी का दाह-संस्कार इस ठाटबाट से होना आवश्यक नहीं है। जब उसके इस स्वप्न का विश्लेषण किया गया तो मालूम हुआ कि वह स्त्री अपने विवाह के पहले अपने पति को बहुत प्यार करती थी; लेकिन विवाह हो जाने पर उसका पति बहुत बड़ा शराबी निकला, इसलिए वह अपने पति के ऐसे चरित्र को नहीं चाहती थी। स्वप्न मे मृत-व्यक्ति उसके पति के शव का बोधक था और इस प्रकार अपने पति के प्रति छिपे हुए भाव को वह स्वप्न द्वारा व्यक्त एवं संतुष्ट करने मे सफल हुई। सामान्यतः कोई भी महिला चेतन मन मे अपने पति के प्रति ऐसा नहीं सोच सकती और स्वप्न मे भी प्रतिहारी का भय था, इसलिए विस्थापन के द्वारा उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति हो सकी।

नाटकीयता (Dramatization):—हम स्वप्न की विशेषताओं मे इसका उल्लेख कर चुके हैं कि हमे स्वप्न मे सभी कुछ प्रतिमाओं के रूप मे अनुभव होता है। यों तो दृष्ट्यात्मक और ध्वन्यात्मक प्रतिमाओं की ही प्रचुरता रहती है; लेकिन ज्ञानेन्द्रियों की उपयोगितानुसार हम किसी भी प्रतिमा का अनुभव स्वप्न मे कर सकते हैं। अपनी गुप्त इच्छाओं की अभिव्यक्ति हमारा अचेतन मन इसी नाटकीयता की रचना (mechanism) के द्वारा विभिन्न चित्रों द्वारा करता है। जिस प्रकार नाटक मे हम एक घटना के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी और क्रमशः अन्य घटनाओं को देखते हैं उसी प्रकार अपने स्वप्न मे इस रचना के प्रसाद से विभिन्न घटनाओं को चित्रित देखते हैं। अचेतन मन को अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति मे नाटकीयता के द्वारा अत्यधिक सहायता मिलती है और इस प्रकार वह अपने विचारों को राशिभूत (concrete) चित्रित करने में सफल होता है। अगर किसी व्यक्ति मे किसी अधिकार के पाने की प्रबल इच्छा है, जिसकी

संतुष्टि उसे नहीं हो रही है तो वह स्वप्न मे देख सकता है कि वह उस पद पर असीन है।

प्रतीकीकरण (Symbolization) :—हम पिछले पृष्ठो में प्रतीकों का उल्लेख करते हुए यह देख चुके हैं कि स्वप्न में प्रतीकों का क्या महत्त्व है। वस्तुतः जो इच्छाएं स्वप्न मे अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं वे अचेतन मन में रहती हैं और उनका स्पष्ट प्रकाशन हमारे चेतन मन की नैतिकता और स्वाभिमान के प्रतिकूल होता है। इसलिए हमारे अचेतन मन की इच्छाएं प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी संतुष्टि सांकेतिक रूप से स्वप्नो मे करती हैं। अगर प्रतीकीकरण की रचना न होती तो इच्छाओ की सतुष्टि स्वप्न मे भी असभव हो जाती। आदर्शात्मा के प्रतिबन्ध से बचने के लिए ही प्रतीकीकरण-रचना की कार्यवाही प्रारभ होती है। हम प्रतीको के वर्णन मे देख चुके हैं कि किस प्रकार दौड़ना, पेड़ पर चढना आदि हमारी अचेतन इच्छाओ को व्यक्त करते हैं। स्वप्न में इस रचना का बहुत ही महत्त्व है। इसके द्वारा अचेतन मन अपने विचार और इच्छाओ को राशिभूत रूप देने में समर्थ होता है और इसी के प्रसाद से इच्छाएं अपनी सतुष्टि विकृत रूप मे कर लेती हैं और हमारे चेतन मन को इसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि यह रचना स्वप्न मे न होती तो अचेतन मन को स्वप्न द्वारा अपनी इच्छाओं को सतुष्ट करने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता।

पश्चात-विस्तार (Secondary Elaboration) :—हम स्थल विशेष पर देख चुके हैं कि स्वप्न की घटनाएं अतार्किक असंगत और निरर्थक मालूम होती हैं। स्वप्नद्रष्टा इस रचना के द्वारा अपने देखे हुए स्वप्न को व्यवस्थित करके उसमे सार्थकता ला देता है। यह अवचेतन रचना है और जगने के बाद स्वप्न समाप्त होने पर होती है। स्वप्न को व्यवस्थित रूप मे वर्णित करना इसी रचना के द्वारा होता है। इ० जोन्स ने इसकी तुलना युक्त्याभास (Rationalization) से की है। यह रचना उपर्युक्त अन्य स्वप्न-रचनाओं से पूर्णतः भिन्न है।

स्वप्न-सिद्धान्त (Theories of Dreams)

स्वप्नो की व्याख्या के लिए कई सिद्धान्तो का प्रतिपादन विद्वानों ने किया है। उन्हे हम दो मुख्य श्रेणियो के अन्तर्गत रख सकते हैं—(क) दैहिक सिद्धान्त और (ख) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त।

(क) दैहिक सिद्धान्त :—स्वप्न की व्याख्या करने के लिए विभिन्न विद्वानो ने प्रत्यक्षीकरण-विपर्यय (Perception - Illusion) और प्रबोधन-

क्रियात्मक (As an apperceptive trial and error) सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिन्हे हम दैहिक सिद्धांत के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस दैहिक सिद्धांत के दो पहलू हैं। पहले पहलू के अनुसार जब कोई उत्तेजना मनुष्य को उसकी सुषुप्ता अवस्था मे प्रभावित करती है तो उसे उस समय किसी-न-किसी प्रकार के स्वप्न का अनुभव होता है। इस पहलू के अनुसार हमारा मन चूँकि निद्रावस्था मे सक्रिय नही रहता है, इसलिए उसमे साहचर्य की क्रियाएँ निर्बल हो जाती हैं। चिन्तन, प्रत्यक्षीकरण और स्मृति प्रक्रियाओ मे भी किसी प्रकार की सम्बद्धता नही रह जाती है। इसलिए इस अवस्था में मन में विवेक शक्ति का पूर्णतः अभाव रहता है। इसलिए निद्रा-वस्था में जब किसी प्रकार की उत्तेजना हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय को प्रभावित करती है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हम स्वप्न देखते हैं। किसी प्रकार की चेतन मानसिक क्रिया के अभाव मे उत्तेजनाओं का वास्तविक ज्ञान न होकर दोषमय ज्ञान होता है। इसीलिए हमारे सभी स्वप्न निरर्थक, असंगत एव हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। इस पहलू के अनुसार किसी उत्तेजना का भी निद्रावस्था मे उचित ज्ञान न होने के कारण गलत ज्ञान होने से तरह-तरह के स्वप्नो का अनुभव होता है।

इसका दूसरा पहलू भी भौतिक या शारीरिक उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया को स्वप्न का कारण मानता है; लेकिन, यह पहलू इसे स्वीकार करता है कि जब किसी प्रकार की उत्तेजना हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय को प्रभावित करती है तो उस समय हमारा मन सोते रहने पर भी उसकी व्याख्या करता है और इस प्रकार हमे स्वप्न का अनुभव होता है। यद्यपि इस दैहिक सिद्धान्त के दो पहलू हैं; लेकिन दोनो का आधार कोई उत्तेजना है। इसलिए हम इस सिद्धान्त के दोनो पहलुओ को ध्यान मे रखते हुए यह कह सकते हैं कि जब कोई उत्तेजना हमे हमारी सुषुप्तावस्था मे प्रभावित करती है तो हम स्वप्न देखते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादको ने अपने पक्ष मे कई प्रकार के प्रयोगात्मक एव अनुभवात्मक प्रमाणों को उपस्थित किया है। इसके अनुसार सोते समय यदि घड़ी का टनटन शब्द हमारे कानो मे पड़ता है तो हम मन्दिर मे घण्टा बजने, संगीत होने आदि का स्वप्न देखते हैं। सोते समय मुँह या पैर पर पानी की बूँदों के पड़ने से हम स्नान करने, पानी मे चलने, शर्बत पीने, भींगने आदि का स्वप्न देख सकते है। प्यास लगने पर पानी पीने, या स्नान करने का स्वप्न देखना स्वाभाविक है। सोते व्यक्तियों मे भी विभिन्न उत्तेजनाओ को देकर स्वप्न उत्पन्न करके इस सिद्धान्त के प्रति-पादक विद्वानो ने अपने मत का समर्थन किया है। इन विद्वानों ने स्वप्नों

की असगतता, निरर्थकता आदि विशेषताओं की व्याख्या मानसिक विच्छेद और उच्च मानसिक क्रियाओ के अभाव के आधार पर की है।

साधारणत: यह स्वप्न सिद्धान्त सुनने मे ग्राह्य मालूम होता है और इसकी सार्थकता को भी विद्वानो ने कुछ अशो मे प्रयोगो द्वारा प्रमाणित कर दिया है। लेकिन, गभीरतया विचार करने पर इसमे कई त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

पहली बात इस सम्बन्ध मे विचारणीय यह है कि एक ही उत्तेजना विभिन्न व्यक्तियो मे या एक ही व्यक्ति मे विभिन्न कालो मे विभिन्न स्वप्नो को क्योकर उत्पन्न करती है? प्रयोग करने पर देखा गया है कि एक ही आदमी को घण्टी के शब्द से प्रभावित करने से विभिन्न रातो मे तरह-तरह के स्वप्न दिखलाई पड़े। इसी प्रकार कई सोते आदमियो को एक ही उत्तेजना देने पर कई तरह के स्वप्न दीख पड़े। इस स्थल पर स्वप्नो की भिन्नता की व्याख्या करने मे दैहिक स्वप्न-सिद्धान्त मौन हो जाता है। इससे यह मालूम होता है कि स्वप्नों को उत्पन्न करने मे केवल बाहरी या भीतरी उत्तेजनाओ की ही प्रधानता नहीं रहती; बल्कि उत्तेजना के अतिरिक्त स्वप्नद्रष्टा के मानस-जीवन का भी हाथ उसमे रहता है।

दूसरी कठिनाई इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह है कि यह सिद्धान्त स्वप्न के अनुभवो को निरुद्देश्य और निरर्थक मानता है। इसके अनुसार ऐसे अनुभवो की कोई भी सार्थकता नही है। लेकिन, हम आज के युग मे इस पर विश्वास करने के लिए राजी नही हैं। हमने दैनिक मनोविकृतियो के सम्बन्ध मे देखा है कि हमारी सभी शारीरिक एव मानसिक क्रियाओ की सार्थकता है और उनके कारण भी हैं। इसी प्रकार हमारे स्वप्न के अनुभव भी कुछ अर्थ रखते हैं और उनकी उपयोगिता भी हमारे जीवन मे है। अतएव यद्यपि इसके पक्ष में प्रयोगात्मक प्रमाण भी मौजूद हैं तथापि इन प्रमुख त्रुटियो के रहते हुए इसे हम एक सर्वांग सुन्दर और ग्राह्य सिद्धान्त कदापि मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

(ख) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त:—फ्रायड ने दैहिक सिद्धान्त की व्याख्या से सतुष्ट न होकर एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वप्नो की व्याख्या के लिए किया जिसे हम फ्रायड-स्वप्न-सिद्धान्त कहते हैं। फ्रायड ने स्वप्नो को निरर्थक नही, अपितु सार्थक माना है। उसका कहना है कि स्वप्न चाहे जिस प्रकार के भी क्यो न हो उनका कोई-न-कोई कारण होता है और उनकी सार्थकता भी है। कोई भी स्वप्न अकारण और निरर्थक नहीं होता। उसके अनुसार, स्वप्न हमारे सुषुप्तावस्था की वह अचेतन मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा हमारे

अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं की अभिव्यक्ति एव सतुष्टि छद्मरूप (Disguised form) में होती है। इस सम्बन्ध मे उसका कहना है कि स्वप्न मे हमारी दमित (Repressed) इच्छाओ की ही सतुष्टि होती है। अपने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए उसने मन के अचेतन, अवचेतन (Preconscious or Subconscious) और चेतन पहलुओं पर विशेप जोर दिया है। उसका कहना है सि अचेतन और अवचेतन के बीच प्रतिबन्ध (Censor) प्रक्रिया हमारी जाग्रतावस्था मे चलती रहती है, इसलिए अनैतिक, असामाजिक एवं अनुचित इच्छाएँ हमारी चेतना में नहीं आने पाती हैं और उनका दमन अचेतनावस्था में हो जाता है। वहाँ जाकर वे निष्क्रिय नहीं होतो; बल्कि और प्रबल रूप धारण करके बराबर चेतना मे आने की कोशिश किया करती हैं। जब सोने की अवस्था मे इस प्रतिबन्ध क्रिया मे शिथिलता आ जाती है तब ऐसी इच्छाएँ अपना रूप बदल कर स्वप्न मे अपनी संतुष्टि करती हें। इन इच्छाओं की अभिव्यक्ति दैनिक मनोविकृतियो और मनोस्नायुविकृतियो मे भी होती है। फ्रायड ने इच्छा पद के अन्तर्गत सभी प्रकार की मूलप्रवृत्तियों (Instincts) आवेगो (Inpulses) आशाओं आदि को रखा है। चूँकि इन सभी इच्छाओं की संतुष्टि वास्तविक रूप मे जाग्रतावस्था मे नहीं होती, इसलिए ऐसी इच्छाएँ स्वप्न के ही माध्यम से अपनी संतुष्टि करती हैं।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि फ्रायड ने अपने स्वप्न सिद्धान्त मे इच्छाओ के छद्मरूप और उनकी संतुष्टि पर विशेष रूप से जोर दिया है। उसका कहना है कि हमारी अचेतन इच्छाओ की अभिव्यक्ति स्वप्न मे वास्तविक अवस्था मे न होकर गुप्त रूप में ही होती है। इन इच्छाओं के छद्मरूप की ही व्याख्या के लिए उसने स्वप्न के दो पहलुओं—अव्यक्तघटक (Latent content) और व्यक्तघटक (Manifest content) को प्रकाश मे लाया है, जिस पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। अव्यक्त-घटक को जानने के लिए उस स्वप्न का स्वतत्र साहचर्य के द्वारा विश्लेषणात्मक अध्ययन करना आवश्यक है।

इसके बाद उसने सभी स्वप्नो को इच्छापूरक (wishfulfilments) माना है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि हम चाहे किसी प्रकार का स्वप्न क्यों न देखे; लेकिन उससे हमारी किसी अचेतन इच्छा की परितृप्ति होती है। अपने इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए उसने कई प्रकार के प्रमाणो को उपस्थित किया है। उसका कहना है कि जब कोई बच्चा किसी पदार्थ की इच्छा करता है और उसके माता-पिता उस पदार्थ को उसे

नहीं देते हैं तो वह अपनी इच्छा को स्वप्न में सतुष्ट करता है। स्वप्न में उसे मनोवांछित पदार्थ मिल जाता है। जिस बच्चे को भर पेट भोजन नही मिलता या खेलने के लिए खिलौने या साथी नहीं मिलते, वह स्वप्न मे अच्छे-अच्छे पदार्थों को खाता है या बहुत मे साथी और खिलौनो के साथ खेलता है।

उसने प्रौढ़ और किशोरों के स्वप्नो मे भी इच्छा-पूरकता को प्रदर्शित किया है। जब कोई गरीब खाने की इच्छा करता है तो खाना न पाने पर वह खाने का स्वप्न देखता है। यदि कोई किशोर अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने मे असमर्थ होता है तो वह उसे स्वप्न मे पाकर प्रसन्न होता है। नींद मे प्यास या लघुशंका की इच्छा होने पर पानी पीने और लघुशंका करने के स्वप्न होते हैं। इन स्वप्नो से हमारी इच्छाएँ स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती हैं।

इनके अतिरिक्त, उसने अपनी इस इच्छापूरकता को दिवास्वप्न और कहावतो के आधार पर भी प्रमाणित किया है। उसका कहना है कि चूँकि दिवास्वप्न और स्वप्न मे केवल आंशिक भेद है और दिवास्वप्न में हम अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करते हैं, इसलिए स्वप्नो के सम्बन्ध मे भी यही नियम लागू होता है। "भूखा आदमी रोटी का स्वप्न देखे" ऐसी कहावत से भी यह प्रमाणित होता है कि स्वप्नों से हमारी अचेतन दमित इच्छाओं की सतुष्टि होती है।

अव्यक्तघटक और व्यक्तघटक के सम्बन्ध को दिखलाने और अचेतन इच्छा के छद्मरूप की व्याख्या करने के लिए फ्रायड ने घनीकरण, विस्थापन, नाटकीयता, प्रतीकीकरण की स्वप्न-रचनाओ का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा हमारी वास्तविक अचेतन इच्छाएँ अपना रूप बदल कर साकेतिक रूप मे स्वप्नों के माध्यम से अपनी संतुष्टि करती हैं। इन स्वप्न-रचनाओं का उल्लेख पहले ही कर दिया गया है, अतएव यहाँ इनकी पुनरावृत्ति न करके हम यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि फ्रायड ने ऐसी सभी दमित इच्छाओं को लैंगिक स्वरूप का व्यक्त किया है और सभी स्वप्नो को इच्छापूरक कहा है। इसके लिए उसने विभिन्न व्यक्तियो के स्वप्नो का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी किया है।

एक बार एक स्त्री ने स्वप्न देखा कि वह जरी के काम की साड़ी और सुनहले जूते पहने है। उस स्त्री का जब स्वतन्त्र साहचर्य लिया गया तो मालूम हुआ कि पहले वह दूसरे पुरुष से व्याह करना चाहती थी; किंतु परिस्थितिवश

वह उससे व्याह न कर एक गरीब पुरुष से व्याह करने को बाध्य की गयी; लेकिन, अपनी इस असमर्थता को वह बार-बार समझती थी। इसलिए इस स्वप्न से उसकी दबी हुई इच्छा संतुष्ट हुई। इसी प्रकार से सभी स्वप्नों की व्याख्या वह अचेतन इच्छा की अभिव्यक्ति के आधार पर करता है; लेकिन प्रश्न यह है कि क्या दुखद स्वप्नों से भी हमारी इच्छाओं की सतुष्टि होती है? इसका भी उत्तर फ्रायड ने स्वीकारात्मक ही दिया है। उसका कहना है कि स्वप्न देखने में कष्टकर भले ही हों; परन्तु वास्तविक रूप मे वे भी किसी अज्ञात एव असंतुष्ट इच्छा को ही संतुष्ट करते हैं। एक महिला ने एक बार स्वप्न देखा कि उसका पुत्र मर गया है। देखने में तो स्वप्न उस महिला के लिए कष्टकर अवश्य था; किंतु स्वतत्र साहचर्य लेने पर मालूम हुआ कि जब वह बच्चा पेट मे था तो उसका अपने पति से संघर्ष हो गया। वह उस बच्चे को पेट में ही मारकर पति से सम्बन्ध विच्छेद करने की इच्छा करती थी जो नही हो सका। बच्चा के उत्पन्न होने पर उसकी इच्छा स्वप्न रूप में सतुष्ट हुई। इसी प्रकार एक स्त्री ने स्वप्न में अपने बहन के लड़के को मरते देखा। वस्तुतः उसे वह बहुत चाहती थी; लेकिन बात यह थी, जिसका ज्ञान स्वतंत्र साहचर्य पर हुआ, कि जब उसकी बहन का बड़ा लड़का मरा था तो उसके शव के साथ जानेवालों मे से एक के प्रति वह आकृष्ट हो गयी थी। पुनः वह उस व्यक्ति को देखना चाहती थी; लेकिन वह सामान्यतः जब उस इच्छा को सतुष्ट नही कर सकी तो उसकी वह इच्छा स्वप्न मे सतुष्ट हुई। और उसने अपने बहन के प्यारे लड़के की मृत्यु स्वप्न में देखी। इसी प्रकार कोई बेटा पिता के मरने का स्वप्न देखता है तो इस स्वप्न से किसी इच्छा की संतुष्टि होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि फ्रायड ने सभी प्रकार के स्वप्नों को इसी आधार पर समझाया है।

इस स्थल पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। फ्रायड ने स्वप्न को नींद का अभिभावक (Guardian) कहा है। जैसा कि बहुत लोग सोचते हैं स्वप्न से नींद में बाधा नहीं पहुँचती; बल्कि सोने में मदद ही मिलती है। जब हम लोग सोने की इच्छा से बिस्तर पर जाते और सो जाते हैं तो हमारी दबी असंतुष्ट इच्छाएँ अपनी सतुष्टि के लिए आने की कोशिश करती हैं। उस समय प्रतिबन्ध क्रिया भी शिथिल रहती है; लेकिन तो भी अचेतन मन को उससे भय बना रहता है, इसलिए इच्छाएँ विभिन्न रूपों मे सकेतों के द्वारा अपनी संतुष्टि करती हैं। अतएव निद्रा मे किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती और व्यक्ति निश्चिंत होकर सोता है। इसीलिए स्वप्न को फ्रायड ने स्वप्न का अभिभावक कहा है।

अब, फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख कर देने के बाद यदि हम इसके गुण-दोषों पर विचार करें तो मालूम होगा कि फ्रायड ने स्वप्नों की व्याख्या करते वक्त वैज्ञानिक आधारों को लेने की पूरी कोशिश की है और उसे बहुत अंशों में इसमें सफलता भी मिली है। उसने स्वप्न को समझने के लिए अचेतन इच्छाओं का आधार जो लिया है वह अधिकांश अवसरों पर मान्य है; क्योंकि वस्तुतः स्वप्नों में हमारी दबी इच्छाओं का हाथ रहता है। लेकिन, उसके अनुसार हमारी सभी दबी इच्छाएँ लैंगिक स्वरूप की होती हैं जो तर्कबुद्धि को ग्राह्य नहीं है। हम सभी जानते हैं कि हममें केवल लैंगिक इच्छा की ही प्रधानता नहीं रहती; बल्कि और भी कई प्रकार की इच्छाएँ प्रधान रहती हैं। अतएव सभी स्वप्नों को लैंगिक इच्छाओं की अभिव्यक्ति हम कदापि नहीं कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त फ्रायड ने स्वप्न-प्रतीकों को सामान्य और विधेयात्मक माना है; लेकिन हमारी बुद्धि इसे आत्मगत और व्यक्तिगत मानती है, क्योंकि एक ही प्रतीक व्यक्ति विशेष के अनुसार कई इच्छाओं या क्रियाओं का द्योतक होता है। इतना ही क्यों, फ्रायड ने स्वप्नों में गत अनुभव का ही हाथ माना है और गत पर आधारित भी किया है; लेकिन हम देखते हैं कि हमारे सभी स्वप्नों का सम्बन्ध हमारे गत अनुभव से नहीं रहता; बल्कि कुछ स्वप्न हमारे वर्तमान और कुछ भविष्य पर भी प्रकाश डालते हैं। अतएव इस सिद्धान्त में सत्यता होते हुए भी हम इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते हैं; और इस सिद्धान्त के प्रति भी वे ही आपत्तियाँ हैं जो सामान्य रूप से मनोविश्लेषण के प्रति उठाई जाती हैं।

फ्रायड-सिद्धान्त की त्रुटियों को देखकर युंग ने एक नये स्वप्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे आत्म प्रतीकात्मक सिद्धान्त (Auto symbolic theory) कहते हैं। उसने जीने की इच्छा (will to live) को ही प्रधान माना है और इसी अर्थ में उसने इच्छा-शक्ति (Libido) का भी व्यवहार किया है। उसका कहना है कि यह शक्ति दो दिशाओं में जा सकती है। जब इच्छा-शक्ति को उचित रूप से अपनी अभिव्यक्ति करने का अवसर नहीं मिलता है तब वह शक्ति प्रत्यावर्तित दिशा की ओर मुड़ जाती है और जब उचित रूप से उसकी अभिव्यक्ति होती है तब वह उन्नति-दिशा (Progressive Trend) की ओर मुड़ती है। चूँकि मनुष्य में कुछ-न-कुछ अंशों में उन्नति और पतन होते ही रहते हैं, इसलिए इस शक्ति की दोनों दिशाओं में संघर्ष (Conflict) का रहना भी स्वाभाविक है। इसलिए स्वप्न में इन्हीं

वर्तमान कठिनाइयों को सुलझाने का काम होता है। युंग अचेतन मन को स्वप्न का कारण मानता है जो उसके अनुसार व्यक्तिगत (Personal) और जातीय (Racial) दो प्रकार का है। उसके अनुसार अचेतन में केवल लैंगिक इच्छाओं का ही वास नहीं रहता; बल्कि सभी प्रकार की जातीय एवं व्यक्तिगत दमित इच्छाएँ उसमें पड़ी रहती हैं। वह स्वप्न को वर्तमान कठिनाइयों के फलस्वरूप मानता है और उसके भावी पहलू में भी विश्वास करता है। वह फ्रायड के प्रतीकों को भी स्वीकार करता है; लेकिन, उसके प्रतीकों का स्वरूप आत्मगत एवं गत्यात्मक है तथा केवल लैंगिक नहीं; क्योंकि प्रतीकों के अर्थ में परिवर्तन का होना सम्भव है।

इसी प्रकार एडलर ने स्वप्नों की व्याख्या आत्म संस्थापन (Self Assertion) तथा असफलता के भय (Feeling of failure) के बीच संघर्ष के आधार पर की है। उसके अनुसार स्वप्न में मनुष्य की आत्म संस्थापन की इच्छा की संतुष्टि होती है। वर्तमान कठिनाइयों का समाधान तो स्वप्न में होता ही है, साथ-साथ भविष्य के जीवन निर्माण के लिए भी स्वप्नद्रष्टा को संकेत मिलता है। अगर मनुष्य में हीन-भाव की प्रधानता रहती है तो उस समय उसका स्वप्न किसी कार्य को न करने का संकेत करता है ताकि आनेवाली असफलता से वह बच सके। आत्म-संस्थापन की भावना की प्रबलता रहने पर भावी कार्य को करने का प्रोत्साहन भी मिलता है। इस प्रकार स्वप्न का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से रहता है। हाँ, मानसिक रोगियों के स्वप्न उनके विकृत मन की अवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं व्यक्त करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों में भिन्नता है; लेकिन निष्कर्ष स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि स्वप्न का कारण जो कुछ भी हो; लेकिन उससे स्वप्नद्रष्टा के व्यक्तित्व, चरित्र, अभिरुचि आदि बातों पर काफी प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त, सभी सिद्धान्तों में कुछ-न कुछ सत्यता है, इसलिए किसी स्वप्न की व्याख्या करते समय हमें सभी सिद्धान्तों के तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए।

फ्रायड तथा यूंग के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

जब हम फ्रायड और युंग के स्वप्न-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि दोनों ही स्वप्न की सत्ता को स्वीकार करते हुए स्वप्न-रचना में विश्वास करते हैं। दोनों ही के लिये स्वप्न-रचना का होना आवश्यक है। दोनों ने स्वप्न को असंगत, अतार्किक और ऊटपटांग माना है, जैसा कि उनके विभिन्न स्वप्न, उदाहरणों से स्पष्ट है। दोनों ने ही स्वप्न को अचेतन मन की देन

व्यक्त की है और दोनों इसके क्षणिक एव विभ्रमात्मक स्वरूप पर विश्वास करते है। अव्यक्तघटक एव व्यक्तघटक को दोनो ने अपने स्वप्नो मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। फ्रायड और युग इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि मानसिक सघर्ष के फलस्वरूप अतृप्त इच्छा की सतृप्ति के लिए स्वप्नों की उत्पत्ति होती है। दोनो ने इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है और उन्होंने व्यक्तित्व के अध्ययन और मानसिक रोगियों के रोगों को अच्छा करने के लिए स्वप्न-विश्लेषण का आश्रय लिया है। लेकिन, इन समानताओं के होते हुए भी दोनों के स्वप्न-सिद्धान्तों में निम्नाकित अन्तर विचारणीय हैं।

फ्रायड ने स्वप्न के लिए दमन को प्रधान माना है। उसका कहना है कि जब मनुष्य की लैगिक इच्छाएँ दमन के द्वारा अचेतन मे कर दी जाती हैं तो उन्हीं दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न मे छद्मवेश में होती है। उसके अनुसार जिसमें इच्छाओ का दमन न हो उसमे स्वप्नो का होना भी सभव नही है। अतएव स्वप्न मे स्वप्नद्रष्टा की दमित इच्छा की ही सतुष्टि होती है। युंग स्वप्न के लिए दमन को आवश्यक नहीं मानता है। उसका कहना है कि स्वप्न एक सामान्य मानसिक क्रिया है, इसलिए यह किसी प्रकार के व्यक्ति मे भी हो सकता है। मनुष्य के स्वप्न कभी उसकी दबी इच्छाओ को व्यक्त करते हैं और कभी उसकी जातीय एव मानसिक विशेषताओ को। अतएव युग के अनुसार स्वप्न के लिए दमन का होना आवश्यक नही है।

फ्रायड लैगिक इच्छाओ की असतुष्टि पर ही अपने स्वप्न-सिद्धान्त में जोर देता है; क्योंकि उसके अनुसार इसी इच्छा का दमन होता है और इसी की अभिव्यक्ति भी होती है। लेकिन, युग इसपर विश्वास नही करता है। वह लैगिक के अतिरिक्त धार्मिक, सास्कृतिक आदि इच्छाओं को भी स्वीकार करता है। इसलिए किसी तरह की इच्छा की भी सतुष्टि युग के स्वप्न-सिद्धान्त के द्वारा होती है।

स्वप्नों की व्याख्या मे जिस अर्थ में फ्रायड ने अचेतन मन का व्यवहार किया है उससे भिन्न अर्थ में युंग ने अचेतन का व्यवहार किया है। फ्रायड का अचेतन व्यक्तिगत है; किन्तु युंग का अचेतन व्यक्तिगत एव जातीय दोनो प्रकार का है।

फ्रायड ने दूरस्थ अतीत के महत्त्व को स्वप्न में व्यक्त करते हुए कहा है कि हमारी शैशवकालीन स्मृतियाँ और इच्छाएँ अचेतन मे कर दी जाती हैं और उन्हीं की अभिव्यक्ति हमारे स्वप्नों द्वारा होती है। लेकिन

युंग के अनुसार वर्तमान की स्थिति और आवश्यकताओं की भी अभिव्यक्ति स्वप्न मे होती है तथा भविष्य में होनेवाली घटनाओं का आभास भी मिलता है। इसीलिए उसने स्वप्न को जीवन की तैयारी (Preparation for life) माना है।

फ्रायड ने स्वप्न के बाहरी पहलू पर जोर दिया है; किन्तु युंग इसे एक आवश्यक मानसिक क्रिया मानता है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि स्वप्नो के द्वारा हमारी जातीय एवं वाशिक विशेषताओं का दिग्दर्शन होता है। हमारी ये जातीय विशेषताएँ हमारे अज्ञात सामूहिक मन मे पड़ी रहती हैं और वे स्वप्न मे अभिव्यक्ति का अवसर पाती हैं।

प्रतीको को फ्रायड सामान्य और विधेयात्मक मानता है और उसने अपनी पुस्तक में एक विशद सूची भी इन प्रतीकों की दी है। युंग प्रतीकों को आत्मगत मानता है ; क्योकि इनका अर्थ समय और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। इस प्रकार फ्रायड जहाँ अपने स्वप्न-सिद्धान्त मे लैंगिक इच्छा की प्रधानता, प्रतीकों की विधेयात्मकता आदि पर जोर देता है वहाँ युंग हर इच्छा को प्रधान मानते हुए प्रतीकों के आत्मगत स्वरूप मे विश्वास करता है।

स्वप्न-विश्लेषण (Dream-Analysis)

स्वप्नों का अर्थ समझने के लिए स्वप्न का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए स्वतंत्र साहचर्य-विधि (Method of Free Association) का आश्रय लिया जाता है। जब कोई स्वप्नद्रष्टा अपना स्वप्न लेकर मनोविश्लेषक के पास जाता है तो वह मनोविश्लेषक उस स्वप्नद्रष्टा का पूरा व्यक्ति-इतिहास तैयार करता है। उसकी सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद वह उसके स्वप्न को अंकित कर लेता है। इसके बाद उसे एक ऐसे कमरे मे ले जाता है जो अर्द्ध प्रकाशित रहता है। तत्पश्चात उसे आराम - कुर्सी या पलग पर शिथिल होकर पड़ जाने का आदेश देते हुए आँखो को बन्द कर लेने को कहता है। उससे वह बार-बार अपने को किसी प्रकार के विचार या आलोचनात्मक वृत्ति से निर्मुक्त रखने को कहता है। जब स्वप्नद्रष्टा मनोविश्लेषक की आज्ञानुसार अपने को अभियोजित कर लेता है तब क्रमशः या अव्यवस्थित रूप से मनोविश्लेषक वर्णित स्वप्न के अंशो को उत्तेजना रूप मे देकर स्वप्नद्रष्टा का स्वतन्त्र-साहचर्य लेता है। वह उसे मन मे आए हुए किसी विचार या स्मृति को बिना किसी लज्जा या

हिचक के व्यक्त करने को कहता है। इस परिस्थिति में उस स्थल पर स्वप्नद्रष्टा और मनोविश्लेषक के अतिरिक्त और कोई नहीं रहता है। मनोविश्लेषक स्वप्नद्रष्टा की भाव-भंगिमा, साहचर्य, स्मृति आदि का निरीक्षण बहुत सावधानी के साथ करता है। इसके बाद जब मनोविश्लेषक को सभी आवश्यक सामग्रियाँ इस विधि से मिल जाती हैं तो वह प्रतीकों का आश्रय लेते हुए स्वप्न के अर्थ को निश्चित करता है। इस तरह वह स्वप्न-द्रष्टा के व्यक्तित्व का भी अध्ययन करता है। इसकी सफलता का अधिकांश श्रेय मनोविश्लेषक की योग्यता और उसके अनुभव को है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि स्वप्न-विश्लेषण भी दो दृष्टिकोणों से किया जाता है—विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से स्वप्न-विवेचन का अभिप्राय रहता है अचेतन की इच्छाओं का ज्ञान प्राप्त करना। फ्रायड इसी दृष्टिकोण का समर्थक है। संश्लेषणात्मक अध्ययन करने का ध्येय होता है स्वप्नद्रष्टा की भावी अभिलाषा तथा जीवन-सिद्धान्त को जानना। युंग ने अपने स्वप्न-विवेचन में दोनों ही दृष्टिकोणों का समन्वय किया है, इसलिए इस दिशा में उसे फ्रायड से अधिक सफलता मिली है।

स्वप्न-विवेचन की इस विधि में हमें यह नहीं भूलना होगा कि स्वप्न-विवेचन अधिकांशतः मनोविश्लेषक के वैयक्तिक विचारो से प्रभावित होता है। इसलिए वह जिस विचारधारा का पृष्ठपोषक होता है उसी के अनुसार स्वतन्त्र साहचर्य-विधि से प्राप्त सामग्री मे से कुछ सामग्रियो को चुनकर वह स्वप्न का अर्थ लगा लेता है। प्रतीको का अर्थ भी मनोविश्लेषक पर निर्भर करता है। इसलिए इस व्याख्या के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि इस विधि से स्वप्नद्रष्टा के मानस-जीवन पर प्रकाश पड़ता है और स्वप्न की व्याख्या भी कई स्थलो पर सफलता के साथ होती है; किन्तु इसपर मनोविश्लेषक के व्यक्तिगत विचारो का कम असर नही पड़ता है। यह निम्नांकित स्वप्न-विवेचन से और भी स्पष्ट हो जायगा।

एक व्यक्ति ने स्वप्न देखा कि 'वह अपनी माता और बहन के साथ सीढी पर चढ़ रहा था। उसकी माता पीछे थी और बहन साथ-साथ थी। जब वे छत पर पहुँचे तो उसकी बहन को बच्चा पैदा हुआ'। यह एक छोटा-सा स्वप्न है जिसकी व्याख्या फ्रायड के अनुसार यह है कि यह कामुक स्वप्न (Erotic dream) है जिसमें वर्जित संभोग (Incest) की भावना प्रबल है। भाई और बहन का साथ-साथ सीढी पर चढना लैंगिक संभोग (Sexual Inter-Course) का बोधक है। माता के साथ

भी ऐसी ही इच्छा उसमें थी; लेकिन उस इच्छा का दमन कर दिया गया था। इसलिए माता स्वप्न में पीछे है। छत पर पहुँचने पर बच्चे का पैदा होना लैंगिक सभोग का परिणाम है। यहाँ दोनों घटक (Contents) एक ही हैं।

स्वप्नद्रष्टा का जीवन-इतिहास जानकर जब इस स्वप्न की व्याख्या युंग के आधार पर की जाती है तो मालूम होता है कि वह युवक एक व्यापारी था, जिसे अपने व्यापार में हानि हो रही थी। माता को पीछे छोड़ने का अभिप्राय है, माता के प्रति कर्त्तव्य में पीछे पड़ना। सीढ़ी पर चढ़ने का अर्थ सन्निकट भविष्य में उन्नति करने से है। बहन को साथ लेकर चलना बहन के प्रति कर्त्तव्य-मार्ग पर डटे रहने से है। बच्चे का जन्म उस युवक के भावी जीवन के सुनहले पहलू का बोधक है। इसी प्रकार इस स्वप्न का अर्थ एडलर के अनुसार कुछ और ही है। अतएव स्वप्न-विवेचन के सम्बन्ध में हम यही कहना उचित समझते हैं कि स्वप्नो की व्याख्या जहाँ तक संभव हो वहाँ तक स्वप्नद्रष्टा के भाव, विचार और परिस्थिति आदि को ध्यान में रखकर करना चाहिए तभी स्वप्न की वास्तविकता का ज्ञान होना संभव है।

स्वप्न-विश्लेषण की दूसरी विधि भी है जिसे हम स्थानापन्न विधि (Cipher method) के नाम से पुकार सकते हैं। इस विधि से स्वप्न-विश्लेषण के लिए मनोविश्लेषक को अनुभवी होना आवश्यक नहीं है; क्योंकि इस विधि में प्रतीकों का ही महत्त्व है। प्रतीकों की सहायता से मनोविश्लेषक स्वप्न का अर्थ जानने मे समर्थ होता है; किन्तु यह विधि कदापि उपयुक्त और प्रतिपन्न नहीं कही जा सकती है। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि प्रतीकों का अर्थ स्थान और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता रहता है। अतएव इसकी त्रुटियों को ध्यान मे रखते हुए स्वप्न-विवेचन के लिए पहली विधि का आश्रय लेना ही हम श्रेयस्कर समझते हैं।

स्वप्न-अध्ययन की उपयोगिता

स्वप्न-अध्ययन की उपयोगिता पर विचार करने पर हम पाते हैं कि इसके अध्ययन से मानव-जीवन के कई पहलुओं मे लाभ होता है। आज क्या, फ्रायड के जीवन-काल से ही स्वप्न-विवेचन के द्वारा मानसिक रोगों के कारणों को जानने की परिपाटी चली आ रही है। इस विधि से जिस

आसानी के साथ रोगियों के मानस-जीवन का अध्ययन किया जाता है उतनी आसानी और किसी विधि में नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न के व्यक्तघटक असगत और निरर्थक मालूम होते हैं उसी प्रकार मनोविकृतियाँ भी निरर्थक और असगत मालूम होती हैं। बिना किसी शारीरिक कारण के पेट मे दर्द या शरीर के किसी अग विशेष में सवेदन-शून्यता का होना आदि किसी को भी विचित्र मालूम होते हैं। ऐसे मानसिक रोगो का कारण हमारे अचेतन मन मे छिपा रहता है, जिसकी जानकारी मनोविश्लेषण-विधि के द्वारा होती है। इस प्रकार स्वप्नो का विश्लेषण मानसिक रोगों के कारणो को जानने में सहायक होता है और उनकी चिकित्सा आसानी से होती है। फ्रायड, यु ग, प्रभृति विद्वानों ने रोगों की चिकित्सा में स्वप्नो की व्याख्या पर काफी जोर दिया है।

स्वप्न-विश्लेषण इस बात का साक्षी है कि सामान्य एव असामान्य मन में किसी प्रकार का मौलिक भेद नही है; क्योंकि मानसिक रोगियो में भी वे ही क्रियाएँ हैं जो सामान्य व्यक्तियों के स्वप्न मे। इस प्रकार स्वप्न-विश्लेषण सामान्य मन की क्रियाओं की वास्तविकता को जानने में सफल-मनोरथ होता है और इसके द्वारा धर्म, साहित्य, कला, सस्कृति आदि की व्याख्या संतोषप्रद होती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति स्वप्न में भयावह दृश्यों को देखता और भयभीत हो जाता है। कुछ लोग ऐसे स्वप्नों को देखकर वेहोश भी हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे मनोविश्लेषक स्वप्नद्रष्टा के स्वप्न का अध्ययन करके उसके वास्तविक अर्थ को व्यक्त कर देता है। जब स्वप्नद्रष्टा को वास्तविकता की जानकारी हो जाती है तब वह चिता और भय से निर्मुक्त हो जाता है। अगर स्वप्न-विश्लेषण संभव नही होता तो बहुत-से लोग अकारण भय और चिता के शिकार बने रहते हैं।

किसी की मनोवृत्ति, विचार आदि को जानने मे भी स्वप्न-विश्लेषण कम महत्त्वपूर्ण प्रमाणित नहीं हुआ है। एडलर, यु ग, फ्रायड, स्टेकेल प्रभृति कितने विद्वानों ने व्यक्तित्व को जानने के लिए स्वप्न-विश्लेषण विधि का आश्रय लिया है। आज भी लोग स्वप्नों को जानकर व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिसमें अत्यधिक वास्तविकता रहती है। इस विधि से व्यक्तित्व-अध्ययन करने का अभिप्राय होता है व्यक्ति के अचेतन मन का अध्ययन करना। इस प्रकार स्वप्न-विश्लेषण मानसिक रोगों के कारणों को जानने, व्यक्तित्व समझने, अचेतन मन की कार्यवाहियों

को परखने तथा सामान्य एवं असामान्य के बीच के मौलिक अन्तरों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है।

स्वप्न और मानसिक व्याधियाँ

हम स्वप्न के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्ततः उल्लेख कर चुके हैं। इसलिए इस स्थल पर स्वप्न और मानसिक व्याधियों पर तुलनात्मक प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है। स्वप्न और मनोविकृति (Psychosis) में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि कोई मनोविकृति का रोगी स्वप्न में बालात्कार (Rape) का स्वप्न देखे तो जगने पर उसमे गर्भधारण के व्यामोह (Delusion) का होना संभव है। कई ऐसे रोगियों का मनोविश्लेषण करके इस कथन की सत्यता प्रमाणित की गयी है कि मनोविकृत व्यक्ति का स्वप्न उसके व्यामोह (Delusion) का कारण हो सकता है। इन दोनों में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे इसीसे जाना जा सकता है कि जो व्यक्ति किसी प्रकार की मानसिक विकृति का शिकार रहता है उसकी मानसिक अवस्था मे सुधार होने पर उसके स्वप्न-घटकों में भी परिवर्तन आ जाता है। सैवेज (Savage) का कहना है कि जब मनोविकृति के रोगी की मानसिक अवस्था मे सुधार होने लगता है तो वह घर और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुन्दर स्वप्नों को ही देखता है। मनोविकृति के रोगियों के स्वप्न कभी सुखद-स्वरूप के नही होते, बल्कि तरह-तरह की उलझनो और संघर्षों के द्योतक होते हैं।

जिस प्रकार किसी प्रकार का भय व्यक्ति के भयावह और दुखद स्वप्न का कारण होता है उसी प्रकार पागलपन या अन्य व्याधियों का भय भी मनोविकृति को उत्पन्न करने मे सहायक होता है। जो व्यक्ति निरतर किसी भय-विशेष का शिकार बना रहता है वह मानसिक संघर्ष के कारण मानसिक बीमारियो से पीड़ित होता है। इस प्रकार स्वप्न और मनोविकृति का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। इसलिए जब कोई ऐसे भय से पीड़ित हो तो उसे किसी निपुण मनोविश्लेषक की सलाह से अपने भय को निर्मूल कर देना आवश्यक है ताकि वह किसी प्रकार के भयावह स्वप्न या घातक मनोविकृति का शिकार न हो सके।

इसी प्रकार स्वप्न और मनोस्नायुविकृति के सम्बन्ध पर विचार करने पर तो मालूम होता है कि इन दोनों में भी कम सम्बन्ध नही है। जिस प्रकार स्वप्न का सम्बन्ध हमारे अचेतन मन से रहता है उसी प्रकार मनोस्नायुविकृतियों का सम्बन्ध भी उसी अचेतन मन से रहता है।

उन्माद ग्रस्त रोगी जब सोते समय स्वप्नचारिता (Somnambulism) का प्रदर्शन करता है तो उस समय वह वस्तुतः नींद में नहीं चलता या किसी प्रकार की क्रिया भी नहीं करता है ; बल्कि उस समय वह स्वप्न में ही ऐसा करता है। मनोस्नायुविकृति के रोगी का अनुभव और स्वप्नद्रष्टा का अनुभव दोनों ही विभ्रमात्मक (Hallucinatory) स्वरूप के होते हैं और दोनों के अनुभवो मे साहचर्य-क्षमता सीमित रहती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वप्न के अनुभव विभ्रम के समान होते हैं उसी प्रकार इस व्याधि से युक्त रोगी भी तरह-तरह के विभ्रमों के शिकार होते हैं। लेकिन, दोनो ही अवस्थाओ में व्यक्ति की विवेचनात्मक शक्ति इतनी निर्बल होती है कि वह उसे उस दृष्टि से देखने में असमर्थ हो जाता है।

जिस प्रकार हिस्टिरिया का रोगी अपने रोग के आक्रमण के अनुभवों को स्मृतिभ्रंशता के कारण प्रत्यावाहित करने मे समर्थ नही होता उसी प्रकार स्वप्न-द्रष्टा भी अपने सभी स्वप्न के अनुभवो को प्रत्यावाहित करने मे समर्थ नही होता है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि स्मृतिभ्रंशता (Amnesia) जिस प्रकार उन्माद में पूर्णरूप मे देखने मे आती है उस प्रकार स्वप्न के सम्बन्ध मे नही कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि हम लोग स्वप्न के यदि सर्वांग को नहीं भूलते तो कुछ अंशों को अवश्य ही भूल जाते हैं। हाँ, कभी कभी स्वप्न मे भी यह भ्रंशता अपने पूर्ण रूप मे दृष्टिगोचर होती है और हम कुछ प्रत्यावाहन करने मे समर्थ नहीं होते।

जिस प्रकार स्वप्न मे मानसिक विच्छेद (Mental Dissociation) की प्रबलता और संश्लेषण (Synthesis) की निर्बलता रहती है उसी प्रकार मनोस्नायुविकृति में भी मानसिक विच्छेद की प्रधानता और संश्लेषण का अभाव रहता है। तभी तो व्यक्ति दोनों अवस्थाओं मे किसी प्रकार का तर्क करने में असमर्थ होता है।

पुनरावर्तक स्वप्न और रात्रिअश्वा (Night mares) बाध्यता (Obssession) और आतंक (Phobias) के ही स्वरूप के हैं। जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा एक ही स्वप्न को बार-बार देखता है और भयावह स्वप्नों को देखकर भयभीत हो जाता है उसी प्रकार बाध्यता मनोस्नायुविकृति में एक ही विचार बार-बार रोगी के मन मे आया करता है। आतंक में जैसे रोगी विभिन्न पदार्थों और विचारो से भयभीत होता है उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा भी रात्रिअश्वा की अवस्था में अत्यधिक भयभीत हो जाता है।

स्वप्न में जिस प्रकार मानसिक संघर्ष और दमन का हाथ रहता है और स्वप्न इन्हीं के परिणामस्वरूप होते हैं उसी प्रकार मनोस्नायुविकृति मे भी मानसिक सघर्ष और दमन की प्रधानता पायी जाती है। विस्थापन, प्रतीकी-करण आदि जिस प्रकार स्वप्न में पाये जाते हैं उसी प्रकार मनोस्नायुविकृति में भी पाये जाते हैं। विस्थापन और प्रतीको के द्वारा व्यक्ति की इच्छाएँ जिस प्रकार स्वप्न में छद्म वेश में सतुष्ट होती हैं उसी प्रकार उसकी दबी इच्छाओ की सतुष्टि इन रचनाओं के द्वारा मनोस्नायुविकृति मे भी होती है। इस प्रकार दोनों ही अचेतन मन से आबद्ध होने के कारण कई दृष्टिकोणो से अत्यधिक मिलते-जुलते हैं।

तेरहवाँ अध्याय

सम्मोहन (Hypnotism)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सम्मोहन के विकासात्मक (Developmental) इतिहास पर दृष्टिपात करने पर मालूम होता है कि आज हम जिस रूप में इसे पाते हैं वह इसका प्रारम्भिक रूप नहीं है ; बल्कि कई अवस्थाओं से होकर इसका परिवर्त्तित रूप ही हमारे सामने है। सन् १८४५ ई० मे मॉर्टन (Morton) नामक दन्त-चिकित्सक ने जब ईथर (Ether) के अवेदक (Anaes-thetic) प्रभाव को प्रदर्शित करते हुए यह प्रमाणित कर दिया कि बिना किसी वेदना के आपरेशन करना सभव है तो उसे अमरीकन कॉंग्रेस ने, उसके इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए, पुरस्कार उद्घोषित किया। किन्तु, उसी समय जेम्स एसडेली (James Esdaile) ने, जो बृतानिया का एक चिकित्सक था, एक पत्र द्वारा उस कॉंग्रेस को यह सूचित किया कि ईथर का उद्घाटन होने के पहले से इङ्गलैण्ड मे सन् १८४२ ई० से ही इस प्रकार का वेदना-विहीन आपरेशन होता आया है। अपने उस पत्र में उसने उन अस्पतालो का भी उल्लेख किया जहाँ ऐसे आपरेशन सन् १८४५ ई० के पूर्व से होते आये थे ; लेकिन उसके ऐसे पत्र का आशय यह कदापि नहीं था कि वह स्वय पुरस्कार पाने का इच्छुक था। उसने उस समय उसी व्यापार (Phenomenon) की चर्चा आपरेशन के महत्त्व मे की थी जिसे आज हम सम्मोहन के नाम से जानते हैं; लेकिन उस समय इसका यह नाम नहीं था। वस्तुतः उस समय चिकित्सा-जगत मे सम्मोहन का अत्यधिक बोलबाला था और यदि अन्य अवेदक तथ्यो का उदघाटन न हुआ होता तो आज के इस युग में भी इस कार्य के लिए चिकित्सकों या अन्य व्यक्तियों को इसी का आश्रय लेना पड़ता।

आज के सम्मोहन का वीजतत्त्व (Element) हमें फ्रैंज एण्टन मेस्मर (Franz anton Mesmer), जो सन् १७३६ से सन् १८१५ ई० तक था, की चिकित्सा-प्रणाली में, जिसे मेस्मरिज्म (Mesmerism) कहते हैं, मिलता है। वह एक सम्पत्तिशाली एवं

संभ्रान्त व्यक्ति था। उसका निवासस्थान इतना सुन्दर था कि उसे देखते ही बनता था। जिस कमरे मे वह रोगियों की चिकित्सा करता था वह इतना मुग्धकारी था कि वहाँ जाते ही रोगी मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। खिड़की और दरवाजों पर पर्दे तथा दीवारों पर शीशे सुन्दर ढग से व्यवस्थित थे। बाहर से किसी तरह की आवाज आने की गु जाइश नही थी। वह कमरा ऐसा था जिसे हम अर्द्ध प्रकाशित कह सकते हैं। कमरे के बीच में गोलाकार हौज में पानी की व्यवस्था थी। उसी को घेरकर रोगी बैठते थे। किसी को आपस में बात करने या कानाफूसी करने का प्रोत्साहन नही मिलता था। सभी रोगी एक दूसरे की उ गली को स्पर्श किये रहते थे। इसी समय मेस्मर दूसरे कमरे से चिकित्सा के कमरे मे प्रवेश करता था। उसकी वेश-भूषा अत्यधिक सुसज्जित और सामान्य· जनता से भिन्न रहती थी। उसके हाथ मे एक छोटा-सा लम्बा दण्ड (Wand) रहता था, जिसमे चुम्बक था। वह इसको सबके मस्तक के ऊपर से घुमाता था। उसी समय दूसरे कमरे से तालमय सगीत की ध्वनि भी आती थी। रोगी उसकी इस कार्य-पटुता से इतना मंत्र-मुग्ध हो जाते थे और उसके व्यक्तित्व मे इतनी श्रद्धा करते थे कि उनके रोग आत्मनिर्देशन (Autc-sugaestion) के फलस्वरूप नष्ट हो जाते थे। बाद मे मेस्मर स्वय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चुम्बकीय दण्ड (Magnetic wand) के फलस्वरूप रोगी अच्छे नही होते हैं; बल्कि उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से ही वे रोग-निमु क्त होते हैं। लेकिन, उस समय वह इस मानसिक पहलू के महत्त्व को निश्चयात्मक रूप से नही व्यक्त कर सका। वह तब अप्रत्यक्ष रूप से समूचन (Suggestion) के द्वारा रोगियों को चगा करने लगा। उसकी चिकित्सा-प्रणाली की सर्व-प्रियता इतनी बढ गयी कि दूर-दूर से रोगी आने लगे। लेकिन, फ्रासीसी सरकार ने सन् १७८४ ई० की समिति की रिपोर्ट के अनुसार उसके सामाजिक भाषण एवं चिकित्सा-विधि पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अन्य चिकित्सकों ने भी उसकी काफी आलोचना की। इसलिए सन् १७८४ ई० के बाद वह एक ग्रामीण जीवन (स्वीट्जरलैण्ड) व्यतीत करते हुए सन् १८१५ ई० तक अपनी चिकित्सा का आश्रय लेता रहा। और जब मरा तब उस समय फ्रास मे उसके मेस्मरिज्म को आश्रय देनेवाला कोई नहीं रह गया था, किंतु इ गलैण्ड मे दो ऐसे व्यक्ति थे जो मेस्मरिज्म को काफी प्रोत्साहित कर रहे थे।

इ गलैण्ड मे जॉन इलियाट्सन (John Elliotson) मेस्मरिज्म में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित कर रहा था और इसे प्रोत्साहित भी करता था। किन्तु उसकी अभिरुचि इसके औपचारिक महत्त्व मे नहीं; बल्कि अवेदक-

(Anaesthetic) पहलू मे थी। इस प्रकार चिकित्सकों ने इसे आश्रय दिया, किंतु उनके अपनाने का दृष्टिकोण मेस्मर से पूर्णतः भिन्न था।

जब इंगलैण्ड और फ्रांस में मेस्मरिज्म के सम्बन्ध मे तरह-तरह के विचारों का खण्डन और मण्डन हो रहा था उसी समय भारतवर्ष के कलकत्ता नगर में जेम्स इस्डेली (James Esdaile) इसका जोरों से प्रचार कर रहा था। वह एक अस्पताल का उच्चपदस्थ अधिकारी था और स्वय मेस्मरिज्म के अवेदक पहलू मे अत्यधिक अभिरुचि रखता था। रोगियों के आपरेशन में उसने अगो को संवेदना-शून्य बनाने मे इसका व्यवहार किया। इसके सहारे कितने ही रोगियों का आपरेशन उसने अपने अस्पताल में किया। उसके इस चमत्कार से रोगियो की संख्या बढने लगी, जिसका उल्लेख उसने स्वय किया है। जब वह कार्यभार से अवकाश ग्रहण करके अपने देश लौटा तो भी वह इस कार्य को अच्छाई के साथ करते हुए मेस्मरिज्म का प्रचार करता रहा।

यो तो जेम्स ब्रेड (James Braid) के बहुत पहले सन् १८१४ ई० में अवेफेरिया (Abbefaria) ने सम्मोहन के कई पहलुओ का अनुमान किया था; किन्तु जब जेम्स ब्रेड ने एक मेस्मरिस्ट को मेस्मरिज्म के चमत्कारों को प्रदर्शित करते हुए देखा तो उसकी अभिरुचि सन् १८४१ ई० में इधर झुकी। उसने स्वय प्रयोगों की व्यवस्था कर अपने एक मित्र को बोतल की गर्दन पर ध्यानावस्थित होने को कहा जो थोड़ी देर बाद पूर्णतः नींद के समान निष्क्रिय हो गया। अपनी स्त्री तथा अन्य लोगों पर प्रयोग करके भी वह इसी परिणाम पर पहुँचा और निष्कर्ष-स्वरूप उसने यह व्यक्त किया कि मेस्मरिज्म की सफलता प्रयोज्य (Subject) की शारीरिक एव मानसिक अवस्था पर निर्भर करती है, प्रयोक्ता (Experimenter) पर नहीं। इस प्रकार उसने अपने नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस नये मनोवैज्ञानिक व्यापार (Phenomenon) को सम्मोहन Hypnotism) के नाम से अभिव्यक्त किया। उसने सन् १८४३ ई० मे अपने सिद्धान्त को प्रकाशित भी किया, जिसकी उस समय अत्यधिक आलोचना हुई। यहाँ यह स्मरणीय है कि उसने इस व्यापार को स्नायुनिद्रा (Nervous Sleep) भी व्यक्त किया। इस स्थल पर यह व्यक्त कर देना अप्रासगिक नही होगा कि प्रारभ मे ब्रेड ने ज्ञानात्मक स्थिरीकरण (Sensory fixation) पर जोर देकर इसके दैहिक (Physiological) पहलू पर ही जोर दिया; किन्तु बाद में उसने ससूचन के महत्त्व को स्वीकार किया और इसके वैज्ञानिक पहलू पर विशेषरूपेण जोर दिया।

इसीलिए बोरिंग (Boring) का कहना है कि सम्मोहन का वास्तविक अध्ययन ब्रेड से ही वैज्ञानिक जगत मे प्रारंभ हुआ।

सन् १८७५ ई० मे रीचेट (Richet) ने एक मनोवैज्ञानिक पत्रिका में सम्मोहन पर एक अधिकारपूर्ण लेख प्रकाशित किया। इसका पृष्ठपोषण शार्को (Charcot) ने बाद मे पेरिस मे किया, जिसके फलस्वरूप वैज्ञानिक जगत से लगा हुआ प्रतिबन्ध इसपर से हट गया। इसी समय नान्सी (Nancy) मे बर्न्हेम (Bernheim) भी सम्मोहन के अध्ययन मे सलग्न था, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके स्वरूप के सम्बन्ध में दोनो विद्वानों तथा उनके अनुयायियो में विवाद उपस्थित हो गया जो आज भी उसी रूप मे बना हुआ है। शार्को ने इसे कृत्रिम तरीके से प्रेरित स्नायुविकृति (Artificially induced neurosis) व्यक्त किया, किन्तु बर्नहेम (Bernheim) ने इसके मनोवैज्ञानिक पहलू पर जोर देते हुए विवृद्धससूचनशीलता की अवस्था (Condition of increased Suggestibility) कहा।

सम्मोहन का स्वरूप (Nature of Hypnotism)

हम अभी ऊपर यह व्यक्त कर चुके हैं कि इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे शार्को और बर्नहेम में मतभेद हो गया; क्योंकि दोनों विद्वानों ने इसकी व्याख्या विभिन्न रूपों से की। इसी प्रकार अन्य कई विद्वानो ने भी अपना मत इसके स्वरूप के विषय मे प्रकट किया; किन्तु उनका उल्लेख करना हम इस स्थान पर आवश्यक नहीं समझते हैं। इसके विभिन्न सिद्धान्तों पर विवेचनात्मक प्रकाश डालने पर पाठकों को इसके स्वरूप का ज्ञान स्वतः हो जायेगा। अतएव यहाँ विभिन्न मतमतातरों के पचड़े मे न पड़कर हम यह कहना उचित समझते हैं कि यह हमारे मन की वह अचेतनावस्था है जिससे हममे ससूचनशीलता (Suggestibility) की अत्यधिकता रहती है और हम पूर्णतः प्रयोक्ता के इच्छानुसार क्रिया-कलाप करते हैं। हमारा यह विचार कहाँ तक ग्राह्य है, इसका ज्ञान पाठकों को सिद्धान्तों के प्रसग में हो जायेगा, अतएव यहाँ अनावश्यक समय लेना श्रेयस्कर प्रतीत नही होता है।

सम्मोहन-विधियाँ (Methods of Inducing Hypnosis)

इसके स्वरूप का सक्षिप्त उल्लेख कर देने के बाद यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि किसी व्यक्ति विशेष (प्रयोज्य) को सम्मोहित कैसे किया जाता है? यदि इस प्रश्न पर हम गभीरतया विचार करें और उन विभिन्न विधियो

का अध्ययन करे जिनका व्यवहार अन्य विद्वानो ने इस व्यापार को प्रदर्शित करने के लिए किया है तो मालूम होगा कि सम्मोहित करने के लिए एक नही, अपितु कई विधियाँ हैं। लेकिन, उन सबका विभाजन हम दो वर्गो मे कर सकते हैं—भौतिक (Physical) तथा मानसिक (Mental)।

जब कोई प्रयोक्ता किसी प्रयोज्य को सम्मोहित करने के लिए किसी वस्तु या अपने से भिन्न उत्तेजना विशेष का व्यवहार करता है तो इसे सम्मोहन की भौतिक विधि कहते हैं। इस विधि के अन्तर्गत दृष्टि-उत्तेजना (Visua stimulus) का उल्लेख एव व्यवहार प्रारंभ से ही चला आ रहा है। इस विधि से किसी व्यक्ति को सम्मोहित करने के लिए प्रयोक्ता उसे शान्त-चित्त बैठकर चमकीले प्रकाश पर ध्यानावस्थित होने के लिए कहता है, जिसके फलस्वरूप वह क्रमशः सम्मोहित हो जाता है। कुछ कम्पनियों ने इस कार्य के लिए ऐसे चमकीले गेंद का निर्माण किया है, जिसको प्रयोज्य के मस्तक से तार के सहारे इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया जाता है कि ऊपर आँख करने पर वह किसी तरह उसे देखने मे समर्थ होता है। जब प्रयोक्ता उसे अपनी आँखों को उस गेंद पर लगाने को कहता है तो वैसा करने से उसके नेत्रस्नायुओ (Eye Muscles) में थकावट हो जाती है और वह स्वय सम्मोहित हो जाता है। इस गेंद-पद्धति को कुछ विद्वानों ने सम्मोहन का सहायक माना है; किंतु अधिकांश पडितो ने इसे निरर्थक प्रमाणित किया है। जो कुछ भी हो; किंतु इतना निर्विवादतः प्रमाणित है कि प्रकाश प्रभृति दृष्टि-उत्तेजनाएँ आँखो के बन्द होने और सम्मोहित होने मे अत्यधिक लाभप्रद हैं। इन उत्तेजनाओं का असर कुछ प्रयोज्यो पर नही भी पड़ता है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि जब किसी को सम्मोहित करने के लिए किसी दृष्टि-उत्तेजना का व्यवहार किया जाता है तो वह उत्तेजना इस प्रकार व्यवस्थित की जाती है कि वह आँख के धरातल से थोड़ी-सी ऊपर रहती है। उसी उत्तेजना पर प्रयोज्य को अपनी आँखों को लगाने को प्रयोक्ता आदेश देता है। ऐसा करने के लिए प्रयोज्य को अपनी आँखों को कुछ ऊपर करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसकी पपनियाँ बन्द-सी हो जाती हैं। यदि वह उपयुक्त विचारों मे मग्न रहता है तो उसे निद्रा की भी अनुभूति होती है, जिसे कि हम सम्मोहनावस्था कहते हैं। लेकिन, इस विधि के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रयोज्य को अन्य प्रकार की शाब्दिक या भौतिक उत्तेजनाओं से प्रभावित न किया जाय तो सिर्फ किसी प्रकाश या वस्तु विशेष पर एकटक देखने मात्र से वह कदापि सम्मोहित नहीं हो सकता है।

इस दिशा में दूसरी विधि के विद्वानों ने ध्वन्यात्मक उत्तेजना (Auditory stimulus) को व्यक्त किया है। इसमें एक ही वाक्य या वाक्यांश की पुनरावृत्ति, घड़ी की टिकटिक अथवा मेट्रीनोम नामक यन्त्र की ध्वनि का व्यवहार किया जाता है। इन ध्वनियों मे से किसी की भी पुनरावृत्ति नीरस (Monotonous) प्रतीत होती है; लेकिन बिना ध्यानावस्थित हुए प्रयोज्य किसी ऐसी ध्वनि से सम्मोहित होगा, यह संशयास्पद है। डोर्कस तथा शेफर (Dorcus and Shaffer) ने एक प्रयोज्य पर ध्वन्यात्मक उत्तेजना के साथ प्रयोग किया ; किंतु उन्हें अपने कार्य मे सफलता नहीं मिली। बाद में जब उसी प्रयोज्य को उन्होंने घड़ी की ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनने का निर्देश दिया और उसे अकेले छोड़ा तो पाँच मिनट के बाद पुनः कमरे मे प्रवेश करने पर उसे सम्मोहित पाया।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने त्वक-उत्तेजना के व्यवहार का प्रतिपादन किया है और कितनों को इसमें सफलता भी मिली है। प्रयोज्य के हाथ, पैर, या पपनी को सुहलाना या स्पर्श करना सम्मोहन के लिए लाभप्रद प्रमाणित हुआ है ; किंतु सभी प्रयोज्यों के साथ यह विधि उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकी है।

जेस्ट्रा (Jastrow), शिल्डर (Schilder) प्रभृति विद्वानों ने सम्मोहन के लिए निद्राकारी द्रव्यों (Narcotic Drugs) की सेवन-विधि का व्यवहार किया है और वे अपने प्रयोज्य को सम्मोहित करने मे सफल भी हुए हैं; किन्तु इस विधि पर विद्वानों ने आपत्ति की है। निद्राकारी पदार्थों का सेवन कराकर किसी व्यक्ति को सम्मोहित करना आसान अवश्य है; किन्तु उसकी यह अचेतनावस्था सम्मोहन के कारण है या उस निद्राकारी द्रव्य के सेवन के कारण, यह कहना कठिन है। इस दिशा मे जिन विद्वानों ने कार्य किया है उन्होंने इस विधि को विशेष लाभकारी नहीं बताया है।

अब इन विभिन्न विधियों का उल्लेख कर देने के बाद निष्कर्ष-स्वरूप यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इस दिशा में किये गये प्रयोगों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि यदि इन विधियों को एक साथ व्यवहार किया जाय तो किसी को सम्मोहित करने मे अवश्य सफलता मिलती है। किसी एक विधि का सार्थक होना प्रयोज्य और उसकी मनोवृत्ति (Attitude) पर निर्भर करता है ; क्योंकि जब तक प्रयोज्य की मनोवृत्ति प्रयोक्ता के प्रति सहकारी (Co-operative) नहीं रहेगी तब तक कोई विधि उसे सम्मोहित करने में सफल नहीं हो सकती है। अतएव यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि भौतिक विधि अकेले किसी को सम्मोहित करने में सफल

नहीं होती है। जहाँ कहीं इस विधि से सफलता मिलती है वहाँ प्रयोज्य की मनोवृत्ति प्रयोक्ता के प्रति सहकारी रहती है, अन्यथा ऐसा कदापि सम्भव नही होता।

मानसिक विधि से किसी व्यक्ति को सम्मोहित करने के लिए उसके विचारो को एक दिशा विशेष में प्रवाहित किया जाता है। ब्रेड Braid), बर्नन्हेंम प्रभृति विद्वानों ने इसी मानसिक विधि द्वारा प्रयोज्यो को सम्मोहित किया। उनकी इस विधि मे ससूचन की प्रधानता थी; क्योंकि उन लोगो ने किसी यत्र का व्यवहार नही किया था। इस विधि का व्यवहार करने के लिए प्रयोज्य को सम्मोहन के सम्बन्ध मे व्यक्त कर दिया जाता है और प्रयोज्य का मन सम्मोहित होने के लिए सहसा या इच्छानुकूल तत्पर रहता है। उसे यह कह दिया जाता है कि सम्मोहन की अवस्था नींद की अवस्था नहीं है; बल्कि उससे भिन्न है। हाँ, सुविधा के लिए प्रयोक्ता नींद का ही व्यवहार करते हैं। यह पूर्ण शिथिलता (Complete relaxation की बहुत आनन्दकारी अवस्था है; जिसमे प्रयोज्य प्रयोक्ता को हर प्रकार से सहयोग देने के लिए तैयार रहता है। वह प्रयोक्ता के अनुकूल ही सब कुछ इस अवस्था मे करता है; किन्तु प्रयोक्ता कोई भी काम उससे ऐसा नही करवाता जो उसके लिए घातक या अनैतिक हो। इसके बाद इसी प्रसग में प्रयोक्ता उससे यह भी कह देता है कि सम्मोहन के बाद वह स्वयं सामान्यावस्था मे आ जायेगा और उसी ताजगी तथा आराम का भी अनुभव करेगा। इन्हीं सब बातो को इस तरह समझाकर प्रयोज्य को कह दिया जाता है कि वह इन्हें अच्छी तरह समझ जाता है। कभी-कभी इन बातों को दुहराने की भी जरूरत पड़ती है। यदि प्रयोज्य अभ्यस्त व्यक्ति रहता है तब उसे इन्हीं बातो से सम्मोहित कर दिया जाता है; लेकिन जब प्रयोज्य नया रहता है तो उससे यह स्पष्ट कह दिया जाता है कि पहली बार मे सम्भव है कि वह शिथिलता मात्र का अनुभव करे और सम्मोहित न हो सके। इसलिए कई प्रयासों की आवश्यकता सम्मोहित करने के लिए पड़ सकती है। इन बातो को स्पष्ट करने का एकमात्र ध्येय प्रयोक्ता का यही रहता है कि प्रयोज्य पहली या दूसरी बार सम्मोहित न होने पर निराश न हो जाय और आगे चलकर प्रयोक्ता को सहयोग देना न छोड़ दे।

इस विधि से सम्मोहित करने के लिए प्रयोज्य को आरामदायक बिस्तर पर लेट जाने या आराम कुर्सी पर शिथिल होकर बैठने को कह दिया जाता है। इसके बाद उसे सिर्फ प्रयोक्ता की ओर देखने को कहा जाता है। उससे यह भी कह दिया जाता है कि जो कुछ प्रयोक्ता कह रहा है उसी को

वह ध्यानपूर्वक सुने या उसी पर चिंतन करे और अन्य किसी विचार को अपने मन मे न आने दे। इस प्रकार जिस अवस्था मे वह रहे और प्रयोक्ता जो कहे उन दोनों पर विचार करने के अतिरिक्त उसे अन्य विषयों को मन से निकाल देने को कहा जाता है। इसी के अन्तर्गत उससे यह भी प्रयोक्ता कह देता है कि वह क्रमशः नींद का अनुभव करेगा और उसकी आँखे नींद के कारण भारी हो जायेगी और ऐसा होने पर उसे वैसा ही होने के लिए भी कह दिया जाता है। इस प्रकार प्रयोक्ता इन्हीं वाक्यो की पुनरावृत्ति करता रहता है जो नीरस भी होते हैं; किन्तु जबतक प्रयोज्य सम्मोहित नही हो जाता तबतक वह ऐसे ही वाक्यो को दुहराता रहता है। "आपको नींद आ रही है, आपकी पलके भारी हो रही हैं, देखिये आपने पलको को गिरा दिया है, अब उन्हे आप खोल नही सकते हैं, आप पूरी नींद मे सो गये आदि।" जब प्रयोक्ता यह देखता है कि प्रयोज्य क्रमशः सम्मोहनावस्था मे प्रवेश कर रहा है तब उसकी परीक्षा के लिए, उसके हाथ मे कोई चीज रखते हुए उसे मुट्ठी मे बन्द रखने का आदेश देने के बाद वह उससे कहता है कि चाहने पर भी वह अपनी मुट्ठी को नही खोल सकता है। जब प्रयोज्य मुट्ठी खोलने मे असमर्थ हो जाता तो प्रयोक्ता को उसके सम्मोहित होने के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। इस विधि से सम्मोहित करने के लिए अपेक्षित काल के बारे मे निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है; कुछ प्रयोज्य एक से पन्द्रह मिनट के भीतर सम्मोहित हो जाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो एक घण्टे से भी अधिक समय ले लेते हैं। आजकल उपर्युक्त संसूचनों को देने के लिए ग्रामोफोन रेकार्ड का व्यवहार किया जाता है जिससे अत्यधिक सफलता मिल रही है।

इस प्रसंग मे यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वस्तुतः भौतिक और मानसिक विधियों को पूर्णतः एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता है; क्योंकि भौतिक विधि से किसी को सम्मोहित करने मे कदापि सहायता नही मिलती है और न मिल सकती है जब तक प्रयोज्य की मनोवृत्ति इसके लिए अनुकूल न हो। इस विधि के सफल होने के लिए प्रयोज्य का सहयोग भी कम प्रभावशाली नही होता है। भौतिक विधि का उपयोग केवल प्रयोज्य के ध्यान को केन्द्रीभूत करने के लिए किया जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विधि मे प्रयोज्य को अपने सहयोग एवं अनुकूल मनोवृत्ति की चेतना नहीं रहती है। मानसिक विधि से प्रयोज्य के मन को चेतनतया तथा सावधानी के साथ सम्मोहित होने के लिए तैयार किया जाता

है ; लेकिन इसमें भी भौतिक-विधि के बीजतत्त्व, यथा, शाब्दिक उत्तेजना मुखमण्डल, आसन आदि प्रयोक्ता के सन्निहित रहने हैं और इस प्रकार भौतिक उत्तेजना भी प्रयोज्य को मिलती है। इसलिए हम निष्कर्ष रूप मे यह कह सकते हैं कि दोनो में से कोई भी विधि दूसरे को पूर्णतः तिरस्कृत नहीं करती। इसलिए कोई भी विशुद्ध मानसिक या भौतिक विधि नहीं कही जा सकती है। वस्तुतः दोनो को एक दूसरे का श्रेय प्राप्त है।

सम्मोहन के आवश्यक अंग

(Necessary Conditions of Hypnosis)

किसी को सम्मोहित करने के लिए कई बातो को ध्यान में रखना आवश्यक है ; क्योंकि कोई प्रयोक्ता सभी को सम्मोहित कदापि नहीं कर सकता। वस्तुतः सभी व्यक्ति समान मात्रा में संसूचनशील (Suggestible) नहीं होते, इसलिए प्रयोज्य का समुचित चुनाव नितांत आवश्यक है। यह सामान्य विचार-धारा कि स्त्रियाँ पुरुषो और बच्चे सयानों की अपेक्षा अधिक संसूचनशील होते हैं, पूर्णतः प्रमाणित नहीं हो सका है। इतना ही नही, इस सम्बन्ध मे यह कथन कि सवेगात्मक असतुलन (Emotional unbalance) और व्यवसाय-निर्बलता (Volitional weakness) सम्मोहन के लिए जरूरी है, इसकी भी सर्वांग सत्यता प्रमाणित नही हो सकी है। इस प्रकार, इसके सम्बन्ध में और भी कई प्रकार के कथन मिलते हैं। किंतु, डोर्कस (Dorcus) तथा शेफर (Shaffer) ने सम्मोहन के लिए तीन अंगों को प्रधान माना है। सफल सम्मोहन के लिए प्रयोज्य के पूर्व अनुभव, प्रयोक्ता का व्यक्तित्व तथा सम्मोहन-विधि आवश्यक अग हैं; क्योंकि किसी व्यक्ति का सम्मोहित होना या न होना इन्ही तीन बातों पर पूर्णतः निर्भर करता है।

प्रयोज्य के पूर्व अनुभव :—सफल सम्मोहन का सर्वप्रधान अंग प्रयोज्य के पूर्व अनुभव हैं; क्योंकि जो प्रयोज्य पहले अभ्यास के कारण सम्मोहित हुआ रहता है वह इसकी गतिविधि से पूर्णतः परिचित रहता है और वह प्रयोक्ता को अपना सहयोग प्रदान भी करता है। उसमे किसी प्रकार के ऐसे विचार या व्यवहार का अभाव रहता है जो सम्मोहन के लिए घातक प्रमाणित हो। नये प्रयोज्य को सम्मोहित करना खतरे से खाली नहीं रहता। उसे इसका कुछ भी ज्ञान नहीं रहने के कारण उसको सम्मोहित करना कठिन हो जाता है;

क्योंकि वह प्रयोक्ता को सशय की दृष्टि से देखने के कारण उसको अपना सहयोग प्रदान नहीं करता है। इसके अतिरिक्त, वह अत्यधिक आलोचनात्मक ढंग से उसकी बातों पर विचार करता है। इसलिए उसे सम्मोहन के लिए ससूचित करना कठिन हो जाता है। अतएव इतना नर्विवादतः कहा जा सकता है कि सम्मोहन की सफलता के लिए अभ्यस्त प्रयोज्य का होना अनिवार्य है।

जहाँ तक ससूचनशीलता (Suggestibility) में लिंग-भिन्नता का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि संसूचन या परिस्थिति विशेष मे औरते पुरुषो की अपेक्षा अधिक संसूचनशील होती हैं। वार्नर ब्राउन (Warner Brown) ने इस दिशा मे जो प्रयोग किया है उसके अध्ययन से स्पष्ट है कि यद्यपि संसूचनशीलता विभिन्न संसूचनों मे विभिन्न मात्रा की होती है तथापि औरतो मे इसकी विशेष मात्रा पायी जाती है। उसके अन्य प्रयोगो मे यद्यपि प्रतिकूल परिणाम भी मिले हैं; लेकिन समग्र परिणामों को ध्यान मे रखते हुए उसने औरतों को ही अधिक ससूचनशील व्यक्त किया है। विनीतता (Submissiveness), मनोस्नायुविकृतिशीलता (Neuroticism), अन्तर्मुखता (Introversion) आदि विशेषताएँ भी सम्मोहन के सहायक अग हैं। लेकिन, कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि जिन व्यक्तियों मे ये विशेषताएँ नहीं रहतीं वे भी सरलतया सम्मोहित हो जाते हैं। अतएव हम यह कहना उचित समझते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ, जिनमें प्रायः उपर्युक्त विशेषताएँ पायी जाती हैं, सम्मोहन के लिए उपयुक्त प्रयोज्य होती हैं। इसी प्रकार बच्चो और प्रौढो पर जितने प्रयोग हुए हैं उनका अध्ययन इसका साक्षी है कि बच्चे प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक संसूचनशील होते हैं तथापि विशिष्ट ससूचन से सामान्य संसूचन मे प्रवेश करते समय प्रयोक्ता को अत्यधिक सावधान होने की आवश्यकता पड़ती है।

इस स्थल पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि ऊपर संसूचनशीलता के दृष्टिकोण से स्त्रियों और बच्चों को पुरुषों तथा प्रौढों की अपेक्षा श्रेष्ठ व्यक्त किया गया है; किन्तु सम्मोहन के लिए प्रयोज्य का चुनाव करना आसान कार्य नहीं हैं। यद्यपि परिस्थिति विशेष मे ससूचन विशेष के लिए औरतों और बच्चों की श्रेष्ठता प्रमाणित हो चुकी है; लेकिन हमें यह भूलना होगा कि अति चिन्तित (Over anxious) और आलोचनात्मक मनोवृत्ति के प्रयोज्य को सम्मोहित करना कठिन है। डोर्कस तथा शेफर का भी यही कहना है कि जो संसूचनों की उपेक्षा करे या अति आकुल हो उसे सम्मोहित करना कठिन है।

इसलिए हम निष्कर्ष-स्वरूप यह कहना उचित समझते हैं कि जो व्यक्ति अनिश्चित मानसिक अवस्था में हो वही सुन्दर और उपयुक्त प्रयोज्य हो सकता है। लेकिन, यहाँ यह स्मरणीय है कि इस अवस्था में भी जो व्यक्ति एक उत्तेजना विशेष से सम्मोहित हो सकता है वह दूसरी उत्तेजना से सम्मोहित नहीं भी हो सकता है। इसलिए परिस्थिति और उत्तेजना की विशिष्टता की हम कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते।

प्रयोक्ता का व्यक्तित्व :—सफल सम्मोहन के लिए प्रयोक्ता का प्रभावशाली व्यक्तित्व होना आवश्यक है। जो प्रयोक्ता अपने प्रभाव से प्रभावित करने की कला जानता है वह सफल सम्मोहक हो सकता है। इसके लिए उसमें नियंत्रण की योग्यता एवं अनुभव अपेक्षित है। जब तक प्रयोक्ता को सम्मोहन का पूर्व अनुभव नहीं रहता तब तक वह यह जानने में पूर्णतः असमर्थ होता है कि किस व्यक्ति को किस परिस्थिति में किस प्रकार का ससूचन दे। अनुभवी प्रयोक्ता विभिन्न सम्मोहन-शैलियों से भिज्ञ रहता है, इसलिए आवश्यकतानुसार वह कार्यवाही करता है। लेकिन, इस स्थल पर भी हमें यह नहीं भूलना होगा कि मात्र अनुभव ही सफल सम्मोहन के लिए पर्याप्त नही है; बल्कि सम्मोहक का व्यक्तित्व इस प्रकार का होना चाहिये कि प्रयोज्य उसे अपने से श्रेष्ठ समझ सके। अगर प्रयोज्य प्रयोक्ता को सम्मोहित करते देखे रहता है तो वह उसे इतना सम्मान देता है कि बात की बात मे वह सम्मोहित हो जाता है। अतएव प्रयोक्ता का अनुभवी और प्रभावशाली होना सफल सम्मोहन के लिए अनिवार्य है।

सम्मोहन-विधि (Method of Hypnosis):—सम्मोहन-विधि के सम्बन्ध में पहले ही व्यक्त किया जा चुका है; इसलिए विधि की चर्चा करना आवश्यक नहीं है। इस स्थल पर इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि सभी प्रयोज्यों पर एक ही विधि सफल नहीं होती। अतएव सफल सम्मोहन के लिए प्रयोज्य और परिस्थिति को ध्यान में रखकर किसी विधि विशेष को अपनाना श्रेयस्कर है; किंतु इस दिशा में जितने भी प्रयोग हुए हैं उनसे यह प्रमाणित है कि निपुणता के साथ कई विधियों को एक साथ व्यवहार में लाने से किसी को सम्मोहित करने मे अवश्य ही सफलता मिलती है।

सम्मोहन की विशेषताएँ
(Characteristics of Hypnosis)

सम्मोहित व्यक्ति में कई प्रकार के व्यापार देखने में आते हैं, जिनके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये व्यापार सम्मोहन

के फलस्वरूप होते हैं और कुछ के अनुसार संसूचन के फलस्वरूप। हमलोग यहाँ इस विवेचना में न पड़कर आविर्भूत विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

सम्मोहित व्यक्तियो मे स्नायविक कठोरता का व्यापार, जिसे अँगरेजी भाषा में कैटालेप्सी (Catalepsy) कहते हैं, देखने मे आता है। सम्मोहनावस्था में यदि सम्मोहित व्यक्ति की भुजा ऊपर प्रयोक्ता उठा दे तो वह उसी अवस्था में पड़ी रह जाती है और उसमे किसी प्रकार की गति देखने मे नहीं आती। मेकडुगल ने एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिसमे प्रयोज्य बिना थकावट के तीस मिनटो तक, प्रयोक्ता ने जिस दिशा मे भुजा उठा दी थी उसी दिशा में उसे बनाये रखा। फिशर भी एक प्रयोज्य का उल्लेख करता है जो इस प्रकार काष्ठवत हो गया था कि कुछ हिल-डुल नहीं सका। इस सम्बन्ध मे मॉल (Moll) का कहना है कि यद्यपि सम्मोहित व्यक्तियो मे स्नायविक कठोरता का व्यापार परिलक्षित होता है; किंतु इसे सम्मोहन की हम स्वाभाविक विशेषता नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में दूसरी विचारधारा भी है। जैसा कि हम ऊपर अभी व्यक्त कर चुके हैं, कुछ लोग इसे सम्मोहन के फलस्वरूप मानते हैं और कुछ लोग संसूचन का परिणाम मानते हैं। अभी तक जितने प्रयोगात्मक प्रमाण उपस्थित हैं उनके आधार पर हम यह कहना उचित समझते हैं कि प्रयोज्य यदि ऐसे व्यापार की आशा करता है और प्रयोक्ता उसे संसूचित कर देता है तो अवश्य ही उसमे स्नायविक कठोरता का व्यापार दृष्टिगोचर होता है। संसूचन और प्रत्याशा के अभाव मे ऐसा व्यापार कुछ प्रयोज्यों मे नहीं भी देखा जा सकता है, जैसा कि कई प्रयोगों से प्रमाणित है।

पश्चात सम्मोहन-विस्मृति (Post—Hypnotic Amnesia) का व्यापार भी सम्मोहित व्यक्तियों में देखने मे आता है। हेडफिल्ड (Hadfield) ने इसे सम्मोहन की अनिवार्य विशेषता व्यक्त की है। उसके अनुसार सम्मोहन से निर्मुक्त होने पर प्रयोज्य सम्मोहनावस्था के सभी अनुभवों को पूर्णतः भूल जाता है। वेल्स (Wells), मिचेल (Mitchell) तथा अन्य विद्वान भी इसी दृष्टिकोण का पृष्ठपोषण करते हैं। मॉल (Moll), ब्रैमवेल (Bramwell) तथा बर्न्हेम (Bernheim), का कहना है कि यह सम्मोहन की स्वाभाविक विशेषता कदापि नहीं है। इस कथन की पुष्टि मे भी प्रयोगात्मक प्रमाणों की कमी नहीं है।

इस सम्बन्ध मे यंग (Young) का कहना है कि बहुत-से प्रयोज्य सम्मोहनावस्था की घटनाओं को प्रत्यावाहित करने में समर्थ नहीं होते हैं; किन्तु उनकी चर्चा करने पर प्रत्यभिज्ञा (Recognition) की शक्ति उनमे

देखने मे आती है। इसलिए उसका कहना है कि यह विस्मृति पूर्ण नहीं होती। प्रयोग करने पर देखा गया है कि प्रयोज्य सम्मोहन की अवस्था में जिन उपकरणों को सीखता है उनका प्रत्यावाहन नही करता; किंतु पुनर्शिक्षण (Relearning) में समय और प्रयास दोनो में बचत देखने में आती है। इस दिशा में जितने प्रयोग हुए हैं उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पश्चात सम्मोहन-विस्मृति सम्मोहन की स्वाभाविक विशेषता नहीं है; बल्कि यह कई अगो पर निर्भर करती है। सम्मोहन के पहले यदि प्रयोज्य सम्मोहन की घटनाओ को सम्मोहन-पश्चात याद करने का निश्चय कर लेता है तो वह अवश्य ही उन्हें प्रत्यावाहित करने मे सफल होता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार प्रयोक्ता के ससूचित कर देने पर वह सम्मोहन की किसी घटना को याद रखने मे असमर्थ होता है। प्रतिकूल ससूचन होने पर वह याद करने में भी सफल होता है। अतएव इन तथ्यो को ध्यान में रखते हुए हम निष्कर्ष स्वरूप यह कहना उचित समझते हैं कि पश्चात सम्मोहन-विस्मृति व्यापार कई अंगों पर निर्भर करता है। इसलिए हम इसे स्वाभाविक विशेषता कदापि नहीं कह सकते हैं।

मेकडुगल ने सायुज्य (Rapport) को सम्मोहन की स्वाभाविक विशेषता व्यक्त की है। सायुज्य प्रयोज्य और प्रयोक्ता के मध्य सम्बन्ध की वह अवस्था है जिसमें प्रयोज्य प्रयोक्ता की अधीनता को पूर्ण रूपेण स्वीकार कर लेता है। वह अपने आपको पूर्णतः प्रयोक्ता की इच्छा पर छोड़ देता है और उसी की आज्ञा का पूर्णतः परिपालन करता है। इस सम्बन्ध मे मेकडुगल का कहना है कि सायुज्य के समय प्रयोज्य मे आत्म-अधीनता (Self submission) की मूलप्रवृत्ति की प्रधानता रहती है, इसलिए वह अपने को प्रयोक्ता पर पूर्णतः छोड़ देता है। इसीलिए सम्मोहन की अवस्था मे प्रयोक्ता जो कुछ आदेश देता है उसका वह समुचित रूप से पालन करता है। इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि सायुज्य की यह अवस्था सम्मोहन के समय प्रयोज्य और प्रयोक्ता के ही बीच प्रस्थापित रहती है अन्य दर्शकों के प्रति ऐसी मनोवृत्ति प्रयोज्य मे कदापि नहीं रहती। यही कारण है कि प्रयोज्य प्रयोक्ता के सभी आदेशो का समुचित रूप से पालन करता है; किन्तु किसी अन्य व्यक्ति के आदेश को अनसूनी कर देता है। यह सायुज्य की अवस्था प्रयोक्ता के आदेश से दूसरे पर भी स्थानान्तरित कर दी जाती है और प्रयोज्य उस व्यक्ति के प्रति अधीनता की मनोवृत्ति बनाकर उसकी आज्ञाओं का पालन करने लगता है।

इस सायुज्य के सम्बन्ध में नान्सी स्कूल के प्रवर्तकों का कहना है कि यह

सम्मोहन की अनिवार्य विशेषता (Inherent characteristic) नहीं है; क्योंकि ऐसा प्रयोज्य के आत्म संसूचन के फलस्वरूप देखने में आता है। इस कथन की परिपुष्टि के लिए यंग तथा फूट (Foote) ने अपने प्रयोज्यों पर प्रयोग किया। उन्होंने अपने प्रयोज्यों से कह दिया कि वे सम्मोहनावस्था में सम्मोहक के जिन आदेशो को पालन करना नहीं चाहते उन्हे वे अपने मन में निश्चित करके नोट कर ले। प्रयोग करने पर देखा गया कि जिन आदेशों को पालन करना प्रयोज्यों ने सम्मोहित होने के पहले ठान लिया था, सम्मोहनावस्था में उन्होंने उन्हीं का पालन किया, अन्य आदेशों को नहीं। इन प्रयोगों के आधार पर उन विद्वानों का कहना है कि सायुज्य प्रयोज्य के आत्म-संसूचन पर निर्भर करता है, अतएव यह अनिवार्य विशेषता सम्मोहन की नहीं है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि एक ही पहलू को विद्वानों ने दो तरह से देखा है। यह आत्म-ससूचन भी प्रयोक्ता के निर्देशों के फलस्वरूप कहा जा सकता है; क्योंकि प्रयोक्ताओं ने ही ऐसा न करने को सम्मोहन की अवस्था में प्रयोज्यों को कहा था। इसलिए हम इन बातों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि सायुज्य का प्रस्थापित होना प्रयोज्य तथा प्रयोक्ता दोनो पर निर्भर करता है और जितना सायुज्य दोनों प्रस्थापित करना चाहते हैं वह अवश्य ही प्रस्थापित हो जाता है, चाहे वह आत्म-ससूचन के फलस्वरूप हो या पर-ससूचन के फलस्वरूप।

उपर्युक्त तीन विवादग्रस्त विशेषताओं के अतिरिक्त सम्मोहित व्यक्तियों में अन्य विशेषताएँ भी देखने में आती हैं। सम्मोहित होने पर प्रयोज्य पूर्णतः शिथिल, निष्क्रिय और परिस्थिति से अनभिज्ञ प्रतीत होता है। इसलिए प्रयोक्ता के अतिरिक्त उसपर और किसी अंग का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रयोक्ता यदि यह कहे कि उसका पैर दिशा विशेष की ओर गतिशील है तो वस्तुतः वह अपना पैर उधर घुमा देता है। अभिप्राय यह है कि वह सब कुछ प्रयोक्ता के अनुसार करता है। हम पहले व्यक्त कर चुके हैं कि संवेदनशीलता की शक्ति संसूचन के कारण नष्ट हो जाती है, इसलिए सुई चुभाने या काटने पर अग विशेष में किसी प्रकार की पीड़ा का प्रमाण नहीं मिलता है।

प्रयोक्ता के आदेश और संसूचन से प्रयोज्य मे विभ्रम (Hallucination) के व्यापार देखने में आते हैं। इसलिए घड़ी न रहने पर भी प्रयोक्ता के कहने पर वह घड़ी-विहीन दीवार की ओर देखकर ठीक-ठीक समय व्यक्त करने का प्रयास करता है। विपर्यय (Illusion) का व्यापार तो बहुत सामान्य है। यदि प्रयोक्ता नमकीन चीज को भी मीठी

चीज कहकर खाने को देता है तो वह पूछने पर मीठा स्वाद ही व्यक्त करता है।

पश्चात सम्मोहन-ससूचन का व्यापार कम महत्त्व का नहीं है। प्रयोज्य को सम्मोहित अवस्था में सम्मोहन से निमुक्त होने पर जो कुछ करने का प्रयोक्ता आदेश देता है, उसका वह अक्षरशः पालन करता है। लेकिन, वह आदेश परिस्थिति और नैतिकता के अनुकूल होना आवश्यक है। एक व्यक्ति को बजते हुए ग्रामोफोन के रेकार्ड को पाँच मिनट बाद बन्द करने का आदेश दिया गया था, जो सम्मोहन बाद उसे कर सका। दूसरे व्यक्ति को भी वही आदेश था; परन्तु ग्रामोफोन का रेकार्ड बज नहीं रहा था, इसलिए वह वैसा नही कर सका। मेकडुगल ने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि किसी भले आदमी को उसकी नैतिकता के प्रतिकूल अपराध के काम का आदेश प्रयोक्ता दे तो वह उसका पालन नहीं करेगा। इसलिए पश्चात सम्मोहन-संसूचन के लिए परिस्थिति का होना अनिवार्य है।

सम्मोहनावस्था की यह विचित्रता देखने मे आती है कि जिन गत अनुभवों को प्रयोज्य लाख चेष्टा करने पर भी प्रत्यावाहित करने मे समर्थ नहीं होता है, उन्हें संसूचित करने पर वह आसानी से प्रत्यावाहित कर लेता है। इस दिशा मे कई विद्वानो ने अध्ययन किया है और इसकी व्याख्या भी कई आधारो पर दी है; किन्तु उनका उल्लेख न कर इस स्थल पर इतना व्यक्त करना पर्याप्त है कि जो अग जाग्रतावस्था में उन गत अनुभवों को चेतना में आने से रोकते हैं वे सम्मोहनावस्था में निष्क्रिय एव निर्बल हो जाते हैं। इसलिए प्रयोज्य अपने उन अनुभवों का प्रत्यावाहन करने मे समर्थ होता है। प्रयोक्ताओ ने और भी कई दैहिक एवं मानसिक विशेषताओ का उल्लेख किया है; किन्तु उनपर अभी और प्रयोगात्मक अध्ययनो की आवश्यकता है, इसलिए हम यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

क्या भीड (Crowd) को सम्मोहित किया जा सकता है ?

अब तक हम व्यक्तिगत सम्मोहन के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करते आये हैं। इसलिए यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जिस तरह प्रयोक्ता किसी एक प्रयोज्य को सम्मोहित कर देता है क्या उसी तरह वह किसी झुण्ड को भी सम्मोहित कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर केवल हाँ या नही में देना सरल नहीं है; क्योंकि इसका उत्तर सम्मोहन की व्याख्या पर निर्भर करता है। यदि हम सम्मोहन को विवृद्ध ससूचनशीलता (Heightened suggestibility) की अवस्था स्वीकार करते हैं तब हमें यह कहने में कुछ

आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि झुण्ड को सम्मोहित करना भी संभव है। हमारा दैनिक अनुभव यह प्रमाणित करता है कि जब कोई प्रभावशाली वक्ता अपने श्रोताओं के समक्ष निपुणतापूर्वक संभाषण करने लगता है तो उस समय श्रोतागण का ध्यान उसके संभाषण पर इस प्रकार केन्द्रीभूत हो जाता है कि वह समूह श्रोता के अतिरिक्त अन्य अंगों की पूर्णतः उपेक्षा कर देता है। इस अंश मे भीड़ और सम्मोहित व्यक्ति में समानता है। अतएव हम कह सकते हैं कि झुण्ड भी विवृद्ध संसूचनशीलता के अर्थ में सम्मोहित हो सकता है।

इतना ही क्यों, हम दूसरे प्रकार के झुण्ड में भी देखते हैं कि उसमें विवेचनात्मक शक्ति का पूर्णतः अभाव रहता है और वह नेता के इशारे पर नाचने को तैयार रहता है। यह झुण्ड और नेता का सम्बन्ध सायुज्य (Rapport) के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार सम्मोहनावस्था में प्रयोज्य और प्रयोक्ता के बीच सायुज्य प्रस्थापित होता है उसी प्रकार झुण्ड और नेता के बीच भी सम्बन्ध प्रस्थापित होता है। इस सम्बन्ध मे इतना अन्तर अवश्य होता है कि झुण्ड में सर्वव्यापकता का भाव (Feeling of Universality) काम करता है। इसलिए झुण्ड अनैतिक कार्य को भी नेता के इशारे पर कर बैठता है; किंतु वैयक्तिक सम्मोहन में व्यक्ति अपनी नैतिकता के विरुद्ध कार्य करने में आगा-पीछा करता है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण से भी हम देखते हैं कि झुण्ड को सम्मोहित करना आसान है।

जब कोई नेता दूर से आता है तो जनता उसको इतना सम्मान देती है कि वह जो कुछ कहता है वह उसे बिना किसी तर्क को अंगीकार कर लेती है। यही अवस्था भीड़ के सम्मोहन मे देखने मे आती है। जब मदारी दर्शकों को संसूचित कर हजारों रुपया प्रदर्शित करता है तो वह विभ्रम के अतिरिक्त और क्या रहता है? इसी प्रकार विपर्यय और सवेदन-शून्यता के व्यापार भी ससूचनशीलता के कारण देखने में आते हैं। यह हमारा दैनिक अनुभव है कि जब किसी भीड़ मे मारपीट होती है तो उस समय लोग पीड़ा का अनुभव कुछ भी नहीं करते; किंतु वह परिस्थिति समाप्त होते ही लोग पीड़ा का अनुभव करने लगते हैं। यह सम्मोहनावस्था की सवेदन-शून्यता नहीं तो और क्या है? भारतवर्ष में ऐसे झाड़फूंक करनेवाले व्यक्तियों और धार्मिकों की कमी नहीं है जो अपने दर्शक समूह को इस प्रकार ससूचित कर देते हैं कि उनमें तरह-तरह की सम्मोहनावस्था की विशेषताएँ परिलक्षित

होने लगती हैं और वे समाज को भ्रम में डालकर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व इतना महान था कि वे जिधर जाते उधर ही लोग इस प्रकार संसूचित हो जाते थे कि उनके एक इशारे पर अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार हो जाते थे। यद्यपि वे व्यावसायिक सम्मोहक नहीं थे; किन्तु उनका सम्मान समाज में इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि उनके सामने आते ही लोग विनीत भाव अपना लेते थे और वे जो कुछ कहते उसका अक्षरशः पालन करते थे। इन सब तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए हम यह निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि जनसमूह या झुण्ड को सफलतापूर्वक सम्मोहित किया जा सकता है। फ्रायड भी इसी का समर्थन करता है।

सम्मोहन-सिद्धान्त

सम्मोहन की व्याख्या करने के लिए विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रारम्भ काल से ही किया है; किन्तु यहाँ उन सभी पर प्रकाश डालना सभव नहीं है। अतएव यहाँ हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख करेंगे।

बिने (Binet) ने सम्मोहन की व्याख्या मस्तिष्क खण्ड (cerebral lobes) के निश्चित अंश की थकावट के आधार पर की है। इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि जब नीरस उत्तेजनाओं से निरन्तर उत्तेजित रहने के कारण मस्तिष्क का कोई भाग थक जाता है तो सम्मोहन की अवस्था उपस्थित होती है। उसके अनुसार, जो मस्तिष्क खण्ड थका नहीं रहता वह अत्यधिक क्रियाशील हो जाता है; लेकिन इस सिद्धान्त की विशद विवेचना न कर हम इतना कहना पर्याप्त समझते हैं कि बिने के सिद्धान्त का आधार पूर्णतः दोषपूर्ण है। फ्रैंज तथा लैश्ले (Franz and Lashley) ने अपने प्रयोगों के द्वारा मस्तिष्क की समशक्तिशीलता (Equipotentiality) तथा सामूहिक क्रिया (Mass-Activity) प्रमाणित कर दी है। तब भला इन प्रयोगात्मक प्रमाणो के रहते हुए कोई बिने-सिद्धान्त को क्योंकर मान सकता है? इसके अतिरिक्त भी जिस सरलता और शीघ्रता के साथ किसी को सम्मोहित किया जाता है या उसे सम्मोहन से निर्मुक्त किया जाता है उसकी व्याख्या बिने-सिद्धान्त के आधार पर कैसे की जा सकती है? अगर बिने-सिद्धान्त वस्तुतः प्रतिपन्न होता तो सम्मोहन

के आविर्भाव और निर्मुक्तता में यह शीघ्रता और सुगमता कदापि देखने में नही आती। अतएव इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम बिने-सिद्धान्त को मान्य नहीं कह सकते हैं।

शार्को का सम्मोहन के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त है कि यह एक कृत्रिम साधनों से समुत्पन्न मनोस्नायुविकृति की अवस्था है जिसका सम्बन्ध उन्माद से अत्यधिक है। इसके अनुसार उन्माद के शीलगुणों से युक्त व्यक्तियो को ही सम्मोहित किया जा सकता है। शार्को का शिष्य जैने ने भी हिस्टिरिया और सम्मोहन को एक माना है। उसके अनुसार दोनों अवस्थाएँ चेतना की संकीर्णता पर निर्भर करती हैं। अतएव दोनों समान हैं। इस प्रकार शार्को और जैने दोनों ही सम्मोहन को हिस्टिरिया की एक अवस्था मानते हैं। उनके सिद्धान्त का विवेचन करने पर उसमे कुछ सत्यता की गध अवश्य मिलती है। सम्मोहित मनुष्य मे हिस्टिरिया की तरह स्नायविक कठोरता संसूचन के द्वारा उत्पन्न कर दी जाती है; लेकिन इसका यह मतलब कहाँ है कि वह व्यक्ति मौलिक रूप में हिस्टिरिया के रोगी के समान असतुलित है? इस प्रकार तो सभी सम्मोहनशील व्यक्तियों को हिस्टिरिया के शीलगुणो से युक्त कहा जा सकता है जो सर्वथा अनुचित है। इसके अतिरिक्त प्रयोज्य में इतनी इच्छा, योग्यता और बुद्धि का होना आवश्यक है कि वह प्रयोक्ता के संसूचनों पर ध्यानावस्थित हो सके। इतना ही क्यों, उसे संसूचनशील होना भी अनिवार्य है। ये विशेषताएँ बुद्धिविहीन या क्रियात्मक रूप से असंतुलित व्यक्तियों में नहीं पायी जाती हैं। तब भला हिस्टिरिया और सम्मोहन को, इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, एक कैसे माना जा सकता है? अतएव शार्को-सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है।

कोरिआट (Coriat) तथा अन्य विद्वानों ने सम्मोहन की व्याख्या करने के लिए मानसिक विच्छेद (Mental Dissociation) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सम्मोहन और मानसिक विच्छेद दोनों एक ही हैं। इसलिए प्रयोज्य में कोई भी स्थायीभाव (Sentiment) या संवेग उत्पन्न किया जा सकता है। मानसिक विच्छेद के कारण प्रयोज्य में प्रयोक्ता के आदेश या संसूचन को समझने की योग्यता नहीं रह जाती, इसलिए वह बिना कुछ समझे-बूझे प्रयोक्ता के आदेशो का अक्षरशः पालन करता है। विवेचनात्मक शक्ति के आभाव में प्रयोज्य प्रयोक्ता के आदेशों पर किसी प्रकार का विचार न करके उसके अनुसार प्रतिक्रिया करता है। इस सिद्धान्त के गुण-दोषों पर-विचार

करने से यह मालूम होता है कि वस्तुतः सम्मोहनावस्था में कुछ मानसिक विच्छेद का आभास मिलता है और चेतना भी सीमित रहती है। लेकिन, इसी से सम्मोहन को मानसिक विच्छेद की अवस्था कह देना पर्याप्त नहीं है। विचार करने पर मालूम होगा कि यह सिद्धान्त सम्मोहन के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालता। हाँ, कुछ अंशों में उसका वर्णन अवश्य करता है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर भी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता है कि किसी व्यक्ति को ससूचित और उसे ध्यानावस्थित करने पर उसमें यह मानसिक अवस्था क्यो उत्पन्न हो जाती है।

दूसरी आपत्ति इस सिद्धान्त को मानने में यह है कि यह सिद्धान्त सम्मोहित व्यक्ति और सम्मोहनावस्था को पूर्णतः निष्क्रिय मानता है जो वस्तुतः उचित नहीं है। सम्मोहित व्यक्ति प्रयोक्ता की अधीनता अवश्य स्वीकार करता है; किन्तु अधीनता स्वीकार करने का अर्थ निष्क्रिय होना नहीं होता। हमलोगो ने देखा है कि सम्मोहनावस्था में प्रयोज्य किस प्रकार प्रयोक्ता के आदेश पर प्रतिक्रिया करने के लिए उद्यत रहता है। इसलिए इसे एक निष्क्रिय अवस्था कह देना उचित नहीं प्रतीत होता। अब इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस सिद्धान्त के विषय मे कह सकते हैं कि सम्मोहन की व्याख्या करने के लिए यह कदापि मान्य नही है।

मेकडुगल का सिद्धान्त सम्मोहन की व्याख्या के लिए मूलप्रवृत्ति विशेष पर आधारित है। जिस प्रकार उसने जीव की अन्य मानसिक अवस्थाओं की व्याख्या मूलप्रवृत्तियों के आधार पर की है उसी प्रकार उसने इसकी भी व्याख्या मूलप्रवृत्ति-विशेष के आधार पर की है। उसके अनुसार सम्मोहनावस्था के विभिन्न व्यापार अधीनता की मूलप्रवृत्ति (Instinct of submission) की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। सम्मोहनावस्था में व्यक्ति इस मूलप्रवृत्ति के विभिन्न पहलुओं का प्रकाशन करता है और हमें वे ही प्रकाशन सम्मोहन के विभिन्न व्यापारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

इस सिद्धान्त को परिपुष्ट करने के लिए कई सम्मोहन-व्यापार पर्याप्त हैं। वस्तुतः सम्मोहित व्यक्ति में अधीनता-प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। इसलिए वह अति विनम्र भाव से प्रयोक्ता की सभी आज्ञाओं का पालन करता है। प्रयोज्य के ऐसे व्यवहार को देखकर कोई भी सोच सकता है कि उसमें अधीनता की मूलप्रवृत्ति जागरूक है, जिसके फलस्वरूप बिना

किसी आनाकानी के वह प्रयोक्ता के आदेशों का पालन करता है। सम्मोहनावस्था मे प्रायः ऐसा देखने में आता है कि प्रयोक्ता यदि प्रयोज्य को क्रोधित कर देता है तो भी वह अपने क्रोध को प्रकाशित न कर उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। इस व्यवहार से ऐसा मालूम होता है कि वस्तुतः उसमे अधीनता की मूलप्रवृत्ति इतनी प्रबल रहती है कि वह उसे क्रुद्ध नहीं होने देती। सीडिस (Sidis) ने भी जो प्रयोग छोटे छोटे जानवरों पर किया है उस प्रयोग से मेकडुगल सिद्धान्त की परिपुष्टि होती है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में फिशर का कहना है कि यद्यपि कई दृष्टिकोणों से यह सिद्धान्त मान्य मालूम होता है; किन्तु यह भी सम्मोहनावस्था के सभी पहलुओं की व्याख्या सतोषप्रद नहीं करता। अतएव इन गुणों के होते हुए भी यह सिद्धान्त दोषरहित नहीं है, इसलिए इसे हम मान्य नहीं कह सकते।

फ्रायड ने जिस प्रकार अन्य असामान्यताओं की व्याख्या के लिए लैंगिक बीजतत्त्वों (Sexual elements) का आश्रय लिया है उसी प्रकार वह सम्मोहन की व्याख्या भी लैंगिक मूलप्रवृत्ति के आधार पर करता है। सम्मोहन की व्याख्या करते हुए फ्रायडवादियो का कहना है कि प्रयोज्य का प्रयोक्ता से लैंगिक सम्बन्ध प्रस्थापित हो जाता है, इसलिए उसके संवेग का स्थानान्तरण प्रयोक्ता पर होता है। सायुज्य की व्याख्या फ्रायडवादियों ने इसी लैंगिक सम्बन्ध के आधार पर की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार व्यक्ति का लैंगिक सम्बन्ध अपने माता से रहता है उसी प्रकार प्रयोज्य का सम्बन्ध प्रयोक्ता से रहता है। इसलिए प्रयोज्य प्रयोक्ता के अधीन होकर उसकी सभी आज्ञाओं का पालन करता है। जिन आज्ञाओं का पालन करने मे प्रयोज्य आनाकानी करता है उसकी व्याख्या फ्रायडवादियों ने बोधात्मा तथा आदर्शात्मा के आधार पर की है। फ्रायडवादियों को कई अशों मे अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में सफलता अवश्य मिली है और कहीं-कहीं सम्मोहन की अवस्था मे लैंगिक बीजतत्त्व का होना भी संभव है; लेकिन हम फ्रायड-सिद्धान्त को सर्वमान्य नहीं कह सकते। इस सिद्धान्त के प्रति वे सभी आपत्तियाँ व्यक्त की जा सकती हैं, जिनको इस वाद के प्रति व्यक्त किया जाता है। अतएव हम उन त्रुटियों की यहाँ चर्चा न कर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि फ्रायड का सम्मोहन-सिद्धान्त सर्वांशतः दोषरहित नहीं है।

इन उपर्युक्त तथा अन्य सम्मोहन-सिद्धान्तों की त्रुटियों को ध्यान में रखकर ही प्रत्ययन-सिद्धान्त (Ideational Theory) का आविर्भाव

हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्मोहन की हालत में प्रयोज्य का मन एक प्रत्यय (Idea) - विशेष पर केन्द्रीभूत रहता है। ज्यों-ज्यो वह अपने ध्यान को उस प्रत्यय-विशेष पर केन्द्रीभूत करता है त्यों-त्यों उसके केन्द्रीकरण में प्रबलता आती है और अन्य व्याघातक शक्तियों की वह पूर्णतः उपेक्षा कर देता है। प्रयोक्ता के ससूचन देने पर प्रयोज्य का ध्यान और भी बलशाली हो जाता है। सामान्य व्यक्ति किसी विचार के महत्त्व को बौद्धिक एवं संवेगात्मक दृष्टिकोण से जानने की कोशिश करता है ; किन्तु सम्मोहित व्यक्ति ऐसा नहीं करता। इसलिए प्रयोक्ता जो कुछ उसे कहता है उसी का वह अक्षरशः पालन करता है। उसमे सामान्य व्यक्ति की विवेकशीलता का अभाव रहता है। इसलिए वह बिना विचार के ही प्रयोक्ता की इच्छानुसार स्वतः कर बैठता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी सामान्य व्यक्ति में संसूचन के कारण सम्मोहन की अवस्था उत्पन्न की जा सकती है। वस्तुतः सामान्यावस्था और सम्मोहनावस्था मे किसी प्रकार का मौलिक भेद नही है। सम्मोहित और सामान्य व्यक्ति में किसी प्रकार का गुणात्मक (Qualitative) भेद नहीं होता ; बल्कि मात्रा (Degree) भेद होता है। किसी में भी सम्मोहन के व्यापारों को ससूचन के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। झुण्ड मे, जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं व्यक्ति किसी नेता-विशेष की अधीनता अचेतनतया स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु प्रयोगशाला में ऐसी अवस्था कुछ कठिनाई के साथ उत्पन्न की जा सकती है। हल ने सम्मोहन के विभिन्न व्यापारों की व्याख्या के लिए इस सिद्धान्त में सम्मान-ससूचन (Prestige suggestion) के सामान्यप्रत्यय को स्वीकार किया है। विभिन्न प्रयोज्यों की ससूचन-भिन्नता की व्याख्या भी उसने सम्मान-ससूचन के आधार पर की है। प्रयोक्ता को सम्मान की दृष्टि से देखने से प्रयोज्य की संसूचनशीलता सम्मान्यावस्था की अपेक्षा दुगुनी बढ़ जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, सहयोग की इच्छा, आत्मविश्वास, प्रयोक्ता की शक्ति में विश्वास तथा प्रयोज्य की संवेगात्मक अवस्था आदि सम्मान के उस अंश को निर्धारित करते हैं जो सम्मोहन के लिए अपेक्षित होता है। यह अवस्था न तो मनोविकृति की है, जैसा कि कुछ विद्वानो ने व्यक्त किया है और न किसी प्रकार के विलक्षण कार्यवाही के फलस्वरूप है। वस्तुतः सामान्यावस्था और सम्मोहनावस्था में मस्तिष्क की कार्यवाही में किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता है। हाँ, उसकी कार्यवाही में कुछ मात्रा भेद अवश्य पड़ता है; जो मस्तिष्क की सामान्यावस्था का ही द्योतक है।

इस प्रकार सम्मोहन का प्रत्ययन-सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए इसे एक सम्मान्यावस्था मानता है; जिसमें प्रयोज्य की संसूचनशीलता सम्मान-ससूचन के कारण विवृद्ध हो जाती है और वह प्रयोक्ता के सभी आदेशों का पालन करता है। सम्मोहन के सभी व्यापारों की व्याख्या भी यह सिद्धान्त सम्मान-संसूचन के आधार पर करता है और अभी तक यह सभी सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है।

नीद और सम्मोहन

अभी हम ऊपर सम्मोहन के विभिन्न प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख कर चुके हैं। इसलिए इस स्थल पर नींद और सम्मोहन की भिन्नता को व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नही होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्ति इस प्रकार अचेतन रहता है कि उसे वाह्य विश्व का कुछ ज्ञान नहीं रहता। इसी अचेतना की समानता के कारण कुछ विद्वानों ने भ्रमवश दोनों को एक ही माना है; किंतु ये दोनो अवस्थाएँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उन्हें एक अवस्था कहना कदापि उपयुक्त और युक्तिसगत नहीं है।

दोनों की विभिन्न भिन्नताओं का अध्ययन करने पर मालूम होगा कि नींद एक स्वाभाविक अचेतनावस्था है; किंतु सम्मोहन एक कृत्रिम अचेतनावस्था है। इस कथन की सत्यता स्वयं स्पष्ट हो जायगी यदि हम यह ध्यान में रखे कि नींद के लिए हमे किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब हम इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं तब अपने बिस्तर या अन्य उपयुक्त स्थान पर चले जाते हैं और आत्म-संसूचन के कारण हमे नींद आ जाती है। सम्मोहन में यह बात नहीं पायी जाती। सम्मोहन के लिए किसी अन्य व्यक्ति (प्रयोक्ता) के संसूचन की आवश्यकता पड़ती है, जिसके फलस्वरूप प्रयोज्य सम्मोहित होता है। इस प्रकार नीद एक स्वाभाविक आत्म-संसूचित अचेतन मानसिक अवस्था है; किन्तु सम्मोहन एक कृत्रिम पर-ससूचित अचेतन मानसिक अवस्था है।

नींद के लिए प्रयोक्ता की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु सम्मोहन के लिए प्रयोक्ता की नितांत आवश्यकता होती; क्योंकि प्रयोक्ता के बिना कोई प्रयोज्य सम्मोहित नहीं हो सकता। सम्मोहित व्यक्ति को प्रयोक्ता अपने संसूचन के द्वारा नींद की अवस्था मे ला सकता है; किन्तु सोये हुए व्यक्ति को प्रयोक्ता न सम्मोहित कर सकता है और न उसे ससूचित ही कर सकता है। इस कथन की पुष्टि के लिए कई प्रयोगात्मक प्रमाण उपस्थित हैं; अतएव हम यहाँ उनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं समझते।

नींद मे शिक्षण (Learning), विभ्रम (Hallucination), प्रत्यक्षात्मक (Perceptual) प्रक्रियाएँ नहीं होतीं; किन्तु सम्मोहनावस्था में ये सभी क्रियाएँ पायी जाती हैं। नींद में व्यक्ति अचेतनावस्था में रहता है, इसलिए उपर्युक्त कोई प्रक्रिया नहीं होती ; क्योंकि वह वैसा करने में पूर्णतः असमर्थ रहता है। लेकिन, सम्मोहन में ये सभी क्रियाएँ संभव हैं। हम स्थल-विशेष पर पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि प्रयोक्ता अपने प्रयोज्य मे किस प्रकार शिक्षण, स्मृति, विपर्यय एवं विभ्रम की प्रक्रियाओं को उत्पन्न करता है ; अतएव यहाँ उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है।

नींद में सायुज्य (Rapport) का पूर्णतः अभाव रहता है ; क्योंकि इसके लिए किसी प्रयोक्ता की जरूरत नही रहती। इसलिए प्रयोज्य का मानसिक झुकाव नींद में किसी वाह्य अंग के प्रति नहीं रहता। सम्मोहन में सायुज्य की प्रधानता रहती है। प्रयोक्ता और प्रयोज्य के बीच एक ऐसा संवंध स्थापित हो जाता है कि प्रयोज्य प्रयोक्ता की सभी आज्ञाओं का पालन करता है। इसलिए नींद के वाद पश्चात—सम्मोहन-व्यापार का भी अभाव रहता है ; किन्तु सम्मोहन में यह व्यापार अवश्य ही देखने में आता है। प्रयोक्ता सम्मोहन की अवस्था में प्रयोज्य को सम्मोहन से निर्मुक्त होने पर जो कुछ करने का आदेश देता है उसे प्रयोज्य इच्छापूर्वक करता है। लेकिन, नींद मे प्रयोक्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती है, इसलिए इसके वाद ऐसा व्यापार नहीं देखने मे आता।

नींद मे स्नायविक कठोरता (Catalepsy) का व्यापार कदापि परिलक्षित नहीं होता ; किन्तु सम्मोहन में यह व्यापार अनिवार्यतः परिलक्षित होता है। हम पहले ही स्थल विशेष पर इसके सम्बन्ध मे व्यक्त कर चुके हैं, अतएव उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है।

नींद सभी सामान्य व्यक्तियों मे सभी स्थलों पर और समयों में देखी जाती हैं ; किन्तु सम्मोहन का व्यापार सभी व्यक्तियों में और सभी काल तथा परिस्थितियों मे संभव नहीं है। इसके सम्बन्ध मे हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि सफल सम्मोहन के लिए अनुकूल प्रयोक्ता, प्रयोज्य तथा परिस्थिति का होना आवश्यक है, इसके अभाव मे किसी को सम्मोहित करना सभव नहीं है। इसलिए हम यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि नींद सभी सामान्य व्यक्तियों मे देखी जाती है ; किन्तु सम्मोहन सभी व्यक्तियों में संभव नहीं है ; क्योंकि इसके लिए कुछ आवश्यक शर्तें अपेक्षित हैं।

जिन-जिन विद्वानों ने सम्मोहन के दैहिक पहलू का अध्ययन किया है उनका अध्ययन इस बात का साक्षी है कि एक मे जानु-प्रत्यावर्तन (Knee jerk) का पूर्णतः अभाव रहता है; किन्तु दूसरे मे जानु प्रत्यावर्तन व्यक्ति मे जागरुकावस्था की ही तरह विद्यमान रहता है।

इस प्रकार यद्यपि नींद और सम्मोहन दोनों ही अचेतन अवस्थाएँ हैं; किन्तु स्वरूप में दोनों एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। एक स्वाभाविक मानसिक अचेतन अवस्था है तो दूसरी विवृद्ध संसूचनशीलता के कारण अचेतन अवस्था है।

औपचारिक महत्त्व (Therapeutic Values)

सम्मोहन का औपचारिक महत्त्व कम नहीं है। प्रारम्भ में लोगों का ऐसा विचार था कि सम्मोहन मात्र से व्यक्ति व्याधियों से निर्मुक्त हो जाता है। यही विचार मेस्मर प्रभृति विद्वानों का भी था; लेकिन बाद में इस विचारधारा मे परिवर्तन हुआ और लोगों में यह विश्वास काम करने लगा कि सम्मोहनावस्था में संसूचन के द्वारा व्यक्ति व्याधि-निर्मुक्त होता अथवा मनोवृत्ति के फलस्वरूप उसका रोग निर्मूल होता है। लेकिन, वर्तमान युग में सम्मोहन का जब कभी व्यवहार होता है तब उसका एकमात्र ध्येय या तो उसे विभिन्न संसूचनों को देना होता है या उसके अचेतन मन मे दबी हुई गुत्थियों का ज्ञान प्राप्त करना।

जो विद्वान मनोविश्लेषण-विधि का उपयोग नहीं करते उनका यह अकाट्य विश्वास है कि रोगी की दबी गुत्थियों को जानने और उसकी मनोस्नायुविकृतियों को निर्मूल करने के लिए सम्मोहन से बढ़कर और कोई श्रेयस्कर मनोचिकित्सा-विधि नहीं है। लैंगिक विकृतियों को अच्छा करने तथा अच्छी नवीन आदतों को डालने के लिए यह विधि बहुत ही लाभप्रद प्रमाणित हुई है। आसव-पान को दूर करने मे भी इस विधि का कम हाथ देखने मे नहीं आता है, यद्यपि इस आदत को दूर करने के लिए रोगी में दूसरी कम घातक आदत को लगाना आवश्यक हो जाता है। कुछ विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि हिस्टिरिया को दूर करने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी सुगम और लाभप्रद विधि नहीं है; किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद है। इसीलिए मॉल (Moll) का कहना है कि इसके द्वारा हिस्टिरिया निर्मूल नहीं होती, बल्कि संसूचन के कारण कुछ लक्षण अवश्य विलीन हो जाते हैं; किन्तु उन लक्षणों के बदले अन्य लक्षण आविर्भूत हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ विद्वानों ने इसका उपयोग

आँगिक व्याधियो (Organic Diseases) के साथ-साथ समुत्पन्न हिस्टिरिया-उत्पादक अन्य लक्षणो को दबाने में भी किया है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि ऐसे स्थलों पर सम्मोहित करने के बाद रोगी को संसूचन द्वारा उन लक्षणों से निर्मुक्त करना विशेष लाभकारी होता है।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि मनोविश्लेषण-विधि की उपयोगिता में विश्वास करनेवाले विद्वान सम्मोहन के औपचारिक महत्व को स्वीकार नहीं करते। इसके प्रति उनकी आपत्ति है कि सम्मोहन के द्वारा कारणों को चिकित्सक निर्मूल करने में समर्थ नही होता बल्कि, रोग के कुछ लक्षणो को ही नष्ट करता है। रोगों के लक्षणों की यह नष्टता भी स्थायी नही, क्षणिक होती है, क्योंकि कुछ दिनों के बाद या तो वे ही लक्षण पुनः आविर्भूत हो जाते हैं या उनकी जगह पर दूसरे नये लक्षणों का अविर्भाव हो जाता है। सम्मोहन-विधि से उपचार करनेवाला चिकित्सक रोगी के संवेगात्मक जीवन को कभी जानने का प्रयास नही करता। इसलिए वह रोग कें कारण को जानने और उसे दूर करने मे कदापि समर्थ नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, रोगी के संवेगो का स्थानान्तरण (Transference) भी सम्मोहक पर हो जाता है जो रोगी के लिए वांछित नहीं होता। इस संवेग-स्थानान्तरण के सम्बन्ध मे मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि ऐसा तो मनोविश्लेषण विधि मे भी होता है; किन्तु दोनों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। मनोविश्लेषण-विधि मे जो स्थानान्तरण होता है उसका ज्ञान रोगी और चिकित्सक दोनों को पहले से रहता है, इसलिए वह किसी के लिए घातक प्रमाणित न होकर लाभप्रद सिद्ध होता है और रोगी वास्तविकता के प्रति अभियोजन करने मे सफल होता है। ऐसा सम्मोहन के स्थानान्तरण मे नही होता, अतएव यह विधि औपचारिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है।

इसके अतिरिक्त, इसके प्रति आपत्ति करते हुए विद्वानों का कहना है कि जिस प्रकार जहर कुशल चिकित्सक के हाथ मे पड़कर औषधि का काम करता है; किन्तु वही अपटु चिकित्सक के हाथ में पड़ने से प्राण-घातक होता है उसी प्रकार सम्मोहन भी है। अपटु व्यक्तियों द्वारा व्यवहार करने पर सम्मोहन से लाभ न होकर अधिक हानि की ही सभावना रहती है। अपटु सम्मोहक रोगी की और भी बुरी अवस्था कर देता है। जिसमें हिस्टिरिया के लक्षणो की सभावना मात्र रहती है वास्तविकता नही, उसमें अपटु चिकित्सक के कारण कई प्रकार के हिस्टिरिया के वास्तविक लक्षणों का आविर्भाव हो जाता है।

कुछ लोगो की यह आपत्ति कि सम्मोहन के बाद चिकित्सक रोगियों से अनुचित कार्यों को कराने मे भी सफल होते हैं, निराधार प्रतीत होती है। स्थल विशेष पर हम यह देख चुके हैं कि सम्मोहनावस्था या उसके बाद रोगियों से ऐसा कार्य नहीं कराया जा सकता जो उनकी नैतिकता के विरुद्ध हो। इतना अवश्य है कि इस विधि का उपयोग करने से रोगी के आत्म-नियंत्रण (Self control) या आत्मनिर्भरता की शक्ति अवश्य निर्बल हो जाती है। यह उसके जीवन के लिए हानिप्रद प्रमाणित होता है। इसी प्रकार और भी कई आपत्तियाँ इसके महत्त्व के सम्बन्ध में उठाई जाती हैं। अतएव हम इन बातों को ध्यान में रखते हुए इसके औपचारिक महत्त्व के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वस्तुतः इससे कई प्रकार के मानसिक रोगों को अच्छा किया जा सकता है; किन्तु सभी प्रकार के रोगियों की चिकित्सा के लिए यह विधि उपयोगी नही है। जहाँ तक इसके भावी महत्त्व का प्रश्न है उसके सम्बन्ध मे भी हम निस्संकोच कह सकते हैं कि आज इतनी नयी-नयी विधियों का आविर्भाव हो रहा है कि उनके सामने इसका औपचारिक महत्त्व फीका पड़ रहा है। अतएव इसका अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही श्रेयस्कर है, औपचारिक दृष्टिकोण से नही।

चौदहवाँ अध्याय

मानसिक-स्वास्थ्य-विज्ञान के मूलतत्व

(Fundamental elements of Mental Hygiene)

पिछले अध्यायों में हमने तरह तरह की मानसिक असामान्यताओं, असतुलनों (Maladjustments), चारित्रिक असामान्यताओं आदि का उल्लेख किया है। जगह-जगह पर उनके कारणों और उपचारों को भी व्यक्त किया गया है ; लेकिन गभीरतया विचार करने पर मालूम होगा कि बचपन से ही कुछ मनोवैज्ञानिक उपायों को काम में लाने पर व्यक्तित्व-विकास समुचित रूप से हो सकता है और व्यक्ति किसी प्रकार की मानसिक उलझनों से निर्मुक्त रह सकता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सी० डब्ल्यु० बीयर्स ने सन् १६०८ ई० में एक मानसिक-स्वास्थ्य-विज्ञान-समिति की प्रस्थापना करने की ठानी, जिसके परिणाम स्वरूप इसका आज अत्यधिक बोलबाला है। वर्त्तमान में सभी लोग व्याधियों के निराकरण पर उतने ध्यानावस्थित नहीं हैं, जितना कि सयम और नियंत्रण पर। कहा भी है 'चिकित्सा से संयम लाख बेहतर'। अतएव विभिन्न असामान्यताओं का शिकार होने से मनुष्य वंचित रहे और उसकी वर्तमान उलझने सुलझ जायँ, इसी को ध्यान में रखकर मानसिक-स्वास्थ्य-विज्ञान को जन्म दिया गया है। आज इस दिशा में काफी उन्नति थोड़े ही समय में हो सकी है। इसलिए अपनी भावी संतानों को विभिन्न मानसिक उलझनों से बचाने के लिए मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के मूलतत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान किसे कहते हैं ?

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान (Mental Hygiene) की परिभाषा कई विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दी है। अतएव उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए हम अन्त में उस परिभाषा का उल्लेख करेंगे, जो सर्वांग-सुन्दर है। अगर हम इसकी विभिन्न दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि न्यूयार्क राजकीय स्वास्थ्य-आयोग (Newyork State

Health Commission) ने मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान की परिभाषा देते हुए यह व्यक्त किया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को समृद्धता के साथ व्यतीत करते हुए उसके आनन्द को पूरी तरह उठा सके और विश्व में कुछ कर सके, इसको ध्यान में रखकर जो विज्ञान व्यक्तित्व के समुचित विकास के कार्यों में लगा हुआ है, उसे मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान कहते हैं। यदि हम इस परिभाषा पर विचार करें तो मालूम होगा कि आज इस विज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि उसे ध्यान मे रखते हुए हम इस परिभाषा को उपयुक्त एवं सर्वांग सुन्दर नहीं कह सकते हैं।

लारेंस एफ० शेफर (Laurence F. Shaffer) ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का सम्बन्ध अनुपयुक्त अभियोजन के निरोध (Prevention of inadequate adjustments) और उन प्रक्रियाओं या विधियों से है, जिनके द्वारा असंतुलित व्यक्तियों को संतुलित बनाया जाता है। शेफर की यह परिभाषा दोषरहित नहीं है। इस परिभाषा में भी वे सभी पहलू मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के सन्निहित नहीं हैं, जो वस्तुतः इसके अन्तर्गत हैं। अतएव यह परिभाषा मान्य नहीं। इसी प्रकार हेरी एन० रिवलिन (Harry N. Rivlin) और नार्मन फेण्टन (Norman Fenton) की परिभाषाएँ भी दोषरहित नहीं हैं, अतः उनकी चर्चा करना हम आवश्यक नहीं समझते।

इन साइक्लोपेडिया आफ माडर्न एजुकेशन (Encyclopedia of Modern Education) के अनुसार, मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान, मानव अभियोजन तथा निर्वाहण (Adjustment and achievement) के प्रति वह दृष्टिकोण (Approach) है, जिसका सम्बन्ध संवेगात्मक असंतुलन (Emotional Maladjustment) के निरोध (Prevention) और व्यक्ति को निपुणतापूर्वक कार्य करने के योग्य बनाने से है। इसी प्रकार शिक्षा-शब्दकोष (Dictionary of Education) के अनुसार वह विज्ञान जो मानसिक स्वास्थ्य की समुन्नति (Promotion of Mental Health) तथा मानसिक व्यतिक्रम (Mental Disorder) के निरोध के नियमों तथा उपयोगों (Principles & practices) का अध्ययन करता है, उसे मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान कहते हैं। ये उपर्युक्त दोनों ही परिभाषाएँ, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा, इस विज्ञान के सभी पहलुओं पर प्रकाश नहीं डालतीं, अतएव ग्राह्य नहीं हैं।

डी० बी० क्लाइन (D. B. Klein) के अनुसार इस विज्ञान का सम्बन्ध मानसिक व्याधियों के निरोध और मानसिक स्वास्थ्य की समुन्नति से है। थामस वी० मूर (Thomas V. Moore) के अनुसार जो व्यावहारिक विज्ञान मानव-व्यक्तित्व और उसकी भ्रशताओं (Deviations) का अध्ययन निरोधात्मक (Preventive) दृष्टिकोण से करता है, उसे मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान कहते हैं। ये दोनों परिभाषाएँ भी सर्वांग सुन्दर न होने के कारण मान्य नहीं हैं।

अतएव उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हम इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण तथा समुन्नति (Preservation and improvement) और मानसिक व्याधियों, दोषों तथा सामाजिक, शैक्षिक (Educational) आदि असंतुलनों के निरोध तथा निराकरणों से है। इस परिभाषा पर विचार करने से मालूम होगा कि यह परिभाषा उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से उपयुक्त है; क्योंकि इसमें इस विज्ञान के सभी पहलुओं—निराकरणात्मक (Curative), निरोधात्मक (Preventive) और संरक्षणात्मक (Preser vative) का समन्वय है।

इसके तीनों पहलुओं का उल्लेख करने के पहले यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि मानसिक स्वास्थ्य और सुन्दर व्यक्तित्व (Wholesome Personality) का क्या तात्पर्य है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने जिन निर्णयकों (Criterion) का उल्लेख किया है उनको ध्यान में रखते हुए हम यह कहना उचित समझते हैं कि संतुलन, सम्बद्धता, संतुष्टि, समरसता, अभियोजनशीलता (Adaptability), कार्यक्षमता (Efficiency) आदि सुन्दर व्यक्तित्व के परिचायक हैं। समुचित व्यक्तित्व का व्यक्ति इस परिवर्तनशील सामाजिक एवं भौतिक (Physical) वातावरण में अपने को अभियोजित करने में समर्थ होता है। वह अपने गत अनुभवों से सीखता है और उसका व्यवहार सदा परिस्थिति के अनुकूल होता है। ऐसे व्यक्ति में आशावादिता (Optimism), विश्वास, सहयोग, स्पष्टता, सत्यता, बौद्धिक तथा सवेगात्मक समृद्धता की विशेषताएँ पायी जाती हैं। उसका निर्णय अत्यधिक संतुलित रहता है और उसमें अपने आपको आँकने की योग्यता रहती है। अन्धविश्वास, पूर्वधारणा, पक्षपात आदि दुर्गुणों से वह निर्मुक्त होता है। उसकी दैहिक, मानसिक एव सामाजिक क्रियाओं में सहनियमन (Co-ordination) रहता है। वस्तुतः मानसिक

स्वास्थ्य मन की वह अवस्था है जो व्यक्ति को निम्नतम कर्ष (Strain or Friction) के साथ अधिक-से-अधिक संतुष्टि और कार्य-क्षमता (Efficiency) प्राप्त करने में समर्थशील बनाती है। सुन्दर व्यक्तित्व और मानसिक स्वास्थ्य की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख कर देने के बाद पुनरावृत्ति दोष होते हुए भी हम यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं समझते हैं कि मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का ध्येय मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करने के साथ-साथ मानसिक असामान्यताओं तथा अन्य असंतुलनों को रोकना और उनका निराकरण करना भी है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के उद्देश्य

ऊपर परिभाषा मे इसके विभिन्न ध्येयो का उल्लेख किया जा चुका है; किन्तु पाठकों की सुविधा के लिए हम उनका अलग उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

इसपर गंभीरतया विचार करने पर मालूम होगा कि यह विज्ञान यद्यपि अभी बहुत दिनों का नहीं है, लेकिन लोग इसकी उपयोगिता से इतना अधिक प्रभावित हुए हैं कि इसके ध्येय में काफी विस्तार हुआ है। जहाँ प्रारम्भ में इसका एकमात्र ध्येय मानसिक विकारों को रोकना था वहाँ आज इसके कई पहलू हो गये हैं।

इस विज्ञान का पहला ध्येय, जैसा कि इसकी परिभाषा में ही व्यक्त कर दिया गया है, निराकरणात्मक (Curative) है। अभिप्राय यह है कि यह विज्ञान, शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों, दोषों और असंतुलनों को दूर करने की कोशिश करता है। व्यक्ति मे किसी प्रकार का दोष क्यों न हो; लेकिन यह उसे निर्मूल करने का प्रयास करता है। इसका इस दिशा मे यही ध्येय रहता है कि व्यक्ति में किसी प्रकार की शारीरिक, मानसिक सामाजिक या शैक्षिक कमी न रहे। इसके लिए यह औपचारिक विधियों का आश्रय लेता है। ये विधियाँ मनोवैज्ञानिक भी होती हैं और अन्य प्रकार की भी होती हैं। अतएव इसके इस ध्येय की विशद व्याख्या न कर इस स्थल पर हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि इसका ध्येय इस दिशा में किसी प्रकार की व्यक्तित्व सम्बन्धी उलझन को सुलझाना रहता है जिसके लिए उसे विभिन्न उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। लेकिन, इस स्थल पर हमें यह भूलना नहीं होगा कि मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का यह उद्देश्य अत्यधिक महत्त्वशाली नहीं कहा जा सकता।

इसका दूसरा ध्येय मानसिक व्याधियों और अन्य प्रकार के व्यक्तित्व-

व्यतिक्रमों (Personality disorders) को रोकना है। किसी असामान्यता के उत्पन्न होने पर उसे अच्छा करने में अधिक धन और समय की बर्बादी होती है और कभी-कभी इस कार्य में सफलता भी नहीं मिलती। इन्हीं सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का दूसरा ध्येय मानसिक व्यतिक्रमों तथा अन्य प्रकार के सामाजिक असतुलनों को रोकना है। कारणों को जानकर उन कारणो को निराकरण कर देने से ऐसी असामान्यताओं के आविर्भूत होने की सभावना नहीं रह जाती। इसलिए इस विज्ञान का काम स्वस्थ व्यक्तियों को सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रोत्साहित करना तथा अनुपयुक्त व्यक्तियों को ऐसे कामों से रोकना है। इस तरह, इसका उद्देश्य विभिन्न उचित उपायों से व्यक्तियो को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति से बचाना भी है। इसके अतिरिक्त असामान्यताओं को रोकने के लिए यह विज्ञान उन उचित उपायों को व्यक्त करता है, जिनको अपनाने से मनुष्य अपनी रक्षा किसी प्रकार के अवाछित मानसिक अनुभव से कर सके। निरोध के लिए यह विज्ञान इन्हीं तीन बातों पर जोर देता है।

जहाँ तक इसके संरक्षणात्मक पहलू का सम्बन्ध है इसके लिए यह विज्ञान उन नियमों और विधियों को अपनाता है, जिनसे व्यक्ति अपनी मानसिक स्वस्थता और कार्य-क्षमता को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। इसलिए यह उन रचनात्मक उपायों का आश्रय लेता है, जिससे मनुष्य अपने को ऐसे स्वस्थ एव वाछित वातावरण में रखता है जो कि उसके मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण में सहायक होते हैं।

इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का एक मात्र ध्येय मानसिक व्याधियों को रोकना, उसकी असामान्यताओं को दूर करना और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है। इसके लिए यह मनुष्य को अपनी विभिन्न इच्छाओं को संतृप्त करने के लिए उचित उपायों को व्यक्त करता है और मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास और संतुलन में सहायक बनता है।

विषय-विस्तार (Scope)

आधुनिक काल में इस विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है। यह जीवन के सभी क्षेत्रों को अपने विषय-विस्तार के अन्तर्गत अपनाये हुए है। अगर हम इस पर गंभीरतया विचार करे तो मालूम होगा कि इसका सम्बन्ध सभी प्रकार के व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य के सरक्षण से है। अतएव बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष, धनी, गरीब, स्वस्थ, अस्वस्थ, संतुलित एवं असतुलित सभी प्रकार के व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य का सरक्षण इसके विषय-विस्तार के अन्तर्गत आता है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का जीवन-सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों और सम्बन्धों में व्यवहार किया जाता है। स्त्री-पुरुष, माता-पिता और संतान, विद्यार्थी तथा शिक्षक के सम्बन्ध आदि में इसके नियमों को काम में लाया जाता है। घर के वातावरण की चहारदिवारी के भीतर, पाठशाला, कालेज, ऑफिस, फैक्टरी, दूकान आदि सभी स्थलों पर इसकी उपयोगिता देखने में आती है। थोड़े शब्दों मे हम कह सकते हैं कि जीवन की कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक समस्या ऐसी नहीं है, जिसको सुचारु रूप से संचालित करने के लिए मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के आश्रय की आवश्यकता न पड़ती हो। हाँ, विभिन्न क्षेत्रों में इसके नियमों को व्यवहार में लाने का ढग विभिन्न होता है। आज जीवन का कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक पहलू इसके प्रभाव एवं प्रसाद से वंचित नहीं है। अतएव यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इसके विषय-विस्तार के अन्तर्गत जीवन के सभी वैयक्तिक एवं सामाजिक पहलू आते हैं।

विधियाँ

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के प्रधान दो पहलू हैं—निरोधात्मक (Preventive) तथा निराकरणात्मक (curative)। अतएव इसकी विधियाँ भी कम नहीं हैं। मानसिक व्यतिक्रमों और असंतुलित व्यक्तित्वों को रोकने के लिए उनके कारणों का पता लगाने के लिए जिन-जिन पद्धतियों का व्यवहार किया जाता है उन सबकी परिगणना मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान की विधियों के अन्तर्गत होती है। उन विधियों में, जैसा कि पहले अध्याय में व्यक्त किया जा चुका है, निरीक्षण (Observation), प्रश्नावलि (Questionnaire), मूल्यांकन (Rating), सम्प्राप्ति-परीक्षण (Achievement tests), बुद्धि-परीक्षण (Intelligence tests), शारीरिक परीक्षा (Physical examination), व्यक्तित्व-परीक्षण (Personality-tests), अनौपचारिक विवरण (Informal report), व्यक्ति-इतिहास (Case - history) आदि की पद्धतियाँ प्रमुख हैं। इनके विशद विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं; क्योंकि इनके सम्बन्ध में स्थल विशेष पर प्रकाश डाला जा चुका है।

इसकी निराकरणात्मक विधियों में उन सभी विधियों का उपयोग होता है जिनका उल्लेख हम मनोचिकित्सा के अन्तर्गत कर चुके हैं। अतएव उनकी पुनरावृत्ति भी यहाँ आवश्यक नहीं है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान और परिवार

व्यक्तित्व के समुचित विकास में जितना माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यों का हाथ रहता है उतना किसी भी अग का हाथ नहीं रहता। वस्तुत: बच्चों के प्रारम्भिक जीवन में पाँच-छ: वर्षों तक जो प्रभाव उनके माता-पिता या अन्य सरक्षकों का पड़ता है उसी के फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का निर्माण उचित या अनुचित रूप से होता है। अतएव बच्चों के समुचित व्यक्तित्व-विकास और उनके विभिन्न असंतुलनों को रोकने के लिए माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों को विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का व्यवहार उनके जीवन के प्रारम्भ से ही करना जरूरी है। तभी उनका उचित व्यक्तित्व-विकास होना संभव है और उनके भावी असंतुलनों को भी रोका जा सकता है।

घर के किसी अग से भी बच्चे का व्यक्तित्व प्रभावित होता है, वह माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध हो या उनका सम्बन्ध बच्चे के साथ हो। बच्चे का जो सम्बन्ध माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यों या अपने अन्य भाई-बहनों के साथ रहता है, उससे भी उसका व्यक्तित्व अछूता नहीं रहता। इसलिए बच्चे के व्यक्तित्व-विकास के लिए इन विभिन्न सम्बन्धों को सामान्य बनाना अत्यावश्यक है। यों तो इस दृष्टिकोण से कोई भी परिवार आदर्श या सामान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी परिवारों में कुछ ऐसे अग मौजूद रहते हैं जिनको नियन्त्रित करना परिवारवालों की शक्ति से बाहर होता है। लेकिन, इतना निर्विवादत: प्रमाणित है कि सामान्य घर में ही सामान्य व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक संभव हो वहाँ तक सामान्य व्यक्तित्व-विकास के लिए परिवार का वातावरण सामान्य रखने का प्रयास करना माता पिता तथा अन्य सदस्यो का परम कर्त्तव्य है।

परिवार का वातावरण सामान्य रखने के लिए माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध में समरसता (Harmony) का होना और एक दूसरे को अच्छी तरह समझना निहायत जरूरी है। ऐसा सम्बन्ध रहने से उनमें विश्वास और प्रसन्नता का साम्राज्य रहता है। वे दोनों ही नवजात शिशु के स्वागत के लिए तत्पर रहते हैं। और जब बच्चा उत्पन्न होता और दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगता है तो वे स्वयं बच्चे की विभिन्न समस्याओं को समुचित रूप से सुलझाने के लिए तैयार रहते हैं। वे अपने बच्चों की विभिन्न अभिरुचियों,

समस्याओं एवं आवश्यकताओं पर मनोवैज्ञानिक ढग से विचार करते और उन्हें संतुष्ट रखते हैं। वे परिवार का ऐसा वातावरण बनाते हैं कि अपनी समस्याओं को बच्चे बिना किसी रुकावट के संरक्षकों के सामने रखते हैं। उनका यह विश्वास रहता है कि जहाँ तक संभव है वहाँ तक उनके संरक्षक उनकी समस्याओं और इच्छाओं को संतुष्ट करेंगे। इसलिए सभी माता-पिता को अपने पारिवारिक वातावरण को इसी के समान रखना आवश्यक है। बच्चों की योग्यतानुसार उनकी अभिरुचि और मनोवृत्ति को ध्यान मे रखते हुए घर के कार्मों में हाथ बॅटाने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना भी जरूरी है।

बच्चों के सामान्य व्यक्तित्व - विकास के लिए उनमें आत्मनिर्भरता (Self—reliance), आत्मविश्वास, आत्मनिर्देशन (Self direction) आदि गुणों का होना आवश्यक है। इसलिए मात-पिता को इन गुणों के विकास के लिए क्रमशः उनके उत्तरदायित्व को बढ़ाते जाना अनिवार्य है। अधिकार-वृत्ति का अनुचित प्रकाशन माता-पिता के लिए श्रेयस्कर नहीं, इसलिए बच्चों की समस्याओं को प्रेमभाव के साथ सुलझा देना ही हितकर है। ऐसा करने से उनकी इच्छाएँ कुण्ठित नहीं होतीं और उनका व्यक्तित्व-विकास भी समुचित रूप से होता है। जब उनमे किसी प्रकार की व्यवहार सम्बन्धी उलझन दृष्टिगोचर हो तो उसके लिए उन्हें किसी प्रकार की कटु आलोचना न करते हुए उनका निराकरण कर देना ही समुचित व्यक्तित्व-विकास के लिए श्रेयस्कर है।

अब हम इस दिशा मे विशेष न कह कर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि बच्चों को किसी प्रकार की उलझनों से बचाने और उनके समुचित व्यक्तित्व-विकास में सहायक होने के लिए मात-पिता का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चो के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान दें। इसके लिए उन्हें परिवार का ऐसा वातावरण रखना जरूरी है जिसमे हीन-ग्रन्थि (inferiorty complex) भय, चिन्ता आदि के दोष अंकुरित न हों। उनको अपने आपको सुरक्षित समझना आवश्यक है, इसलिए माता-पिता को उनकी सभी वांछित इच्छाओं और आवश्यकताओं को सतुष्ट करना श्रेयस्कर है, दमन करना नहीं। खेलने और मनोरंजन की उचित व्यवस्था बच्चों के सामाजिक अभियोजन में सहायक होती है, इसलिए उन्हें इसके लिए अवसर देना जरूरी है। उन्हें माता-पिता जो कुछ बतलावें या सिखलावें उसका उदाहरण अपने आचरणों द्वारा दें न कि केवल मौखिक रूप से। उनमें समाजोपयोगी आदतों को डालने के लिए आत्मनियंत्रण और आत्मविश्वास के भावों को विकसित करना चाहिए। बच्चों की क्रियाओं

में अनावश्यक रोड़ा न अटकाकर उन्हें विभिन्न उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए प्रोत्साहित करना विशेष लाभप्रद होता है। बच्चों के प्रत्येक व्यवहार पर ध्यान देना और उनकी किसी प्रकार की उलझन को उचित रूप से सुलझा देना जरूरी है। इन सभी बातों के लिए माता-पिता को बाल-स्वभाव का समुचित ज्ञान और उनके पालन-पोषण के लिए प्रशिक्षित (Trained) होना भी कम आवश्यक नहीं है। अभी तक भारतीय परिवार का ऐसा वातावरण नहीं है; किन्तु आशा की जा सकती है कि राष्ट्रीय सरकार के सहयोग से सभी भारतीय परिवार मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों का व्यवहार करने और बच्चों के व्यक्तित्व-विकास में सहायक बनने में सफल होगा।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान और शिक्षण-संस्थाएँ

परिवार के बाद बच्चो के व्यक्तित्व-विकास पर पाठशालीय वातावरण का अमिट प्रभाव पड़ता है। प्राय: पाँच-छ: वर्ष के होते-होते अधिकांश बच्चों को पाँच-छ: घण्टा नित्य-प्रति पाठशालीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अब तक उनके जो माता-पिता आवश्यक प्रतीत होते थे वे उस वातावरण में आवश्यक प्रतीत नहीं होते। उन्हें एक नये समाज और नये वातावरण का सामना करना पड़ता है। अगर हम बच्चों के इस वातावरण की विभिन्न कठिनाइयों पर विचार करे तो मालूम होगा कि सबसे पहले उन्हें स्कूल के कार्यों को करने में कठिनाई होती है। इसलिए वे वहाँ के कार्यों को उचित रूप से करना नहीं जानते हैं। अत: ऐसी परिस्थिति में सभी शिक्षकों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने विद्यार्थियों को उनकी कठिनाइयों के लिए डाँट-डपट न करे और न तो शारीरिक दण्ड ही दे; बल्कि उनकी कठिनाइयों को समझकर उन्हें दूर करने में सहायक हों। उनकी ऐसी सहायता उस समय तक अपेक्षित है जब तक कि उनमें कार्य करने का उचित ढंग आदत का रूप न धारण कर ले।

दूसरी कठिनाई बच्चों को अन्य साथियों से अभियोजित करने में होती है। इसलिए वे इस नये वातावरण के प्रति अभियोजन करने मे अपने को कई कारणों से असमर्थ पाते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए पहले शिक्षक को बच्चों के प्रति सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करके उनके विश्वास को अपने प्रति जमाना आवश्यक है। इसके बाद उन कठिनाइयों को जानकर उन्हें दूर करना और बच्चों को समाज के प्रति अभियोजन करने में सहायता देना जरूरी है।

शिक्षकों के प्रति भी अभियोजन करने में विद्यार्थियों को कठिनाई होती है। इसलिए उन्हें बच्चों की कठिनाइयो का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उनके कारणों को जानना और उन्हें दूर करना आवश्यक है। इसके लिए बच्चों का विश्वास प्राप्त करना श्रेयस्कर है। इसके बाद उन्हें उनकी कठिनाइयों के स्वरूप और परिणाम को समझाते हुए दूर करना चाहिये।

बालकों को पाठशाला के नियमों को पालन करने में कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। इसलिए उन कठिनाइयों से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए वे स्कूल से भागना, झूठ बोलना और चोरी करना शुरू कर देते हैं। ऐसी कठिनाइयो को दूर करने के लिए भी बच्चों के व्यक्ति-इतिहास को जानना शिक्षकों के लिए जरूरी है। कारणों को जानकर उन्हें उचित रूप से दूर करना ही उनका कर्त्तव्य होता है।

बच्चों की वैयक्तिक समस्याएँ कम महत्त्व की नहीं होतीं। इसलिए शिक्षकों को उनकी उन समस्याओं को सुलझाने का समुचित प्रयत्न करना उनके व्यक्तित्व-विकास में सहायक होता है। जो बच्चे शारीरिक दोषों से ग्रस्त हों उनके साथ शिक्षकों की सहानुभूति और स्नेह आवश्यक है। उनका व्यवहार उनके साथ भी सामान्य बच्चों के समान होना चाहिये ताकि उनमें किसी प्रकार का हीन-भाव उत्पन्न न हो सके।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शिक्षक को बाल-स्वभाव की जानकारी आवश्यक है। उनके पढ़ाये जानेवाले विषय ऐसे हों जो उनकी योग्यता और अभिरुचि के अनुरूप हो। शिक्षक को अपना आदर्श इस प्रकार रखना चाहिये कि बच्चे उनसे अच्छी आदतें सीख सकें। प्रत्येक शिक्षक को सहानुभूति का व्यवहार विद्यार्थियों के साथ करना आवश्यक है और जब कभी उनमें किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न हो जाये तो उसके कारणो को जानकर उसे दूर कर देना चाहिए। पाठशाला का वातावरण इतना सुन्दर होना चाहिए कि बच्चों की सभी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ समुचित रूप से संतुष्ट हो जायँ। यहाँ भी उनके सामाजिक विकास और विभिन्न विशेषताओं के प्रस्फुटन के लिए मनोरंजन एवं खेलों की समुचित व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान और किशोरावस्था

प्राय: बच्चों को सत्रह-अठारह वर्ष तक अपना जीवन माता-पिता के साथ व्यतीत करना पड़ता है; लेकिन इस अवस्था में उन्हें अपने नियन्त्रण से निर्मुक्त कर देना ही मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के दृष्टिकोण से हितकर है। बहुत से माता-पिता अपने भावों की कमजोरी या अज्ञानता के कारण

अपने बच्चों को किसी अश में भी स्वतन्त्र नहीं करना चाहते जिसका परिणाम यह होता है कि उनके बच्चे जीवन भर परमुखापेक्षी बने रहते हैं और वे अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए सदा दूसरों पर निर्भर करते हैं। अतएव अपने बच्चों के समुचित विकास के लिए नियन्त्रण से उन्हें स्वतन्त्र कर देना आवश्यक है। उन्हे आत्म-निर्भर होने के लिए प्रोत्साहित करना और मित्रों से मिलने मे सहायक होना हो माता-पिता के लिए हितकर है। हाँ, आज के युग में इस अवस्था तक बच्चों को अपने अध्ययन के खर्च के लिए माता-पिता पर निर्भर करना पड़ता है। इसलिए जो किशोर बच्चे इस दिशा में पूर्ण स्वतन्त्र न हो सके उनकी उचित सहायता करना श्रेयस्कर है। इस अवस्था में बच्चों को शिक्षाओं द्वारा विवश करने के प्रयास का सफल होना संभव नही है। इसलिए इस परिस्थिति में माता-पिता का दृष्टि-कोण अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक उदार होना चाहिए।

इस उम्र मे दूसरो महत्वपूर्ण समस्या बालकों और बालिकाओं के समक्ष लैंगिकता की होती है। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने बच्चो में इसके प्रति धनात्मक मनोवृत्ति (Positive attitude) उत्पन्न करें। माता लड़कियों को और पिता लड़को को मित्र की तरह लैंगिकता का वैज्ञानिक ज्ञान समुचित रूप से दे। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का रहस्य रखना या नाक-भौं सिकोड़ना बच्चों मे इसके प्रति भ्रामक दृष्टिकोण उत्पन्न करना है, जिसके चलते वे जीवन का समुचित आनन्द लेने में असमर्थ हो जाते हैं। हस्तमैथुन की समस्या भी इस समय प्रधान रहती है, इसलिए इसका वैज्ञानिक ज्ञान देना आवश्यक हो जाता है। अभिप्राय यह है कि बच्चों की समुचित जानकारी और व्यक्तित्व-विकास के लिए माता-पिता तथा शिक्षक को उचित लैंगिक शिक्षा देने की व्यवस्था करना श्रेयस्कर होता है। वस्तुत: जीवन में इसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इस सम्बन्ध मे माताओं द्वारा लड़कियों को गर्भाधान, गर्भ-निरोध आदि की समुचित जानकारी करा देना श्रेयस्कर है; क्योंकि इसके अभाव में उनका लैंगिक जीवन व्यवस्थित नहीं हो सकता।

इस समय की एक समस्या व्यावसायिक भी है जो जीवन के लिए कम महत्त्व की नहीं होती। इसलिए माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों को अपने बच्चों की योग्यता, अभिरुचि और अवस्था के अनुसार उन्हें किसी व्यवसाय (Profession) में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। कितने माता-पिता अपनी संतान की अभिरुचि और योग्यता को जाने बिना उन्हे किसी व्यवसाय विशेष के लिए बाध्य करते हैं। इसका परिणाम

यह होता है कि ऐसे लोग अपने व्यवसाय के प्रति कभी संतुलित न होने के कारण जीवन भर असफल बने रह जाते हैं। लेखक कितने ऐसे विद्यार्थियों और व्यक्तियों को जानता है जिनके माता-पिता डाक्टर या इञ्जीनियर बनाने के लिए उन्हें विज्ञान पढ़ने के लिए विवश किये, किंतु उन्होंने उसको तिलांजलि देकर जीवन के दूसरे क्षेत्र में अच्छा किया। एक व्यक्ति को वैद्य होने के लिए परिवारवालों ने उसकी इच्छा के प्रतिकूल विवश किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह व्यक्ति उसमें सफल नहीं हो सका और आज वह घर से दूकान, दूकान से घर और घर से खेती के कामों में लगकर अपने जीवन को असफल बना लिया है। इसलिए किसी भी व्यवसाय का मार्गोपदेशन करते समय माता-पिता को संतान की योग्यता, अभिरुचि आदि का पूरा ज्ञान रखना आवश्यक है, तभी व्यावसायिक मार्गोपदेशन उचित हो सकता है। इसके लिए विभिन्न परीक्षणों का आश्रय लेना अपेक्षित है।

किशोरावस्था मे बालकों के सामने आचार-व्यवहार और धार्मिकता की समस्याएँ भी उपस्थित हो जाती हैं। इसलिए इन समस्याओं का समाधान जहाँ तक संभव हो वहाँ तक माता-पिता को उचित रूप और अपने आचरण के द्वारा करना चाहिये। निराधार शिक्षाओं से किसी प्रकार का हित नहीं होता।

यों तो इस अवस्था तक मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का व्यवहार करना समुचित व्यक्तित्व-विकास के लिए अत्यावश्यक होता है; लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि युवा और वृद्धावस्था में इन नियमों की अवहेलना कर देनी चाहिये। वस्तुतः यदि इस विज्ञान के नियमों को व्यावहारिक रूप दिया जाय तो बहुत ही शीघ्र हम अधिकांश व्यक्तित्व-उलझनों को रोकने में समर्थ हो जायँ और आज की विकट समस्या पुनः राष्ट्र के सामने उपस्थित न हो। हर्ष का विषय है कि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर हमारे नेताओं ने इस दिशा मे कदम उठाया है, देखें सफलता कहाँ तक हाथ लगती है।